मराठी-हिन्दी कृष्ण-काव्य
का
तुलनात्मक अध्ययन

मराठी - हिन्दी



अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन

(११वीं से १६वीं शताब्दी तक)

© डॉ० र० श० केलकर

प्रकाशक अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
२/१६, अन्सारी रोड दरियागंज दिल्ली ६

■

मूल्य बीस रुपये

■

प्रथम संस्करण १९६६

■

आवरण-चित्र नरेन्द्र श्रीवास्तव

■

मुद्रक रामस्वरूप शर्मा
राष्ट्रभाषा प्रेस कूचा चेलान
दरियागंज दिल्ली ६

■

पुस्तक-बन्ध विक्रम बुक बाइंडिंग हाउस दिल्ली

आमुख

लगभग सात वर्ष पूर्व हिन्दी और मराठी के कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन करने का विचार मेरे मन में आया था और मैंने उसकी अनुसंधान की रूप रेखा बनाकर आचार्य विनयमोहन शर्मा के पास भेज दी थी। उन दिनों वे जयदेव के 'गीत-गोविन्द' का हिन्दी पद्यानुवाद कर रहे थे। रूप-रेखा को पसन्द करते हुए उन्होंने लिखा था कि यह अध्ययन अत्यन्त उपयोगी होगा। किन्तु नियमों की कठोरता के कारण नागपुर विश्वविद्यालय से शोध करने की अनुमति प्रदान करने में उन्हें अपनी असमर्थता प्रकट करनी पड़ी। तत्पश्चात् इस सम्बन्ध में मैंने डॉ० नगेन्द्र से चर्चा की। उन्होंने भी सहृदयतापूर्वक इस विषय के महत्व का प्रतिपादन किया। डॉ० इन्द्रनाथ मदान तथा स्वर्गीय डॉ० कैलासनाथ भटनागर ने अपना अमूल्य समय देकर जो मुझे उपकृत किया है उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। भटनागरजी तो मेरे निर्देशक ही थे उनके संस्कृत-साहित्य-ज्ञान से मुझे विशेष लाभ हुआ है। मैं नहीं जानता कि इन सब विद्वानों के प्रति अपनी पुनीत भावनाएँ किन शब्दों में व्यक्त करूँ।

यहाँ संक्षेप में यह भी निवेदन कर दूँ कि अपने शोध-प्रबन्ध में मैंने उन मौलिक या विशिष्ट स्थापनाओं पर भी पर्याप्त विचार किया है जो कृष्ण-भक्ति की परम्परा को ठीक से समझने से सम्बद्ध हैं और इसीलिए विष्णु की कल्पना का विकास और कृष्ण की कल्पना से उसका बहुत समय तक भिन्नत्व तथा बाद में दोनों का एकीकरण आदि मूलभूत प्रश्नों का ऐतिह्य-सामाजिक विवेचन मैंने कई आधारों पर किया है।

अधिकतर विद्वान् भक्ति-आन्दोलन का आरम्भ दक्षिण के आळ्वारों से मानते हैं। परन्तु मैंने यह दिखाया है कि कृष्ण-भक्ति की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है।

जो लोग भारतीय भक्ति-भावना पर इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रभाव की बात करते हैं, उनके मतों का खंडन भी मैंने प्रस्तुत प्रबन्ध में किया है। प्रो० रा० द० रानडे जैसे विख्यात दार्शनिक ने भी 'मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र' नामक अपने ग्रन्थ में कहा है कि भक्ति के बीज उपनिषदों में उपलब्ध हैं।

महाराष्ट्र और हिन्दी-भाषी प्रदेशों (ब्रज, अवध, राजस्थान आदि) की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के भेद और अभेद का मैंने साहित्यिक मूल्यों की दृष्टि से आवश्यक विवेचन किया है। देश में जहाँ प्रादेशिक भक्तिधाराएँ भावात्मक एकता में बाँध रही हैं, वहाँ समूचे राष्ट्र क

एकात्मबोध भी धीरे-धीरे बढ़ रहा है। इस दिशा में मेरा यह अनुसन्धान एक नम्र प्रयास मात्र है।

कृष्ण-चरित्र अपने-आपमें एक आजीवन अध्ययन का विषय है। अपने सीमित समय और साधनों में मुझसे जो कुछ बन पड़ा है, वह मैं राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा में अर्पित कर रहा हूँ। सुधी और विज्ञ-जन मेरी त्रुटियों की ओर ध्यान न देकर साहित्य-समीक्षा-क्षेत्र में मेरी इस धृष्टता को क्षमा करेंगे।

नई दिल्ली,
१ जून १९६१

—र. श. केलकर

विषय-सूची

मराठी-हिन्दी कृष्ण-काव्य का
तुलनात्मक अध्ययन

अध्याय १

उपोद्घात

(अ) विष्णु की कल्पना का इतिहास तथा विकास

कृष्ण भक्ति-काव्य एवं उसमें प्रवाहित भक्ति-धारा की परम्परा के सूक्ष्म अध्ययन के लिए वैदिक साहित्य में कृष्ण का स्वरूप, विष्णु से उनका सम्बन्ध, विष्णु की विशेषताएँ, वैदिक देवता-विधान में विष्णु का स्थान तथा भक्ति की प्राचीनता आदि प्रश्नों पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। अतः यहाँ सबसे पहले इन्हीं मूलभूत सूत्रों को एकत्रित करने का प्रयास किया गया है।

१ वेदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु की सूर्य से समानता

आर्यों के सभी समूहों के आदिग्रन्थों में इन्द्र, मित्र, वरुण आदि का नैसर्गिक शक्तियों के देवताओं के रूप में वर्णन है। ऋग्वेद के पूर्व आर्यों की किसी भी शाखा में विष्णु का उल्लेख नहीं मिलता। ऋग्वेद भी अपने आज के उपलब्ध रूप में, किसी एक व्यक्ति अथवा काल की रचना नहीं है, अपितु काल-क्रम में अनेक कण्ठों द्वारा परम्परा से प्रवाहित ग्रन्थ साहित्य है। विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद के कुछ मन्त्र तो आर्यों के पंचनद में आकर बस जाने के भी पहले के हैं।[१] अतः आर्य जन-समूह के देव-विधान तथा उसमें विष्णु की कल्पना के बीज खोजने के लिए ऋग्वेद-काल से पूर्व की आर्य संस्कृति पर विचार करना नितान्त आवश्यक है।

कुछ वर्ष पूर्व ईंटों पर खुदे हुए कुछ ऐसे प्राचीन लेख प्राप्त हुए हैं जिनसे मैसोपोटामिया में दजला (टिग्रिस) तथा फरात (यूफ्रेटिस) नदियों के संगम के पास ईसा से छः सात हजार वर्ष पूर्व बसने वाली सुमेरियन जाति का पता लगा है।[२] प्राचीनता के कारण ये लेख 'खाल्डियन वेद' कहलाते हैं। ऋग्वेद एवं खाल्डियन संस्कृति के लोगों का परस्पर सम्बन्ध सिद्ध होता है। खाल्डियन ग्रन्थ तथा वेद की कथाओं में विश्व का मूल जलमय स्वरूप, उसका स्थान तथा उसमें उत्पन्न होनेवाली वृत्ति, इन्द्र अथवा मार्दुक आदि प्रकाश देवताओं द्वारा उस पर प्राप्त की हुई विजय आदि में साम्य है। इसी प्रकार विश्व रचना के सम्बन्ध में भी दोनों राष्ट्रों की कल्पनाएँ बहुत-कुछ एक-सी हैं। खाल्डियन पौराणिक ग्रन्थों में भी सप्त-स्वर्ग तथा सप्त-पाताल की कल्पनाएँ हैं। मार्दुक ने तियामत

---

१ ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासोफी, दासगुप्त, भाग १, पृ० १०।

२ महाराष्ट्र ज्ञान-कोश, प्रस्तावना खण्ड, उत्तर भाग, पहला प्रकरण, पृ० ११६-२०।

नामक जिस सर्प का वध किया था उसके सात सिरों का उल्लेख है। वेद में भी इन्द्र को सप्तहन् कहा गया है तथा जिस जलनिधि के द्वार इन्द्र तथा अग्नि ने अपने पराक्रम से खोले थे, वह जलनिधि सप्त-कुण्ड था। पारसियन ग्रंथों में ऋग्वेद की भाँति इन्द्र का उल्लेख मिलता है जो मानव-जाति का रक्षक एवं दैवी शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।[1]

मध्य एशिया में हिटाइट लोगों के राजा तथा मितनी के राजा के बीच सन्धि-सम्बन्धी ईसा से पन्द्रह सौ वर्ष पहले के शिलालेख में मितनी के राजा को इन्द्र मित्रावरुण तथा नासत्य का ऋक्-संहिताओं में प्रयुक्त नामों से आवाहन करता व्यक्त किया गया है।[2] इसी प्रकार ईरानियों के आवेस्ता ग्रन्थ में भी मिथ्र (मित्र) अहुर्यमन् (अर्यमन) हओम (सोम) वेरेथ्रघ्न वायु उष नर्योसंघ (नृसिंह) आदि देवों का उल्लेख है तथा सर्वोच्च देव अथवा स्वर्गिक निर्झरों के अधिपति को 'बग' या 'भग' की ही संज्ञा दी गई है।

उपर्युक्त आधारों से स्पष्ट है कि आर्यों के आदि-समूहों में इन्द्र मित्रावरुण वायु आदि देव-कल्पनाओं में साम्य होते हुए भी विष्णु की कल्पना का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

ऋग्वेद में विष्णु-स्तुतिपरक मन्त्र केवल चार हैं। इनके अतिरिक्त केवल एक अन्य मन्त्र में इन्द्र और विष्णु की एक साथ स्तुति की गई है। समस्त वेद में विष्णु का केवल एक सौ बार नामोल्लेख है जबकि इन्द्र अग्नि उषा बृहस्पति हिरण्यगर्भ वरुण अश्विनीकुमार विश्वकर्मा आदि के अनेक स्तुतिपरक श्लोक हैं। यही देवता समय-समय पर विभिन्न मन्त्रों में सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं।[3] ऋग्वेद के स्तुतिपरक मन्त्र-विस्तार को देखते हुए विष्णु एक निम्न कोटि के देवता के रूप में प्रस्तुत किये गए हैं तथा वेदकालीन देवताओं की चतुर्थ श्रेणी में आते हैं।[4]

नैसर्गिक शक्तियों पर आधारित ऋग्वैदिक देव-विधान के सन्दर्भ में देवों में विष्णु का उल्लेख सूक्ष्म विवेचन एवं गवेषणा की अपेक्षा रखता है। वैदिक संहिताओं में वर्णित विष्णु की विशेषताएँ मूलरूप में सूर्य से सम्बद्ध हैं जैसा कि आगे सिद्ध किया गया है। अतः विष्णु और सूर्य का स्वरूप-साम्य देखते हुए बहुत सम्भव है कि ब्राह्मण-काल में विष्णु के सर्वोच्च देव के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर विष्णु विषयक मन्त्र जो संख्या में केवल चार हैं बाद में विष्णु उपासक मंत्र-द्रष्टाओं द्वारा ऋग्वेद में जोड़ दिए गए हों। इस विषय में नलिनविलोचन शर्मा ने दो सम्भावनाओं का उल्लेख किया है।[5]

पहली सम्भावना यह है कि आर्यों के पहले से भारत में रहनेवाली जातियों में विष्णु महिमावान् देवता रहे होंगे और उन्हें आर्य अपने देवताओं के बीच स्थान देने के लिए तैयार न थे। दूसरी सम्भावना है कि विष्णु आर्य जाति की ही साधारण श्रेणी की टुकड़ियों के देवता रहे होंगे जिन्हें अभिजात मंत्रद्रष्टा ऋषि नापसन्द करते थे—शायद इसलिए कि इनकी दृष्टि में विष्णु के आरम्भिक रूप में अवांछनीय तत्त्व मिश्रित थे। इन्द्र और विष्णु की मित्रता

१ महाराष्ट्र ज्ञान-कोश, प्रस्तावना खण्ड, उत्तर भाग अर्था प्रकरण पृ० ११६ १२।
२ वही। पृ० १११ ११६।
३ इंडियन फिलासोफी, डा० राधाकृष्णन् खण्ड १।
४ मास्टर रिलिजियन्स आंतरतम, पृ० ३३, ई० आर ई०—(विष्णु) वैदिक माइथॉलोजी—मैक्डोनेल, पृ० ३७।
५ त्रैमासिक 'साहित्य', पटना, जुलाई, १९५७, पृ० १–८

इन्हीं दो वर्णों की सन्धि का सूचक हो सकती है।[1] भक्तिविलोचन शर्मा की सम्भावनाओं का आधार 'शिपिविष्ट' सम्बन्धी यास्क का कथन 'कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवति' है। वे इसी का उदात्त रूप परवर्ती कृष्ण की कल्पना में देखते हैं। यास्क का समय ई० पू० ५०० वर्ष माना गया है। यह काल पौराणिक साहित्य का युग था जो वैदिक साहित्य के काफ़ी बाद में आता है। इस युग में कृष्ण के विषय में कल्पनाएं निश्चित हो चुकी थीं तथा कृष्ण और विष्णु का ऐक्य भी स्थापित हो चुका था। ऐसी दशा में यास्क का मत सम्पूर्ण रूप से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। ऋग्वेद में एक स्थान पर विष्णु को 'शिपिविष्ट' कहा गया है।[2] दुर्गाचार्य ने इस शब्द का अर्थ प्रातःकालीन कोमल किरणों से समाविष्ट किया है[3] जिसमें बाल-सूर्य अभिलक्षित होता है तथा संकेत सूर्योदय-पूर्व रात्रि-कर्मों की ओर हो सकता है। अतः यह युक्तिवाद ठीक नहीं जान पड़ता। कृष्ण की काम प्रधान पौराणिक कल्पना का बीज वैदिक विष्णु में खोजने का यह एक प्रयत्न है।

वैदिक संहिताओं में विष्णु के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना उनका तीन विक्रमों का ग्रहण करना अर्थात् तीन डगों को रखना है। विष्णु ने अपने तीन डगों के भीतर समस्त संसार को माप लिया है।[4] इस सम्बन्ध में ऋग्वेद का मन्त्र—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् समूढमस्य पांसुरे ॥—१।२२।१७

नितान्त प्रसिद्ध है तथा प्रत्येक संहिता में उपलब्ध होता है।[5]

वेद-वर्णित विष्णु की दूसरी विशेषता उनका 'परमपद' है जो सबसे ऊँचा बताया गया है जहाँ से वह नीचे के लोक के ऊपर चमकता रहता है।[6] ऋग्वेद का कहना है कि विष्णु के परम पद को विद्वान् लोग सदा आकाश में स्थित सूर्य के समान देखते हैं।[7]

तीसरी विशेषता है विष्णु के 'परमपद' में मधु के निर्झर का अस्तित्व, जहाँ देवता आमोद मनाया करते हैं।[8] और चौथी विशेषता है इन्द्र-वृत्र-युद्ध में इन्द्र की सहायता।[9]

उपर्युक्त विशेषताओं में से पहली तीन विशेषताएँ सूर्य से सम्बन्धित हैं जैसा कि ब्राह्मण एवं आरण्यकों द्वारा प्रकट होता है। चौथी विशेषता यानी इन्द्र-वृत्र-युद्ध में इन्द्र की विष्णु के द्वारा सहायता एक ऐसी घटना है जिसका न तो स्पष्ट रूप से सूर्य से सम्बन्ध है और न ही वह विष्णु के स्वतन्त्र देवता होने को प्रमाणित करती है। क्योंकि ऋग्वेद काल में इन्द्र प्राकृतिक तत्त्व के देवता थे तथा इन्द्र एक पद भी था। वैदिक साहित्य में अनेक इन्द्रों का उल्लेख है। पहले बताया जा चुका है कि ऋग्वेद के मन्त्र किसी एक काल की रचना नहीं हैं। अतः विष्णु की प्राचीनता एवं ऋग्वेद में उनके विषय में उल्लेखों की प्रामाणिकता की जाँच

---

१ त्रैमासिक 'साहित्य' पटना, जुलाई, १९५७ पृ० १-८।
२ ऋग्वेद, ७।१००।५।
३ निरुक्त, बम्बई संस्करण, १९१८।
४ ऋग्वेद १।१५४।१।
५ भागवत सम्प्रदाय—बलदेव उपाध्याय, पृ० ७८।
६ ऋग्वेद १।१५४।६।
७ ऋग्वेद, १।२२।२०।
८ ऋग्वेद, १।१५४।५।
९ ऋग्वेद, १।१११ ८, ६६।

करने के लिए यह देखना अत्यन्त आवश्यक है कि किस इन्द्र-विशेष ने वृत्र को मारा था तथा जिसकी सहायता विष्णु ने की थी वह कौन-सा इन्द्र था।

यदि ऋग्वेद में प्रयुक्त विष्णु-सम्बन्धी मन्त्र मूल मान लिये जाएँ तो ऋग्वेद में वर्णित विष्णु से वे सूर्य के ही अन्यतम प्रकार सिद्ध होते हैं। यास्क के शब्दों में रश्मियों से व्याप्त होने के कारण अथवा रश्मियों से समस्त संसार को व्याप्त करने के कारण ही सूर्य 'विष्णु' के नाम से अभिहित होता है।[1] विष्णु-पुराण का कथन है 'तमेव सृष्ट्वा तदनु प्राविशत्'। यहाँ विश् धातु की व्याख्या व्याप्त होने के अर्थ में है। मैकडोनल्ड कैगी ब्रूंदर ओटो आदि 'विश्' का अर्थ सक्रिय होना बताते हैं। अत विष्णु व्यापक रूप है तथा सूर्य के द्योतक है।[2] शाकपूणि के विचार में विष्णु के तीन पदों का सम्बन्ध पृथ्वी अंतरिक्ष तथा आकाश से है तथा उनका क्रम नीचे से ऊपर की ओर है। और्णवाभ के मतानुसार तीन डगों का सम्बन्ध सूर्य के उदय मध्य और अस्त स्थान से है।[3] विल्सन रोट मैक्समूलर तथा कैगी का विश्वास है कि विष्णु के विचार अथवा तीन डगों का सम्बन्ध सूर्य के उदय मध्याह्न और अस्त से है। बलदेव उपाध्याय का कहना है कि और्णवाभ की व्याख्या वैदिक मंत्र के विरुद्ध होने के कारण आदरास्पद नहीं है, क्योंकि विष्णु का तृतीय पद यानी परम-पद आकाश में ऊँचे पर स्थित है तथा जिस प्रकार आकाश में रश्मियों को चारों ओर फैलानेवाला सूर्य चमकता है उसी प्रकार यह परम-पद भी ऊँचाई पर से चमकता है। अत ऋग्वेद का मंत्र और्णवाभ की कल्पना की पुष्टि न करके शाकपूणि के मत की ही पुष्टि करता है।[4]

वस्तुत शाकपूणि तथा और्णवाभ की व्याख्याओं में शाब्दिक भेद होते हुए भी तात्पर्य एक ही है। तथाकथित मतभेद का विषय है तृतीय पद। और्णवाभ के मतानुसार तीसरा क्रम सूर्य का अस्त होना है। इस कार्य में क्रमश दो अवस्थाएँ निहित हैं—अस्ताचल पर सूर्य का पहुँचना तथा अस्त हो जाना। दूसरी अवस्था में सूर्य अदृश्यमान है। अत मनुष्य की नजरों से परे है—यही सूर्य का धाम है। शाकपूणि के कथनानुसार भी तीसरा क्रम आकाश में उच्च स्थान पर है जो साधारण मनुष्य नहीं देख सकता तथा जहाँ देवता आमोद मनाया करते हैं। सूर्य सृष्टि का पोषक होने के कारण वही प्राणिमात्र को जीवनी-शक्ति प्रदान करता है। वही अमृत का आधार है, अत परम-पद एवं मधु के निर्झर की वैदिक कल्पना सूर्य के धाम को ही आभासित करती है जो रहस्य भी है और परम भी है।

शाकपूणि और और्णवाभ दोनों का मत ब्राह्मण युग की मान्यताओं पर आधारित है जब विष्णु पूर्ण श्रेष्ठत्व प्राप्त कर चुके थे। अत विष्णु के तीन डगों का सम्बन्ध पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश से जोड़कर शाकपूणि ने अपने युग की मान्यताओं के अनुसार विष्णु के श्रेष्ठत्व को प्रतिपादित किया है जबकि और्णवाभ का मत यथार्थ पर आधारित है, अत अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है। ब्राह्मण युग में यजमान द्वारा तीन पदों को वेदी पर रख कर 'विष्णु-क्रम' का अनुकरण भी मूल रूप में सूर्य से ही सम्बन्धित विधि है। पौराणिक

१ यास्क निरुक्त, १२।१९ ।
२ वैदिक माइथोलोजी : मैकडोनेल, पृ० ३९ ।
३ निरुक्त, १२।२ ।
४ भागवत सम्प्रदाय: बलदेव उपाध्याय पृ० ७७-७८ ।

साहित्य में बलि के पाताल-गमन की धारणा से भी इसी मत की पुष्टि होती है क्योंकि पाताल का सम्बन्ध सूर्य के ही तीसरे क्रम से हो सकता है।

ऋग्वेद में जहाँ विष्णु के परमपद का उल्लेख है वहीं उन्हें 'गिरिष्ठा' (भयंकर पर्वत पर रहने वाला) तथा 'कुचर' (स्वतन्त्रता से विचरण करने वाला) कहा गया है।[1] अपसे मंत्र में इन्द्र तथा विष्णु दोनों को एक साथ अप्रधर्षणीय बताया गया है जो पर्वत के शिखर पर हस्यमान हैं। मैक्डोनेल इसका अर्थ मेघ शिखरों पर आलोकित सूर्य से करता है जो युक्ति-संगत जान पड़ता है।[2] क्योंकि अप्रधर्षणीय तत्त्व प्रकाश है, सत्य है अतः वही अन्धकार का नाश करने वाला तथा सर्वसाक्षी है।

वेद में विष्णु का सम्बन्ध गायों के साथ भी दिखायी पड़ता है।[3] विष्णु अजेय गोप हैं। दीर्घतमा औचथ्य ऋषि की अनुभूति है कि विष्णु के परमपद या उच्चतम लोक में 'भूरिशृंगा' (अनेक शृंगोंवाली) तथा अयास (नितान्त चंचल) गायों का आवास है।[4] 'भूरि शृंगा अयास गाएँ सूर्य की चंचल किरणें हैं जो व्योम में नाना दिशाओं को उद्भासित करती रहती हैं तथा अनेक रंग बदलती रहती हैं। मैक्डोनेल ने 'गाय' के स्थान पर मेघ का अर्थ किया है तथा अनेक शृंगवाली तथा चंचलता गुण धर्मों की संगति मेघों से जोड़ी है।[5] दोनों दशाओं में मूलार्थ सूर्य की ही ओर संकेत करता है। वेद में स्वाहस्'[6] 'विभूत द्युम्न'[7] आदि उल्लेखों से भी विष्णु प्रकाश और तेज के देवता सिद्ध होते हैं जो सूर्य के गुण धर्म हैं।

अपने तीन डगों से समस्त संसार को व्याप्त करने के कारण ही विष्णु ऋग्वेद में 'उरुगाय' (विस्तीर्ण गतिवाला) तथा उरुक्रम' (विस्तीर्ण प्रक्षेपवाला) हैं। वे एव या 'एवयावन' (गति से परिपूर्ण) अमीमि भारयन्, ऋतस्य गर्भ वेधा (नियमों के पालक) और पूर्व्य और नव्य दोनों हैं। उपर्युक्त चारों बातें सूर्य की विशेषताएँ हैं। ऋग्वेद में विष्णु घूमते हुए चक्र की भाँति अपने नब्बे अश्वों के साथ जिनके चार-चार नाम हैं, चलने के लिए प्रस्तुत हैं। मैक्डोनेल के विचार में नब्बे अश्व दिनों के तथा चार नाम ऋतुओं के प्रतीक हैं तथा श्लोक का अर्थ तीन सौ साठ दिनों के सौर वर्ष से है।[8]

विष्णु इन्द्र के मित्र हैं तथा सहायक भी हैं। इन्द्र विद्युत् का प्रतीक है तथा विष्णु सूर्य हैं अतः दोनों का निकट सम्बन्ध है। दीर्घतमा औचथ्य ऋषि के मतानुसार विष्णु ने पृथ्वी के ऊपर विद्यमान लोकों का निर्माण किया ऊर्ध्व लोक में विद्यमान आकाश को दृढ़ बनाया तथा तीन डगों से समस्त संसार को माप लिया[9]। त्रिपाद का उल्लेख पहले हो चुका

---

१ ऋग्वेद, १, १५४।
२. वैदिक माइथॉलोजी, मैक्डोनेल, पृ० ३६।
३ ऋग्वेद, १।१६४।२८।
४ ऋग्वेद, १।१५४।६।
५ ऋग्वेद, १।१५४।६।
६ ऋग्वेद, १।१५५।५।
७ ऋग्वेद, १।१५६।१।
८ वैदिक माइथॉलोजी : मैक्डोनेल, पृ० ३८।
९ भारतीय सम्पदा: वासुदेव उपाध्याय पृ० ८८।

है। उपर्युक्त दोनों कार्यों का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से सूर्य से है। सूर्य जीवनदाता होने के कारण निर्माता है और नियम का पालक होने के कारण नियन्ता भी। सूर्य का यह नियम त्रिपाद की कल्पना में ही अन्तर्निहित है।

वैदिक विष्णु जो आरम्भ में पूर्णरूपेण सौर एवं निम्न कोटि के देवता हैं ब्राह्मण युग में आकर महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। ब्राह्मण-युग कर्म प्रधान युग था और कर्म का प्रमुख अंग था यज्ञ। यज्ञ से बढ़कर पावन तथा श्रेयस्कर कर्म और हो ही क्या सकता था? अतः स्वाभाविक है कि इस युग में आकर विष्णु यज्ञ-रूप बन जाते हैं 'यज्ञो वै विष्णुः'। ऐतरेय ब्राह्मण के आरम्भ में ही अग्नि 'अवम' तथा विष्णु 'परम' देवता स्वीकार किए गए हैं, 'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः तदन्तरेण सर्वा अन्य देवता।'[1] निश्चय ही विष्णु, जो सूर्य रूप हैं अग्नि से श्रेष्ठ माने जाते हैं क्योंकि कालान्तर में अग्नि को जलाना अधिक सरल हो जाता है। अग्नि सरलता से प्राप्य तत्त्व सिद्ध होता है तथा उसका आवास भी मंत्रद्रष्टा सूर्य में देखने लगते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में विष्णु के वामन रूप का उल्लेख है।[2] वामन के त्रिपाद की कथानुसार विष्णु सर्वश्रेष्ठ देवता न होने पर भी वे अपूर्व दैवी शक्ति से युक्त हैं। इस कथा में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं—विष्णु का वामन-रूप तथा असुरों का वामन-रूपी विष्णु के बराबर इन्द्र को भूमि देना स्वीकार करना। दूसरी बात स्पष्ट है। विष्णु के लघुकाय होने के कारण ही असुर भूमि देना स्वीकार कर लेते हैं पर वामन-रूप विचारणीय है। मैक्डोनेल का मत है कि असुरों में उत्पन्न होने वाले सन्देह को मिटाने के लिए विष्णु के वामन-रूप की कल्पना की गई होगी।[3] मैक्डोनेल का तर्क युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता क्योंकि वामन रूप की कल्पना के बीज ऋग्वेद में अन्तर्निहित हैं[4] जहाँ विष्णु के इन्द्र के साथ लम्बे डगों से पृथ्वी मापने एवं उसे मनुष्य के रहने योग्य बनाने का उल्लेख है। वामन-रूप लघु का द्योतक है और सूर्य भी आकार में लघु दिखाई देता है। लघु होते हुए भी वह समस्त पृथ्वी को व्याप्त करता है। इस प्रकार वामन-रूप की कल्पना सूर्य पर ही आधारित प्रतीत होती है। वामन-रूप की यही कल्पना पौराणिक काल में वामनावतार को जन्म देती है।

ऐतरेय ब्राह्मण[5] में विष्णु का उल्लेख देवताओं के द्वारपाल के रूप में मिलता है। निश्चय ही देवलोक मनुष्य के लिए अगम्य लोक है—आकाश में ऊँचे पर स्थित है जहाँ देवता वास करते हैं। सूर्य स्वयं है, नैसर्गिक शक्तियों में इसमान होने के कारण कल्पनातीत भी नहीं है, पर साथ ही एक रहस्य भी है। 'द्वारपाल' शब्द इसी 'अप्राप्य' तथा इसीमें निहित रहस्यात्मकता को व्यंजित करता है।

शतपथ ब्राह्मण[6] में विष्णु यज्ञ-सम्बन्धी विग्रह में विजयी होकर देवताओं में महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं तथा उन्हीं के धनुष से उनका सिर कटकर सूर्य बन जाता है।

१ ऐतरेय ब्राह्मण १।१।
२. शतपथ ब्राह्मण, १, २, ५।
३ वैदिक माइथोलोजी : मैक्डोनेल, पृ० ४१।
४ ऋग्वेद, ७,१००,४,१,१५५,६,११।
५ ऐतरेय ब्राह्मण १,३०।
६ श० ब्रा०, १४,१,१।

गीतोक्ति[1] के अनुसार विष्णु आदित्यों में सर्वश्रेष्ठ हैं। महाभारत में विष्णु को बारह आदित्यों में सबसे छोटा पर सबसे गुणवान एवं तेजस्वी कहा गया है।[2]

वैदिक साहित्य में विष्णु प्राकृतिक शक्ति प्रकाश और तेज के देवता थे। इसीलिए वैदिक साहित्य में उनके आयुधों का उल्लेख नहीं है जबकि इन्द्र एवं मरुत के आयुध वज्र और चक्र का उल्लेख मिलता है।[3] ब्राह्मण युग में देवता गौण हो गए और यज्ञ को प्रधानता मिली। पौराणिक काल में आकर विष्णु सर्वशक्तिमान् एवं सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इस सर्वशक्तिमान् परमेश्वरत्व का बीज शतपथ ब्राह्मण में मिलता है जहाँ प्रजापति को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[4] इस कल्पना का विकास आरण्यक काल में होता है जबकि यज्ञ का महत्त्व घट जाता है और तत्त्व विषयक दार्शनिक कल्पनाओं को प्राधान्य मिलने लगता है। उदाहरण के लिए, बृहद् आरण्यक में अश्वमेध के स्थान पर उषा को अश्व का शरीर, सूर्य को आँख, वायु को प्राणशक्ति, अग्नि को मुख तथा वर्षा को आत्मा आदि मानकर चिन्तन करने के लिए कहा गया है।[5] उपनिषदों में उल्लिखित सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के अनेक रूप ग्रहण करने की कल्पना ही विष्णु को सर्वशक्तिमान् परमेश्वर पद पर आसीन करती है। श्रेष्ठत्व और रूप धारण की स्थापना होते ही विष्णु को मनुष्य से अधिक शक्तिमान् दिखाने के लिए ही उनके रूप और अनेक भुजाओं की कल्पना अंकुरित हुई[6] और विष्णु का चतुर्भुज रूप वंदनीय माना जाने लगा। दाण्डेकर का अनुमान है कि व्यक्त होने के लिए पुरुष और प्रकृति का योग होने के कारण ही (पुरुष की दो और प्रकृति की दो) चार भुजाओं का उदय हुआ होगा, क्योंकि आज भी मराठी में विवाह के लिए चतुर्भुज होने की कहावत चली आ रही है।[7] चार भुजाओं ने आयुधों को जन्म दिया। टी० राव के मतानुसार आयुध प्रतीक रूप में हैं।[8]

विष्णु के चार आयुधों (शंख चक्र गदा पद्म) में सबसे महत्त्वपूर्ण आयुध चक्र है। चक्र सूर्य का प्रतीक है तथा किसी-न-किसी रूप में वैदिक जैन एवं बौद्ध धर्मों में अक्षुण्ण

चक्रधारित्व

बना हुआ है। आरम्भिक वैदिक साहित्य में चक्र सूर्य का द्योतक था तथा आकाश में सूर्य के नियमित भ्रमण का प्रतीक था। ऋग्वेद में सूर्य रूपी अक्षय तथा अबाध्य स्वर्णिम चक्र को चलाने वाले देवता की स्तुति की गई है—ऐसे चक्र की जिस पर समस्त सृष्टि अवलम्बित है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी सूर्य-मन्त्र पढ़ते समय रथ के पहियों को घुमाने का उल्लेख मिलता है। चक्र उन चौदह रत्नों में से पहला रत्न है जो अमृत-मन्थन के समय समुद्र से निकले थे। बौद्ध एवं जैन धर्मों में भी 'धर्म-चक्र' एवं 'सिद्ध चक्र' की स्थापना है।[9] अहिर्बुध्न्य संहिता में चक्र परब्रह्म के सृष्टि

१ गीता, अध्याय दसवां, श्लोक २१।
२ महाभारत, १ ६६ १५, कलकत्ता संस्करण, १९०८, बंगवासी प्रेस।
३ फोकलोर माइथॉलोजी एण्ड लीजेंड (फंक)।
४ वैदिक माइथॉलोजी : मैक्डोनेल, पृ० ४।
५ इंडियन फिलासोफी : दासगुप्त पृ० ३४।
६ ई० आर० ई०, पृ० १६८।
७ एनल्स ऑफ बी० ओ० आर० आई०, पृ० ३०७।
८ ऐलीमेण्ट्स ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृ० ११२।
९ फोकलोर माइथॉलोजी एण्ड लीजेंड : फंक एण्ड वैग्नल्स, पृ० ११७२।

रचना विषयक आदि-विचार के रूप में वर्णित है। परब्रह्म के इसी अविनाशी विचार को सुदर्शन कहा गया है ।[1]

विष्णु का वाहन अग्नि के समान तेजस्वी गरुड़ है जिसे ऋग्वेद में 'गरुत्मान' तथा 'सुपर्ण' कहा गया । वाहन के विचार में कौस्तुभ मणि भी सूर्य ही है ।[2]

इन्द्र-वृत्र-युद्ध में इन्द्र की सहायता करने के कारण और मूल रूप में सौर देवता होने के कारण पौराणिक काल में विष्णु दुष्टों का दलन तथा सृष्टि का पोषण तथा रक्षण करने वाले प्रतिपादित हुए । यज्ञ-युग में वे सोम के प्रतिनिधि थे । पूषन और विश्व-रक्षक सोम पोषक तत्त्व है । पोषक तत्त्व मात्रा में स्वल्प होते हुए भी व्यापक है । उसमें विकास है, पुष्टता है । इसी सिद्धान्त का प्रतिपाद्य है सूर्य जो देखने में लघुकाय होते हुए भी बृहत्तरकाय है । वामन-रूप का आध्यात्मिक अर्थ है 'वामनो वै विष्णुरास' ।

विष्णु रूप में निहित सूर्य का आभास हमें विष्णु विषयक कल्पना के क्रमिक विकास में ही नहीं अपितु प्राचीन मुद्राओं में भी स्पष्ट रूप से मिलता है । ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की ईरानी मुद्राओं पर अष्ट-दल कमल का चिह्न मिलता है । पौराणिक शिल्प-कला में भी द्वादश-दल कमल अंकित है । जे० एन० बनर्जी का विश्वास है कि प्राचीन मुद्राओं पर अंकित कमल सूर्य का प्रतीक है ।[3] ब्राह्मण-युग में अग्नि-वेदी पर स्वर्णिम चक्र रखने की प्रथा थी । यही चक्र सूर्य का द्योतक होता था ।[4] आज भी ब्राह्मणों के धार्मिक-कर्मों में सूर्य का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

पृथ्वी को त्रिपाद से व्याप्त करना तथा वामनावतार

पहले बताया जा चुका है कि ऋग्वेद के 'इदं विष्णु विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' के अनुसार विष्णु ने अपने तीन डगों में समस्त संसार को नाप लिया था तथा उनका तृतीय पद परमपद था । यही घटना ब्राह्मण-युग में विकसित होने लगती है तथा परवर्ती काल में पूर्ण विकास को प्राप्त होती है । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार लोक के विभाजन के समय देव और असुरों में विग्रह प्रारम्भ हो जाता है । असुर इन्द्र को वामन-रूप विष्णु के बराबर भूमि देना स्वीकार कर लेते हैं । वामन भूमि पर लेट जाते हैं तथा अपनी काया बढ़ाकर समस्त पृथ्वी को ढँक लेते हैं । इस प्रकार देवों को समस्त पृथ्वी मिल जाती है ।[5] मैक्डोनेल के मतानुसार ब्राह्मण-वर्णित यह कथा महाभारत और पुराणों में वामनावतार की कथा का ही एक क्रम है ।[6] इस प्रकार मनुष्य के लिए दो बार पृथ्वी मापने वाले तथा उसे मनुष्य के निवास एवं अस्तित्व के योग्य बनाने वाले ऋग्वेद वर्णित आदित्य-रूप विष्णु पौराणिक काल में वामनावतार बन जाते हैं । वामन बटु है, ब्राह्मण रूप है अतः प्रचलित धर्म के अनुसार वह दान का पात्र है तथा इन्द्र का नियोजक

१ एलिमेण्ट्स ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी : बी० एन० पृ० १८८ ।
२ वैदिक माइथोलोजी—पृ० ३९ ।
३ दि डेवलपमेण्ट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी : जे० एन० बनर्जी पृ० १६२ ।
४ शतपथ ब्राह्मण ७।४।१।१ ।
५ वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स : भांडारकर, पृ० ३१ ।
६ वैदिक माइथोलोजी : मैक्डोनेल, पृ० ४१ ।

भी है। इस दृष्टि से यह ब्राह्मणों के श्रेष्ठत्व का प्रतिपादक है। इसी तात्त्विक आधार पर बलि की कथा का विस्तार एवं वामनावतार से उसका सम्बन्ध दर्शनीय है।

बलि की कथा

बलि की कथा के मुख्य सूत्र पुराणों में बिखरे पड़े हैं। वामन-पुराण[1] में बलि के पूछने पर प्रह्लाद उसे धर्म से राज्य करने के लिए कहता है। ब्रह्म-पुराण में बलि-राज्य में ब्राह्मण तथा भूमि के कष्ट-निवारण के लिए विष्णु वामन अवतार लेने का ब्राह्मणों को आश्वासन देते हैं।[2] वामन-पुराण में बलि हरि की निन्दा करता है तथा बदले में प्रह्लाद से शाप पाकर उसकी शरण आता है। प्रह्लाद उसे विष्णु की शरण में जाने के लिए कहता है।[3] पद्म-पुराण में बलि के दान देने तथा पाताल जाने का वर्णन है।[4]

बलि की इस कथा में क्रमशः चार प्रतिपादित तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं—विष्णु की सर्वशक्तिमान् देवता के रूप में स्थापना तथा अवतार धारण से लोक की विपत्ति का निवारण, ब्राह्मणों का ईश्वर रूप में स्वीकार तथा दान की महिमा, देव और असुरों का द्वन्द्व तथा देवताओं में अग्रगण्य विष्णु के रूप में देवताओं की विजय तथा विष्णु की अवतार-कल्पना।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वेद तथा ब्राह्मण-युग में प्रतिपादित कर्मकाण्ड के इष्टदेव के रूप में विष्णु की कल्पना कालान्तर में क्रमशः परमेश्वर के रूप में विकसित होने लगती है तथा उसका कृष्ण से कोई सम्बन्ध नहीं है।

२ पश्चिमी भारत में वासुदेव नामक एक प्राचीन देवता

वेदकालीन कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया-स्वरूप आरण्यक काल की चिन्तन-परक विचार धारा आर्यों की सकाम उपासना को निष्काम उपासना की ओर प्रवृत्त करती है तथा परवर्ती सात्वत अथवा भागवत धर्म में कृपालु भगवान् का अधिष्ठान करती है। इस धर्म के मुख्य उपास्य देव वासुदेव-कृष्ण कहे जाते हैं और वे ही उसके मूल प्रवर्तक भी माने जाते हैं।[5]

वैदिक साहित्य में वासुदेव का कोई उल्लेख नहीं मिलता। तैत्तिरीय आरण्यक में एक स्थान पर अवश्य यह नाम आता है पर वह वासुदेव विष्णु तथा नारायण की एकता सम्पन्न हो चुकने के बाद का उल्लेख है।[6] अतः वासुदेव की प्राचीनता पर प्रकाश डालने में वह सहायक नहीं होता।

वासुदेव की प्राचीनता पर प्रकाश डालने वाले मुख्यतः दो आधार उपलब्ध हैं। एक प्राचीन ग्रन्थ और दूसरे शिलालेख। महाभारत में 'वासुदेव' शब्द की विशद व्याख्या मिलती है। समस्त प्राणियों को अपनी माया तथा अलौकिक ज्योति द्वारा व्याप्त करने तथा सूर्य के रूप में रहकर अपनी किरणों से समस्त संसार को ढँक लेने एवं सभी प्राणियों का अधिवास

---

१ वामन पुराण, ७४।
२ ब्रह्म पुराण, ७१।
३ वामन पुराण ७७।
४ पद्म पुराण, पाताल खण्ड, ११।
५ वैष्णव धर्म पृ ११।
६ वैष्णव धर्म, पृ० ११।

होने के कारण ही वासुदेव 'वासुदेव' कहलाते हैं ।[१] महाभारत में एक और उल्लेख भी है जहाँ भीष्म-पर्व में ब्रह्मा परमेश्वर की स्तुति करते हुए कहते हैं कि आप ही ने पहले संकर्षण के रूप में अवतरित होकर अपने पुत्र प्रद्युम्न को उत्पन्न किया और प्रद्युम्न से विष्णु-रूपी अनिरुद्ध की उत्पत्ति हुई जिससे मेरी रचना हुई थी । उसी के अनुसार अब फिर एक बार आप मनुष्य योनि में जन्म धारण कीजिए ।[२] ध्यान देने योग्य बात है कि प्रार्थना में परमेश्वर को वासुदेव कहकर सम्बोधित किया गया है । इसी पर्व के ६६वें अध्याय के आरम्भ में कहा गया है कि प्रजापति ने परमेश्वर से विनय की कि आप चलकर मानव योनि में वासुदेव का अवतार धारण कीजिये और परमेश्वर के स्थान पर फिर सम्पूर्ण अध्याय में वासुदेव नाम का ही प्रयोग किया गया है ।[३] उपर्युक्त आधारों से स्पष्ट है कि जिस समय महाभारत के उल्लिखित श्लोकों की रचना हुई थी उसके पहले वासुदेव केवल अस्तित्व में ही नहीं थे, वरन् परमेश्वर पद के उच्चासन पर भी आसीन हो चुके थे । उस समय तक वे विष्णु स्वरूप भी नहीं थे, अपितु क्रम में विष्णु उनसे नीचे तीसरे सिद्ध होते हैं । डा० भांडारकर भी वासुदेव को भक्ति-सम्प्रदाय का प्रवर्तक तथा संकर्षण प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध के साथ किसी प्राचीन युग में वर्तमान मानते हैं ।[४] महाभारत में वासुदेव शब्द का अत्यधिक प्रयोग भी सिद्ध करता है कि महाभारत के रचना-काल में परमेश्वर का पर्याय विष्णु न होकर वासुदेव थे । समस्त गीता में जो दो बार 'विष्णु' शब्द का प्रयोग हुआ है वह भी 'तेज-पुंज' के अर्थ में हुआ है । गीता वचन 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' वासुदेव का वृष्णि-कुल में उत्पन्न होना प्रमाणित करता है । बौद्धों के घट जातक में भी वसुदेव को मथुरा के उत्तर में रहने वाले किसी राजवंश की सन्तति[५] माना गया है । इसी पंथ के 'निद्देस' नामक पालि ग्रन्थ के आधार पर ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी में वासुदेव तथा बलदेव के साम्प्रदायिक अनुयायियों का पता चलता है ।[६]

प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि के एक सूत्र से वासुदेव का किसी सम्प्रदाय-विशेष का उपास्यदेव होना भी विदित होता है ।[७] पाणिनि का समर्थन करते हुए पातंजलि ने भी वासुदेव को वृष्णिनाम माना है ।[८] डॉ० भांडारकर पाणिनि को ईसा-पूर्व सातवीं शताब्दी से भी पहले का मानते हैं पर रायचौधरी के मतानुसार उसका काल ईसा-पूर्व पाँचवीं और छठी शताब्दी के बीच पहुँचता है ।[९]

शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर 'वार्ष्णेय' शब्द प्रयुक्त हुआ है जिससे वृष्णिवंश की प्राचीनता का अनुमान किया जा सकता है ।[१०] महाभारत के आदि-पर्व में एक स्थल पर आया है कि वासुदेव ने एक बार वृष्णि-कुलवासियों को सम्बोधित करते हुए कहा था कि

१ अ. हि. ऑफ द वैष्णव सेक्ट : राय चौधरी, पृ. १४ ।
२ वैष्णव धर्म : परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ११ ।
३ वही, पृ. १४ ।
४ वै. शै. : भाण्डारकर, पृ. १३-१४ ।
५ रायचौधरी अ. हि. ऑफ द० वै० पृ० ५४ ।
६ वै. शै. भांडारकर, पृ. ३४ ।
७ अ. हि. ऑफ वै. : राय चौधरी पृ. १०४ ।
८ वही पृ. ३४ ।
९ वही पृ. ३८, ५४, ९९, १० ।
१० वैष्णव धर्म, पृ० ५४ ।

पार्थ सात्वतों को सात्वती नहीं समझते और उसी पर्व में एक अन्य स्थल पर स्वयं वासुदेव को भी 'सात्वत' कहा गया है। इस प्रकार 'वार्ष्णेय' एवं 'सात्वत' वस्तुतः एक ही जान पड़ते हैं। विष्णु-पुराण का यदुकुल-वर्णन तथा यदु के पुत्र क्रोष्टु के वंश का विवरण इस बात की पुष्टि करता है। श्रीमद्भागवत से पता चलता है कि सात्वत लोग परमेश्वर को भगवान् वासुदेव कहा करते थे। इसी पुराण में वासुदेव को 'सात्वतर्षभ' कहा गया है।[1] डॉ० भाण्डारकर के मतानुसार 'सात्वत' शब्द वृष्णिवंशीय के एक अन्य नाम की भाँति व्यवहृत होता था।[2] शान्ति-पर्व के अन्तर्गत 'सात्वत विधि' को सूर्य द्वारा प्रवर्तित कहा गया है जिसकी पुष्टि गीता के सोलहवें अध्याय के तीसरे श्लोक से भी होती है।[3] गीता में कहा गया है कि यह शाश्वत योग भगवान् ने पहले विवस्वान को बताया था।[4] विवस्वान ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को बताया तथा यह परम्परा से राज ऋषियों को विदित था। अनादि काल से चले आने वाले इस योग धर्म के गुण-वर्णनार्थ ही सम्भवतः इस योग-धर्म का नाम सात्वत पड़ा हो। विष्णु-पुराण में यदु के क्रोष्टु-कुल की चर्चा है और कहा गया है कि इस कुल में अंश नामक पुरुष हुए थे जिनके पुत्र का नाम सत्वत था और सत्वत से ही लोग सात्वत कहे गये।[5] इस प्रकार सात्वत धर्म के प्रवर्तक सत्वत सिद्ध होते हैं और इसका एकमात्र प्रमाण विष्णु-पुराण है। प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं कि विष्णु-पुराण काफी परवर्ती संकलन है। अतः बहुत सम्भव है कि सात्वत शब्द 'सत्व' से बना हो। स्पष्ट ही धर्माचार के क्षेत्र में 'सत्व' परमतत्त्व एवं सात्विकता का पर्याय है। परमतत्त्व केवल है ब्रह्म। अतः उसके स्वरूप का चिन्तन करने वाले कर्मयोग में रत सात्विक लोग ही 'सात्वत' कहलाये हों। गीता के उपर्युक्त श्लोक को देखते हुए यह भी सम्भव है कि यह महान् धर्म अत्यन्त प्राचीन होने के कारण ऋग्वेद-काल में अस्तित्व में रहा हो। ऊपर कहा गया है कि ऋग्वेद की रचना किसी एक व्यक्ति अथवा एक काल की नहीं है, अपितु उसके कई मन्त्र आर्यों के पंचनद में आकर बस जाने के पहले के हैं। यह मान लेने पर भी कि वैदिक युग का धर्म प्रधानतः यज्ञ था ऋग्वेद में परब्रह्म की कल्पना स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। अतः क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि 'सात्वत' शब्द मूलतः 'शाश्वत' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो तथा आदि आर्य अपने आदि स्थान में जलवायु की सुविधानुसार शायद शाश्वत शब्द का उच्चार ही 'सात्वत' करते हों। महाभारत के अन्तर्गत नारायणीयोपाख्यान में जो भागवत धर्म का निरूपण है उसके अनुसार यह धर्म सर्वप्रथम श्वेत-द्वीप में नारायण द्वारा नारद को प्राप्त हुआ था।[6] इस कथन में सुदूर अतीत काल में इस धर्म के विद्यमान होने की ओर संकेत है। महाभारत में भीष्म कहते हैं 'अनन्त एवं दयालु परमेश्वर को हमें वासुदेव के ही रूप में जानना चाहिए तथा चातुर्वर्ण्य को चाहिए कि उसकी पूजा भक्तिभाव से करे।'[7] इस कथन

---

१. वैष्णव धर्म, पृ० २६।
२. वै० शै०, पृ० ११।
३. द एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ४३३।
४. गीता, ४।१।
५. वैष्णव धर्म, पृ० २६।
६. गीता रहस्य : बा० गं० तिलक, पृ० ५५५।
७. महाभारत, ६६वाँ अध्याय।

से भी दो महत्वपूर्ण बातें ध्वनित होती हैं। एक यह कि उक्त श्लोक के रचना-काल के पूर्व चातुर्वर्ण्य अस्तित्व में था जिसका समर्थन गीता के एक अन्य श्लोक से भी होता है।[1] तथा दूसरी बात यह कि चातुर्वर्ण्य के विरोध में सबको ईश्वर भक्ति का अधिकार। इस प्रकार इस विचारधारा का अस्तित्व जहाँ एक ओर ब्राह्मण-युग के विरोध में प्रतीत होता है वहाँ दूसरी ओर उसका इस युग में वर्तमान होना भी स्पष्ट रूप से विदित होता है। 'पाञ्चरात्र' शब्द की भाँति 'सात्वत' शब्द भी शतपथ ब्राह्मण में आया है और यह ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों में अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। इस तरह दोनों शब्द एक से प्राचीन हैं।[2]

उपयुक्त आधारों से प्रकट होता है कि यह सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन था उसके उपास्य-देव वासुदेव-कृष्ण थे और इस धर्म का प्रादुर्भाव पश्चिमी भारत में हुआ था।[3]

कई विद्वान् वासुदेव-कृष्ण को दो भिन्न विभूतियाँ मानते हैं। उनके मतानुसार वासुदेव और कृष्ण का एकीकरण नारायण और विष्णु की ही भाँति किसी परवर्ती काल में हुआ है।[4] तथापि भागवत धर्म के सम्बन्ध में बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे जाने पर भी वासुदेव और कृष्ण के एकीकरण के कारण के बारे में प्रसिद्ध एवं धुरन्धर विद्वान् मौन हैं। वास्तव में यह प्रश्न सूक्ष्म विवेचन की अपेक्षा रखता है। यद्यपि पर्याप्त प्राचीन साधनों के अभाव में इस भेदाभेद का स्पष्टीकरण असम्भव-सा लगता है तथापि उपलब्ध साधनों से ही इस प्रश्न का समाधान हो जाता है। वास्तव में वासुदेव और कृष्ण दो भिन्न विभूतियाँ नहीं हैं। पाणिनि पातंजलि महाभारत एवं प्राचीन शिलालेखों के आधार पर ही विद्वानों ने प्राचीन काल में वासुदेव का अस्तित्व एवं उनका भागवत धर्म से सम्बन्ध माना है और साथ ही वासुदेव-कृष्ण को भागवत धर्म का प्रवर्तक भी मान लिया है। वासुदेव शब्द की विशद व्याख्या महाभारत में मिलती है।[5] उसी ग्रन्थ में वासुदेव को वसुदेव का पुत्र भी कहा गया है।[6] पातंजलि के महाभाष्य में वासुदेव द्वारा कंस के मारे जाने का उल्लेख है। पातंजलि ने वासुदेव और कृष्ण दोनों नामों का दो भिन्न स्थलों पर कृष्ण के लिए प्रयोग किया है[7] जिससे विदित होता है कि पातंजलि से पूर्व कृष्ण और वासुदेव दो भिन्न व्यक्ति नहीं समझे जाते थे। स्वयं पाणिनि ने भी वासुदेव का उल्लेख किया है तथा यह सभी विद्वान् मानते हैं कि उसके समय में महाभारत की कथा अस्तित्व में थी।[8] स्पष्ट ही पाणिनि से काफी पहले वासुदेव अस्तित्व में रह चुके थे। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि वासुदेव वास्तव में कृष्ण ही थे पर वसुदेव के पुत्र होने के कारण तथा ब्राह्मण युग के बहुदेववाद के विरुद्ध क्षत्रियों द्वारा एकेश्वरवाद की स्थापना के महत्व के दिग्दर्शनार्थ ही महाभारत काल से पूर्व (जो समन्वयवादी काल था) उनका वासुदेव नाम ही अधिक प्रचार

१ गीता ४।१३।
२. वैष्णव धर्म पृ २५।
३ हि० भार० इ० पृ० ५४०।
४ वैष्णव धर्म पृ २५।
५. महाभारत, ५।७०।३ १२।३४१।४१।
६. महाभारत १।२४।७।
७ श्रीकृष्ण—हिज लाइफ एण्ड टीचिंग्स : बी० एन० राय, भूमिका।
८ वही।

में आया। कृष्ण वासुदेव का गोत्र-वाचक नाम रहा होगा तथा शायद उनके वर्ण द्योतक के रूप में भी प्रयुक्त हुआ हो। महाभारत काल में वर्ण की किंचित् विभिन्नता के कारण केवल कृष्ण को ही नहीं, वरन् अर्जुन एवं द्रौपदी को भी कृष्ण एवं कृष्णा कहा गया है[1]। डॉ० केतकर के मतानुसार आर्य भारत में एक जत्थे में नहीं आए थे अपितु उनके कई दल समय समय पर आए थे।[2] सामान्य आर्यों से वर्ण-भिन्नता के कारण यदि वासुदेव कृष्ण को किसी आरम्भिक दल का वंशज मान लिया जाए तो तत्कालीन परिस्थितियों से कोई विसंगति नहीं होती। स्पष्ट ही कंस, शिशुपाल, जरासन्ध, कालयवन आदि जाय जो वासुदेव कृष्ण के समकालीन थे आर्य-संस्कृति से सम्बन्धित नहीं जान पड़ते वरन् किसी आर्येतर सभ्यता के अनुयायी जान पड़ते हैं। दूसरी सम्भावना यह भी हो सकती है कि संकर्षण शब्द जो वासुदेव के साथ शिलालेखों में अंकित मिलता है कालान्तर में अपभ्रंश होकर श्रीकृष्ण बन गया हो। वासुदेव की व्यक्तिवाचक संज्ञा और 'कृष्ण' का गोत्र नाम होना बौद्धों के 'घट जातक' और 'महा उम्मग्ग जातक' से भी सिद्ध होता है।[3] उपर्युक्त आधारों से सिद्ध होता है कि महाभारत काल के पूर्व से ही कृष्ण और वासुदेव एक ही व्यक्ति थे तथा वासुदेव और कृष्ण को दो भिन्न व्यक्ति समझना उचित नहीं है।

विद्वानों ने गीता को महाभारत के प्राचीन अंशों में से माना है। गीता में कहीं भी वासुदेव को नारायण नहीं कहा गया है। स्पष्ट ही गीता के समन्वयवादी दृष्टिकोण एवं परमतत्त्व के अस्तित्व की स्थापना को देखते हुए गीता की रचना नारायणीय धर्म के पूर्व की सिद्ध होती है। महाभारत एवं पुराणों के आधार पर वासुदेव-कृष्ण एक अत्यन्त प्राचीन व्यक्ति सिद्ध होते हैं पर जिस आधार की कसौटी पर वर्तमान समस्या को कसा गया है उस आधार की प्राचीनता पर भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है। इतना सभी मानते हैं कि महाभारत अपने उपलब्ध रूप में ईसा-पूर्व सातवीं शताब्दी से लेकर ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की रचना है। कुछ विद्वान् महाभारत का रचनाकाल ई० पू० दसवीं शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक मानते हैं।[4] पर इतना निश्चित है कि पाणिनि-काल में लोगों को महाभारत की मूल कथा भली प्रकार विदित थी। इस मूल कथा में कितने ही क्षेपक क्यों न जुड़ गए हों यह तो मानना ही पड़ता है कि कृष्ण, अर्जुन और महाभारत युद्ध पाणिनि से सम्भवतः कई शताब्दियों पहले हो चुके थे क्योंकि इस युद्ध की समस्त कथा कृष्ण और अर्जुन पर ही आधारित है तथा इनमें से एक को भी हटा देने पर कथा का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। इस प्रकार वासुदेव कृष्ण का ऐतिहासिक अस्तित्व ईसा पूर्व कम-से-कम हजार-बारह सौ वर्ष सिद्ध होता है। अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचना अनुचित न होगा कि प्राचीन काल में कृष्ण का वासुदेव नाम अधिक प्रचार में था तथा परवर्ती काल में गोपाल कृष्ण की स्थापना के साथ-साथ कृष्ण नाम ने प्रसिद्धि प्राप्त की तथा इस पंथ के स्वतन्त्र अस्तित्व के कारण कृष्ण के वासुदेव से भिन्न होने की भ्रामक विचारधाराएँ अंकुरित होने लगीं।

---

1. श्रीकृष्ण—दि लार्ड ऑफ योगिन्स : श्री एम० पाल, भूमिका।
2. महाराष्ट्र धर्म-भेद : अहल्याबाई बाबर, भाग १, ७० भाग, पृ० ६९।
3. वै० शै० : भांडारकर, पृ० १४-१५।
4. हिस्टारिसिटी ऑफ कृष्ण दि विराज : सुनीति कपूर (टाइम्स ऑफ इंडिया, २१-६ १९५७)।

इस मान्यता का समर्थन प्राचीन शिलालेखों से भी होता है। ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी के बेसनगर शिलालेख में ग्रीक राजा ऐंटियाल्किडस के राजदूत भागवत धर्मावलम्बी हेलियोडोरस द्वारा देवदेव वासुदेव के नाम पर गरुड़ध्वज निर्माण करने का उल्लेख है।[1] उक्त शिलालेख की बहुत-सी बातें घोर आंगिरस के उपदेश एवं गीता के सिद्धान्तों से बहुत-कुछ मिलती-जुलती हैं।[2]

बेसनगर का शिलालेख

इस शिलालेख से क्रमशः तीन मुख्य बातें दृष्टिगोचर होती हैं। ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में देवदेव वासुदेव की मान्यता एवं भागवत धर्म का प्रचार, वासुदेव और संकर्षण का उल्लेख, कृष्ण के उल्लेख का अभाव एवं गरुड़ध्वज में गरुड़ की मान्यता जो परम्परागत रूप में वैदिक एवं ब्राह्मण-युग के विष्णु से सम्बन्धित है। स्पष्ट ही इस शिलालेख के समय वासुदेव और कृष्ण का ऐक्य स्थापित हो चुका था।[3] मेगास्थनीज एवं एरियन नामक यूनानियों के लेखों से जो चन्द्रगुप्त के काल में ईसा से चार सौ वर्ष पूर्व विद्यमान थे वासुदेव एवं कृष्ण तथा मथुरा के अस्तित्व का पता चलता है।[4] पाणिनि के भी एक सूत्र से विदित होता है कि वासुदेव व्यक्ति किसी क्षत्रिय वंश का था।[5] वासुदेव के विषय में पाणिनि द्वारा किया हुआ उल्लेख समस्या पर अधिक प्रकाश नहीं डालता अतः यह अनुमान करना कि पाणिनि के समय में वासुदेव एक अत्यन्त प्राचीन व्यक्ति थे अनुचित न होगा। डॉक्टर भाण्डारकर की मान्यता है कि पाणिनि के समय में भागवत-धर्म प्रचार में था।[6] ऐसी दशा में वासुदेव यदि पाणिनि के सौ-दो सौ वर्ष पूर्व विद्यमान रहे होते तो पाणिनि को उन्हें किसी क्षत्रिय वंश का मानने की आवश्यकता न पड़ती। इतना ही नहीं पाणिनि का उल्लेख अधिक स्पष्ट एवं निश्चयात्मक होता। अतः यह अनुमान करना कि वासुदेव पाणिनि से कई शताब्दियों पूर्व विद्यमान थे सर्वथा अनुचित न होगा। इस मत का समर्थन छान्दोग्य उपनिषद् में देवकी-पुत्र के उल्लेख से एवं जैन धर्म के आधार पर भी होता है।[7] अतः कृष्ण का समय ईसा-पूर्व नवीं शताब्दी के उपरान्त का नहीं प्रतीत होता।[8] लगभग यही काल मैक्समूलर ने ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना का काल माना है। इस प्रकार वासुदेव एवं भागवत अथवा सात्वत धर्म ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रियास्वरूप उसका समकालीन प्रतीत होता है तथा इस तरह इस धर्म के विकास के कारणों पर भी शुभ प्रकाश पड़ता है।

रायचौधरी के मतानुसार सात्वत एवं वृष्णि लोग ब्राह्मण-काल में विद्यमान थे तथा प्रारम्भिक वैदिक-काल में कम-से-कम उनका एक प्रसिद्ध धर्म प्रवर्तक अस्तित्व में था तथा शुङ्ग शिलालेख के आधार पर सात्वतों का आर्य होना भी विदित होता है।[9] इस आधार

---

१. वै शै भांडारकर, पृ० ३—४।
२. अ हि वै रायचौधरी, पृ ८९—९०।
३. मेमॉयर्स ऑफ द आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, नं० ५, पृष्ठ १।
४. अ हि वै, पृ २२—२६।
५. वैष्णव धर्म परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ११।
६. भांडारकर पृ ३—४।
७. वैष्णव धर्म परशुराम चतुर्वेदी, पृ ११।
८. अ हि आफ वै. रायचौधरी, पृ १५।
९. वही पृ० ७५।

पर भी वासुदेव कृष्ण की प्राचीनता का समर्थन होता है तथा जरासंध कंस, शिशुपाल, कालयवन आदि चरित्रों का आर्येतर संस्कृति के अनुगामी एवं शिव का उपासक होना सिद्ध होता है। महाराष्ट्र ज्ञानकोष में डॉ० केतकर द्वारा भारत में आर्यों के पूर्व तथा उनके समकालीन दैत्य संस्कृति के अस्तित्व की ओर किया हुआ संकेत तथा महाभारत युद्ध से लगभग ५ सौ वर्ष पूर्व दाशरथी युद्ध की सम्भावना इस बात का समर्थन करती है[1] तथा वैदिक-काल में प्रचलित मार्गों को ओर भी विस्तृत अतीत की ओर ले जाती है।

जिस काल में विष्णु ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ देवता के रूप में पूज्य थे उसी काल में कुछ क्षत्रिय जातियों की स्वतन्त्र धार्मिक विचारधारा भागवत अथवा सात्वत सम्प्रदाय के रूप में ब्राह्मणेतर देश में यानी भारत के उत्तरी-पश्चिमी प्रदेश में जहाँ ब्राह्मणों का अधिक प्रभाव न था अस्तित्व में थी तथा यह धर्म जो आरम्भ में उन जातियों तक ही सीमित था क्रमशः दक्षिण की ओर फैल रहा था।[2]

सैद्धान्तिक दृष्टि से इन दोनों विचारधाराओं में काफी अन्तर था। ब्राह्मण धर्म में अनेक देवताओं को मान्यता मिली थी। धर्म का प्रमुख अंग था यज्ञ और विष्णु यज्ञ-रूप होने के कारण अन्य सभी देवताओं से श्रेष्ठ माने जाते थे। देवता को प्रसन्न करने के लिए बलि देने की प्रथा थी तथा लक्ष्य था भौतिक समृद्धि प्राप्त करने के साथ-साथ विष्णु के परमपद की प्राप्ति। दूसरे शब्दों में ब्राह्मण-युग की साधना वैदिक परमात्मोपासना के ही अनुरूप थी तथा योग या ध्यान योग[3] जो परमात्मा-विषयक श्रद्धा पर आधारित था। सात्वत अथवा भागवत धर्म ने, जो स्वयं भी कर्मकाण्ड पर आधारित था इस धार्मिक विचारधारा में सुधार करते हुए बहुदेववाद की जगह एकेश्वरवाद की स्थापना की तथा साधना पक्ष में अनन्य भक्ति को प्रमुख स्थान दिया। इस धर्म के अन्तर्गत परमात्मोपासना की जगह आत्मोपासना को महत्व दिया गया तथा ध्यान एवं श्रद्धा का स्थान ज्ञान एवं भक्ति ने ले लिया। हिंसा की जगह अहिंसा को मान्यता मिली। इस तरह देखा जाए तो वासुदेव द्वारा वैदिक युग के कर्मकाण्ड एवं प्राचीन सांख्य तथा योग का समन्वय भागवत धर्म में हुआ। भागवत अथवा सात्वत धर्म के प्रवर्तक वासुदेव एक महापुरुष थे। उनके व्यक्तित्व एवं उपदेश से प्रभावित होकर ही उनके अनुयायी सात्वतों ने उनके जीवन काल में ही उन्हें अपना उपास्य देव स्वीकार किया तथा परवर्ती काल में वे पूर्ण परब्रह्म स्वरूप समझे जाने लगे। महाभारत में हमें उनके यही दोनों रूप दिखाई पड़ते हैं।[4]

ये दोनों प्रकार की धार्मिक विचारधाराएँ एक ही काल में दो विभिन्न प्रदेशों में पूर्ण विकास को प्राप्त कर चुकी थीं तथा दोनों का आधार लगभग एक होते हुए भी मान्यताएँ

वासुदेव तथा विष्णु का ऐक्य

विभिन्न होने के कारण दोनों के उपास्य देव वासुदेव एवं विष्णु का अस्तित्व पृथक्-पृथक बना हुआ था। कालान्तर में इन धार्मिक विचारधाराओं की प्रतिक्रियास्वरूप बौद्ध एवं जैन धर्मों के अन्तर्गत निरीश्वरवाद की स्थापना होते ही जहाँ एक ओर इस नूतन धर्म के

१ महाराष्ट्र ज्ञानकोष, पृ० ७८।

२. अ हि. ऑफ वै. पृ० ६६—७० ।

३ वैष्णव धर्म : परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १४ ।

४ वैष्णव धर्म, पृ० ११ ।

एकीकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई वहाँ दूसरी ओर विष्णु एवं वासुदेव शब्दों में निहित 'व्यापकता' ने भी इस दिशा में सहायता पहुँचाई।[1] अतः यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि निरीश्वरवाद की यह नई चेतना तथा विभिन्न धार्मिक मतों का अस्तित्व ही इस एकीकरण का प्रधान कारण बना। वासुदेव कृष्ण के एकीकरण से जहाँ एक ओर दो विभिन्न धार्मिक विचारधाराओं का गठबन्धन हुआ वहाँ दूसरी ओर दोनों के उपास्य देवों की कल्पनाओं में भी स्वरूप की दृष्टि से आदान-प्रदान हुए। विष्णु जो पहले केवल यज्ञ से सम्बन्धित एक श्रेष्ठ देवता माने गए थे अब सर्वव्यापी परमेश्वर समझे जाने लगे। यह परमेश्वर पद एकीकरण के पूर्व केवल वासुदेव को ही प्राप्त था। दूसरी ओर वासुदेव जो क्षत्रिय जातियों के उपास्य देव थे ब्राह्मणों द्वारा स्वीकार किए गए तथा परवर्ती काल में वे विष्णु के पूर्णावतार भी मान लिए गए।

महाभारत के प्राचीन अंशों की रचना के समय तक सात्वत अथवा भागवत धर्म का ही प्रचार था। उस समय तक विष्णु केवल एक आदित्य देवता थे।[2] इसीलिए गीता में वासुदेव को आदित्यों में विष्णु बताया गया है।[3] वासुदेव और विष्णु का ऐक्य ज्ञान और कर्म के एकीकरण को स्थापित करता है। इससे विदित होता है कि वासुदेव तथा विष्णु का एकीकरण महाभारत के रचनाकाल के बाद की घटना है। बेसनगर-शिलालेख के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि यह एकीकरण ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी तक सम्पन्न हो चुका था तथापि अभी वासुदेव की उपासना स्वतन्त्र रूप से भी चली आ रही थी। ऐसी दशा में प्रश्न उठता है कि इन दोनों देवताओं से सम्बन्धित इस संगठित धार्मिक विचारधारा को कालान्तर में वैष्णव नाम ही क्यों मिला? इस प्रश्न का समाधान परवर्ती काल में प्रचलित विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का अध्ययन करने से हो जाता है।

वैष्णव शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग महाभारत के अन्तिम भाग में हुआ है।[4] राय चौधरी महाभारत के इस भाग का रचनाकाल ईसा की पाँचवीं शताब्दी मानते हैं।[5] अतः यह मानना अनुचित न होगा कि ईसा के बाद पाँचवीं शताब्दी तक विष्णु किसी सम्प्रदाय विशेष के उपास्य देव नहीं माने जाते थे अपितु वे केवल यज्ञ से ही सम्बन्धित विश्व के पोषक एवं पालक देवता के रूप में ही वन्दनीय थे। डॉ० भांडारकर के मतानुसार भगवद्गीता तथा अनुगीता के रचनाकाल के बीच वासुदेव कृष्ण और विष्णु का एकीकरण हो चुका था क्योंकि अनुगीता में कृष्ण द्वारा उत्तंक ऋषि को अपना विराट् रूप दिखाने का उल्लेख है जिसे वैष्णव रूप कहा गया है।[6] पर गीता में इसी रूप को 'विश्व-रूप' कहा गया है जो कृष्ण ने अर्जुन को दिखाया था। डॉ० भांडारकर के अनुसार इसी आधार को प्रमाण मान लिया जाए तो गीता में भी अर्जुन ने कृष्ण को दो बार 'विष्णो' शब्द से सम्बोधित किया है। पर वस्तुतः इस शब्द का प्रयोग वहाँ कृष्ण के तेजपुंजमय रूप-गुण को सम्बोधित करने के लिए

१ वैष्णव धर्म, पृ० ५५।
२ वैष्णव धर्म, पृ० ५४।
३ गीता १०।२१।
४ महाभारत १५।३।८०।
५ अ हि ऑफ वै पृ० १८।
६ वै शै [illegible]

ही हुआ है, क्योंकि गीता के ही अन्य उल्लेख के अनुसार विष्णु आदित्यों में सर्वश्रेष्ठ है। अत डॉ० भांडारकर का अनुमान ठीक नहीं प्रतीत होता।

जब जटिल कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया-स्वरूप कर्म से विमुख होकर सत्य की खोज में एक दूसरी चिन्तनपरक विचारधारा विकसित होती है[1] तथा ऋग्वेद में सृष्टि की उत्पत्ति विषयक कल्पना[2] प्रबल होकर नारायण को सृष्टि के रचयिता के रूप में अधिष्ठित करती है। ऋग्वेद के नारायण वस्तुत ऐतिहासिक अथवा पौराणिक न होकर पूर्ण रूप से वातावरण के देवता थे।[3]

नारायण तथा नारायणीय धर्म

वेदेतर साहित्य में नारायण शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख शतपथ ब्राह्मण[4] में मिलता है जहाँ पुरुष नारायण द्वारा यज्ञ वेदी से वसु, रुद्र तथा आदित्यों का प्रात, मध्याह्न एवं सान्ध्य अर्घ्य के रूप में भेजे जाने तथा उनके स्वयं वेदी पर अधिष्ठित होने का उल्लेख है। इस उल्लेख के अनुसार नारायण सभी लोकों देवताओं एवं वेदों में व्याप्त है तथा इन सबका अधिवास नारायण में है। इस प्रकार नारायण यहाँ वैदिक कल्पना के अनुरूप परमात्मा के स्वरूप में अधिष्ठित किये गए हैं।[5] इसी ब्राह्मण में पुरुष नारायण के प्राणिमात्र में श्रेष्ठत्व प्राप्त करने तथा उनमें वास करने के लिए पांचरात्र सत्र करने का भी उल्लेख मिलता है तथा नारायण के यज्ञ करने तथा सर्वस्व हो बन जाने का वर्णन है।[6] ऋग्वेद में पुरुष सूक्त के रचयिता को भी नारायण कहा गया है।[7] डॉ० भांडारकर के मतानुसार पुरुष सूक्त के रचयिता को नारायण मानना पुरुष और नारायण की कल्पना पर आधारित है जो शतपथ ब्राह्मण में लक्षित होती है।[8] नर और नारायण की यही कल्पना मनु[9] से भी होती है जहाँ जल की नर से उत्पत्ति होने के कारण उसे नार कहा गया है और ब्रह्मा और हरि का निवास जल पर होने के कारण ये दोनों नारायण कहलाए हैं। नर और नारायण की इस द्वैत कल्पना का बीज ऋक् संहिता एवं माण्डूक्य उपनिषद् में भी उपलब्ध होता है[10] जहाँ आत्मा और परमात्मा के रूप में दो पक्षियों का उल्लेख है।

तैत्तिरीय आरण्यक[11] में नारायण में उन सभी गुण-धर्मों की स्थापना हो जाती है जो उपनिषदों में परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुए हैं। महाभारत और पुराणों में ये परमेश्वर समझे जाने लगते हैं तथा उनका सम्बन्ध विशेष रूप से सृष्टि की रचना से माना जाता है। पौराणिक दृष्टि से यही क्षीराब्धि अथवा श्वेत-द्वीप के शेषशायी नारायण हैं।

---

१ ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी : दास गुप्त, भाग १, पृ० २४।
२ ऋ० १०।८२।५-६।
३ वै० शै० भांडारकर, पृ० ३१।
४ शतपथ ब्राह्मण, १२, ३, ४।
५ वै० शै० भांडारकर, पृ० ३१।
६ शतपथ ब्राह्मण १३, ६, १।
७ ऋ० १०।९०।
८ वै० शै० भांडारकर, पृ० ३१।
९ मनु, १, १०।
१० वै० शै० भांडारकर, पृ० २८।
११ तैत्तिरीय आरण्यक, १०, ११।

नारायणीय, वासुदेव तथा विष्णु संप्रदायों का एकीकरण तथा उसमें आभीर देवता बाल-कृष्ण का समावेश

महाभारत में ब्रह्मा की उत्पत्ति नारायण की नाभि से मानी गई है।[1] इसी ग्रन्थ के नारायणीयोपाख्यान में नारायण का निवास श्वेत-द्वीप में माना गया है जो विष्णु के वैकुण्ठ से भिन्न है। इसी उपाख्यान में नारायण स्वयं नारद को वासुदेव का धर्म बतलाते हैं तथा वासुदेव को सृष्टिकर्ता परमात्मा एवं सर्वस्व कहते हैं। यहाँ कृष्ण के ऐकान्तिक धर्म अथवा परमात्मा के प्रति एकनिष्ठ भक्ति से ही परमात्मा-प्राप्ति का प्रतिपादन किया गया है। भागवत धर्म का यह नारायणीकरण नारायण तथा वासुदेव के एकीकरण का प्राथमिक संकेत प्रतीत होता है। कथा-सरित्सागर में नारायण श्वेत-द्वीप में शेषशय्या पर आसीन हैं तथा लक्ष्मी उनके पैर दबाती हुई चित्रित है।[2] महाभारत के वन-पर्व में प्रलय-प्रसंग-वर्णन के अन्तर्गत वट पर क्रीड़ा करने वाले बाल-रूप नारायण का उल्लेख है।[3]

सैद्धान्तिक दृष्टि से नारायणीय एवं भागवत धर्मों में अन्तर तो है ही नहीं वरन् नारायणीय धर्म में वासुदेव को मान्यता देकर भागवत धर्म में प्रतिपादित अनन्य भक्ति का ही दृढ़ता से समर्थन किया गया है। अन्तर केवल इतना ही है कि वेद एवं उपनिषद्कालीन नारायण की कल्पना जो मूल रूप में उन्हें ब्राह्मण के देवता के रूप में मान्यता देती थी *महाभारत-काल तक आकर उन्हें परमात्मा पद पर आसीन करके अनन्य बना देती है।* तैत्तिरीय आरण्यक में 'हरि' शब्द का प्रयोग जो पहले इन्द्र के लिए होता था इसी परमात्मा स्वरूप नारायण के लिए हुआ है।[4]

पहले कहा गया है कि वासुदेव-कृष्ण तथा विष्णु का एकीकरण गीता के पश्चात् पौराणिक काल में हुआ है। यही काल वासुदेव एवं नारायण के एकीकरण का काल माना जा सकता है[5] क्योंकि गीता में नारायण के उल्लेख के अभाव से स्पष्ट विदित होता है कि नारायणीय धर्म की स्थापना—नारायण की कल्पना प्राचीन होते हुए भी—बाद की घटना है। *डॉ० भांडारकर का अनुमान है कि गीता के रचनाकाल तक* वासुदेव एवं नारायण का एकीकरण नहीं हुआ था न ही नारायण विष्णु के अवतार माने जाते थे।[6] उनका यह भी अनुमान है कि वासुदेव का महत्त्व बढ़ जाने के उपरान्त वासुदेव और नारायण का एकीकरण हुआ।[7] इस मत से भी उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है।

महाभारत में नारायण एवं नारायणीय धर्म के विषय में जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं उनसे भी यह विदित होता है कि नारायणीय धर्म की स्थापना गीता के पश्चात् की घटना है यद्यपि नर-नारायण की कल्पनाएँ प्राचीन थीं। महाभारत में[8] वैशम्पायन जनमेजय से

१ महाभारत ३।१२।३४ तथा १२।३४१।१८।
२. वै शै भांडारकर, पृ० ३२।
३ महाभारत, वन पर्व अध्याय १८८, १८९।
४ वैष्णव धर्म पृ १६।
५ वै शै० भांडारकर, पृ० ३२।
६ वै शै भांडारकर, पृ० ३३।
७. वही, पृ ३२।
८ महाभारत भाष्य ३ ६।

कहते हैं कि स्वयं नारायण ने जो धर्म नारद को बताया था वही हरिगीता में जनमेजय को बताया गया है। यह ऐकान्तिक धर्म वही है जो कृष्ण ने अर्जुन को बताया था[1] तथा प्रत्येक ब्रह्माण्ड के आरम्भ में इस धर्म की स्थापना नारायण ने की थी। चौथे ब्रह्माण्ड-काल में इस धर्म को दो बार सात्वत धर्म कहा गया है तथा इसी ग्रन्थ में इस धर्म का उपदेश परम्परा के रूप में नारायण से प्रजापति दक्ष विवस्वान तथा इक्ष्वाकु को प्राप्त हुआ बताया गया है।[2] नारायणीयोपाख्यान के अन्तर्गत वासुदेव द्वारा एकनिष्ठ भक्ति पर भी जोर दिया गया है[3] तथा कहा गया है कि नारायण को वही देख सकता है जो उनका एकनिष्ठ भक्त हो। इसीलिए नारद जो नारायण के एकनिष्ठ भक्त थे नारायण का दर्शन पा जाते हैं। वन-पर्व[4] में अर्जुन एवं जनार्दन नर और नारायण कहे गए हैं तथा दोनों के अभेद का भी प्रतिपादन किया गया है। उद्योग-पर्व[5] में कहा गया है कि अर्जुन एवं वासुदेव परम्परानुसार प्राचीन नर-नारायण हैं।

वासुदेव एवं नारायण धर्म में केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही अभेद नहीं है वरन् भागवत धर्म पूर्ण रूप से सात्वत धर्म पर ही आधारित है। इतना ही नहीं महाभारत के उपर्युक्त उल्लेख भी गीता में प्रतिपादित सिद्धान्तों पर ही आधारित प्रतीत होते हैं तथा महाभारत-काल में वासुदेव को ही नारायण भी मान लिया गया है तथा इस मान्यता के समर्थनार्थ ही नारायणीयोपाख्यान का समावेश महाभारत में किसी परवर्ती-काल में हुआ जान पड़ता है।[6]

महाभारत के प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में नर-नारायण की वन्दना से भी इसी मत की पुष्टि होती है तथा स्पष्ट रूप से विदित होता है कि उस समय तक वासुदेव और अर्जुन का नर-नारायण के साथ एकीकरण हो चुकने के कारण ही महाभारत में नर-नारायण स्तुति के पात्र समझे जाते हैं। इस बात में नारायण धर्म की महत्ता प्रतिपादित होते हुए भी गौण रह जाती है तथा वासुदेव की परमात्मा के रूप में स्थापना की ही महत्ता अभिलक्षित होती है।

वासुदेव विष्णु एवं नारायण का एकीकरण इन दोनों सम्प्रदायों के विचार-साम्य शैव मत के तत्कालीन प्रचार एवं बौद्ध तथा जैन धर्मों के अन्तर्गत निरीश्वरवाद की स्थापना की प्रतिक्रिया-स्वरूप प्रतीत होता है।[7] महाभारत में शिव की स्तुति तत्कालीन निगूढ़ धार्मिक मतभेद की ओर इंगित करती है। इसी मतभेद के फलस्वरूप तत्कालीन धार्मिक विषमताओं में समता की स्थापना के लिए विष्णु में विभिन्न सम्प्रदायों को अन्तर्निहित करके एक ही परमेश्वर की स्थापना की मान्यता देकर व्यावहारिक रूप में एक व्यापक धर्म की स्थापना हुई जो कालान्तर में वैष्णव धर्म कहलाई। इस व्यापक धर्म ने वैष्णव धर्म कहलाने तथा

१ महाभारत, अध्याय ३४८।
२ दे० रा० भाण्डारकर, पृ० ७।
३ वही पृ० ७।
४ वनपर्व १२ ४६, ४७।
५ उद्योग-पर्व ४९ १९।
६ दे० रा० भाण्डारकर पृ० ११।
७ भ० वि० आक० वे० एम चाकरी पृ० १००।

विष्णु की परमात्मा रूप में स्थापना एवं मान्यता के पीछे कई कारण दृष्टिगोचर होते हैं। सबसे पहले विष्णु जो वैदिक देवता थे वेद-वर्णित विशेषताओं के कारण ब्राह्मण-काल में अन्य देवताओं में श्रेष्ठ समझे जाने लगे थे तथा महाभारत-काल तक आकर वे नारायण के साथ लगभग एकरूप भी हो गए थे।[१] नारायण मुख्यतः सृष्टि के रचयिता एवं चिन्तन के देवता होने के कारण विष्णु का महत्त्व बढ़ गया। वामन-रूप में अवतारवाद का बीज निहित होने के कारण तथा गीता में अवतारवाद की स्थापना होने के कारण स्पष्ट ही वासुदेव से एकीकरण के लिए अन्य सभी देवताओं की अपेक्षा विष्णु ही अधिक योग्य समझे गए। वासुदेव की अपेक्षा विष्णु को अधिक महत्त्व प्रदान करने के पीछे ब्राह्मणों का विशेष प्रयास लक्षित होता है। इस धारणा की पुष्टि महाभारत के आधार पर ही हो जाती है जहाँ धर्मनिष्ठ ब्राह्मण वासुदेव कृष्ण को नारायण मानना अस्वीकार करते हैं।[२] महाभारत में निर्देशित यही विरोध गीता के रचना-काल में भी विद्यमान प्रतीत होता है जिसकी पुष्टि गीता से हो जाती है।[३] अतः हम मानते हैं कि वासुदेव कृष्ण एवं विष्णु नारायण के एकीकरण के पीछे ब्राह्मण-धर्म की विचारधारा अत्यन्त प्रबलता से काम करती रही है तथा परिस्थितिवश सात्वत या भागवत-धर्म को आत्मसात करके विष्णु को परमात्मा पद पर प्रतिष्ठित करती है। इस एकीकरण के फलस्वरूप विष्णु वैदिक और देवता न रहकर उनका स्वरूप गीताविहित व्यापक परब्रह्म के रूप में निश्चित होता है। विष्णु के इस नवीन स्वरूप-परिवर्तन के कारण ही सम्भव सात्वत या भागवत-धर्मावलम्बियों को नवीन स्थापना को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं हुई।

डॉ० भांडारकर इस एकीकरण में ईसा की पहली शताब्दी में गोपालकृष्ण का भी समावेश मानते हैं। उनका अनुमान है कि गोपालकृष्ण जो बाद में वासुदेव कृष्ण में एकरूप हो गए, किसी आभीर जाति के देवता थे जो ईसा की पहली शताब्दी के लगभग भारत में आकर बस गई थी तथा इस देवता की बाल-लीलाएँ ईसा पर आधारित हैं।[४] डॉ० भांडारकर का मत संदिग्ध प्रतीत होता है क्योंकि 'अम्बर' नाम जो 'अभीर' का पर्याय है एवं अभीर जाति को सूचित करता है ईसा से कई शताब्दियाँ पूर्व भारत में विद्यमान था तथा इस जाति के लोग पाण्डु वंश के साथ तमिल देश में आ बसे थे।[५] तिलक के मतानुसार गोपाल कृष्ण और कोई न होकर वासुदेव कृष्ण ही हैं तथा कृष्ण का बाल-लीला-वर्णन पर वर्ती कल्पनाएँ हैं।[६] डॉ० चौधरी ने डॉ० भांडारकर के मत के आधारों का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए गोपाल कृष्ण को वासुदेव कृष्ण ही माना है जो सर्वथा युक्तिसंगत प्रतीत होता है।[७] गोपाल कृष्ण को वासुदेव कृष्ण मान लेने पर भी गोपाल कृष्ण सम्प्रदाय के रूप में वासुदेव कृष्ण के प्राचीन रूप और मान्यताओं में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है।

१ अ० हि० ऑफ वै० : राय चौधरी, पृ० १०४।
२ वही, पृ० १०७।
३ गीता ७।१९, ९।११।
४ वै० शै० भांडारकर पृ० ३८।
५ वैष्णविज्म शैविज्म एंड माइनर—डॉ० भण्डारकर, पृ० ३७।
६ गीता रहस्य : बा० गं० तिलक, पृ० ५४३।
७ अ० हि० आफ वै० : राय चौधरी पृ० १२६-३०।

छांदोग्य उपनिषद्, मेगस्थनीज का इंडिका, पातंजलि का महाभाष्य, बौद्धों का घट—जातक इत्यादि के अनुसार, जिन्हें प्राय सभी विद्वान् कृष्ण से सम्बन्धित सबसे प्राचीन उपलब्ध आधार मानते हैं।[1] कृष्ण एक परम योद्धा तथा महायोगी ही सिद्ध होते हैं। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि महाभारत के प्राचीन अंशों के रचना-काल तक वे एक महापुरुष और धर्म के प्रवर्तक के रूप में ही अभिलक्षित होते हैं। स्पष्ट ही इन सब ग्रन्थों में उनका उदात्त चरित्र ही सर्वत्र अंकित है और वह भी उनके पाण्डवों के सम्पर्क में आने के बाद का है। ठीक इसके विपरीत उनके चरित्र के अन्तर्गत शृंगार-लीलाओं का समावेश जो मुख्यत हरिवंश, भागवत आदि पुराणों में विस्तृत पड़ा है, निश्चय ही बाद का आविष्कार प्रतीत होता है। कृष्ण के चरित्र में इन नवीन बातों के समावेश का सूत्र खोजने के लिए महाभारत हरिवंश एवं अन्य पुराणों के आन्तरिक आधारों का विवेचन अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि यह समावेश कृष्ण चरित्र में वह नवीन मोड़ है जिसके सहारे कृष्ण से सम्बन्धित प्राय सभी परवर्ती सम्प्रदाय चलते हैं।

कृष्ण की कथा विष्णु, ब्रह्म, भागवत, ब्रह्मवैवर्त, स्कन्द, वामन तथा कूर्म पुराणों में मिलती है। अन्य पुराणों में वह बहुत ही संक्षेप में दी गई है तथा उपर्युक्त पुराणों की कथा से भिन्न नहीं है। विष्णु तथा ब्रह्म पुराणों में वर्णित कथा अक्षरश एक ही है तथा इक्कीस लम्बे अध्यायों में दी गई है। इन दोनों पुराणों में एक जैसे इक्कीस अध्यायों का होना किसी एक का अनुकरण न होकर दोनों का आधार कोई अन्य प्राचीन प्रचलित पुराण प्रतीत होता है।[2] तथापि कालिदास के समकालीन अमरसिंह द्वारा पुराणों के विषय में बताये हुए लक्षण[3] विष्णु-पुराण में विद्यमान होने के कारण उसे उपलब्ध सभी पुराणों से पहले का माना जा सकता है। साथ ही वह महाभारत के मूल स्वरूप के पश्चात् का है क्योंकि उसमें महाभारत में वर्णित कृष्ण का चरित्र संक्षेप में देकर उनके प्रारम्भिक जीवन का ही अधिक वर्णन है। हरिवंश, जो कृष्ण कथा का दूसरा स्रोत है विष्णु-पुराण के बाद की रचना है। उसकी कथा विष्णु-पुराण पर आधारित प्रतीत होती है, क्योंकि जहाँ एक ओर हरिवंश की कथा विष्णु-पुराण की अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्ण है वहाँ दूसरी ओर पूतना को राक्षसी कहा गया है जो विष्णु-पुराण में केवल बच्चों का वध करने वाली स्त्री के रूप में प्रस्तुत की गई है। इस तरह विष्णु-पुराण के रचना-काल तक आकर प्राचीन प्रचलित कृष्णकथा में एक नवीन विचारधारा का समावेश हो जाता है जो भक्ति के आवरण में कृष्ण और गोपियों के बीच उदात्त-शृंगार की कल्पनाओं को स्वीकार करके परवर्ती साहित्य-सर्जना में निर्दिष्ट प्रवाह का काम करती है।

अत हम देखते हैं कि वासुदेव कृष्ण और विष्णु के एकीकरण में विष्णु-पुराण एक महत्त्वपूर्ण कार्य करता है तथा इस तरह कृष्ण में उन सभी गुण-दोषों का आरोपण कर देता है जो वैदिक एवं ब्राह्मण-युगों में विष्णु से सम्बन्धित थे।[4]

---

१ अ० हि० आव वै०, राय चौधरी, पृ० ३१।
२ डी० एन० पाल—अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ श्रीकृष्ण—प्रस्तावना।
३ पौराणिक रिसर्चेज, खण्ड १, पृ० १४६–८७ तथा जे० आर० ए० एस० ऑफ बंगाल, पृ० १४६–९०।
४ अ० हि० आव वै०, राय चौधरी, पृ० ७४।

ऋग्वेद में विष्णु गोप हैं। उनके यहाँ भूरिशृंगा गायों का आवास है।[1] अतः कृष्ण भी गोपाल बन जाते हैं। ऋग्वेद में विष्णु शंकर को हराते हैं। कृष्ण भी कंस का वध करते हैं। बौधायन-सूत्र के अनुसार विष्णु गोविन्द तथा दामोदर हैं। कृष्ण भी गोविन्द और दामोदर हैं। ऋग्वेद में विष्णु बालक न रहकर युवावस्था को प्राप्त करते हैं[2] तथा यास्क के शब्दों में 'कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवति' में विष्णु की काम-सम्बन्धी कई लीलाओं का संकेत मिलता है[3] जो कालान्तर में कृष्ण की विशेषता बन जाती है। वामन-रूप में व्यक्त रूप तो कृष्ण की कई लीलाओं की आधार भूमि बन जाता है। प्राचीन भाषा के भीम-काव्य में विष्णु की सुन्दर पृथ्वी देवी पर आसक्ति तथा वराह रूप में उसके साथ संभोग करके नरकासुर की उत्पत्ति का वर्णन है।[4] मभाषा में पृथ्वी के विषय में विष्णु की इसी आसक्ति का किंचित् परिवर्तित रूप मिलता है। यहाँ वराहरूपी विष्णु पृथ्वी में प्रवेश करके एक प्रसाद देखते हैं तथा राक्षस का रूप धारण करके पृथ्वी देवी के साथ बलपूर्वक संभोग करते हैं।[5] कृष्ण पर विष्णु के गुण-धर्मों का यह आरोपण जहाँ एक ओर वासुदेव-विष्णु के एकीकरण के फलस्वरूप दृष्टिगोचर होता है वहाँ दूसरी ओर साम्प्रदायिकता के हाथों विष्णु को तटस्थ रख कर कृष्ण-चरित्र में अवांछनीय तत्त्व का गौण रूप से समावेश करने का चतुर प्रयास भी प्रतीत होता है।[6] कृष्ण का चरित्र यदि सचमुच शृंगार से ओतप्रोत होता तो शिशुपाल जो अग्र-पूजा के समय कृष्ण की डटकर निन्दा करता है उन्हें कामुक कहे बिना न रहता।[7] अन्य पुराण मथुरा-गमन के समय कृष्ण को पाँच-सात वर्ष का बालक मानते हैं[8] तथा मथुरा से उनके व्रज को लौटने का कहीं उल्लेख ही नहीं मिलता। ऐसी दशा में शृंगार का प्रश्न ही कहाँ उठता है।

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि गोपालकृष्ण कोई परवर्ती देवता न होकर वासुदेव और विष्णु की एकता से प्रतिफलित एक कल्पना है जो साकार होकर परवर्ती काल में विभिन्न सम्प्रदायों एवं धार्मिक विचारधाराओं को प्रवाहित करती है।

इस एकीकरण में पांचरात्र तथा भागवत-धर्म के सम्मिलन द्वारा एक नये भक्ति-मार्ग का उदय होता है जो परवर्ती काल में वल्लभाचार्य को लेकर अनेक सम्प्रदायों को जन्म देता है।

पांचरात्र में वासुदेव की अन्य व्यूहों के साथ स्थापना होते हुए भी वह कृष्ण के ऐकान्तिक धर्म से भिन्न प्रतीत होती है यद्यपि दोनों धर्मों के अन्तर्गत साधना-पक्ष में भक्ति को ही प्रमुख स्थान दिया गया है।[9] पांचरात्र-धर्म के अनुसार

पांचरात्र-सम्प्रदाय तथा भागवत-धर्म

परब्रह्म अद्वितीय अनादि, अनन्त दुःखरहित निस्सीम सुखानुभूत एवं देश-काल से अविच्छिन्न होने के कारण पूर्ण व्यापक और नित्य

---

१ ऋ० १।१५४।
२ ऋ० १।१५५।६।
३ शान्ति १९२७, पृ० ८।
४-५ एलीमेन्ट्स ऑफ अर्ली हिस्ट्री पृ० १४१।
६ अ० हि० आफ वै० : राय चौधरी, पृ० ७५।
७ महाभारत, सभापर्व, ४१।६।
८ ग्रोथ एण्ड ओरिजिन्स ऑफ कृष्ण, श्री डी० एन० पाल, पृ० ३।
९ वै० शै० भांडारकर पृ० ३८-३९।

है। वह निर्गुण-सगुण दोनों है। सगुण ब्रह्म-ज्ञान शक्ति ऐश्वर्य बल वीर्य तथा तेज से परिपूर्ण होने के कारण षड्गुण्य है। भगवान् की शक्ति प्रकृति है तथा दोनों एक प्रतीत होते हुए भी उनमें अद्वैत नहीं है।[1] धर्म की संस्थापना एवं दुष्टों के नाश के लिए भगवान् के चार प्रकार के अवतारों की कल्पना है—व्यूह विभव अर्चावतार तथा अन्तर्यामी अवतार। पांचरात्र के अनुसार जीव अनादि आनन्दस्वरूप तथा व्यापक है, पर सृष्टि के आरम्भ में अविद्या से परिपूर्ण होने के कारण वह अल्पज्ञ बन जाता है तथा इस तरह भवसागर में भटकता रहता है। भगवान् की कृपा से ही जीव समत्व-बुद्धि प्राप्त करता है तथा वैराग्य और विवेक के माध्यम से ज्ञान पाकर वासुदेव के धाम में प्रवेश करके मोक्ष प्राप्त करता है।[2] ब्रह्म के साथ जीव के अभेद ज्ञान को ही ज्ञान माना गया है। इस प्रकार पांचरात्र-सम्प्रदाय जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करते हुए भी परिणामवाद को ही मानता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए जीव में सेवाभाव समर्पण दीनता के साथ-साथ भगवान् के रक्षक-रूप में अखण्ड विश्वास होना नितान्त आवश्यक है।[3]

भागवत-धर्म के अनुसार जो पांचरात्र संहिताओं पर ही आधारित है[4] वासुदेव परब्रह्म तथा षड्गुण्य है तथा उनके तीन व्यूहों की कल्पना है। वासुदेव का वास प्राणि-मात्र में है और प्राणि-मात्र भी उन्हीं में समाविष्ट है। भागवत-धर्म के अन्तर्गत अष्टयोग और अनन्य भक्ति की स्थापना है तथा आत्मोपासना को स्वीकार किया गया है। ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य तीनों वर्णों को वासुदेव-भक्ति का अधिकार है तथा मनसा वाचा कर्मणा निष्काम बुद्धि को प्रधानता देते हुए कर्मरत होकर वासुदेव की उपासना को मान्यता दी गई है। वासुदेव के चतुर्व्यूह उपासना की पाँच विधियाँ हैं—मनसा वाचा कर्मणा वासुदेव की मूर्ति का दर्शन उपादान अथवा पूजा की सामग्री का संग्रह, पूजन स्वाध्याय अथवा मन्त्र-स्तुति तथा योग अथवा वासुदेव का चिंतन। इस विधि से वासुदेव की उपासना करने वाला जीव वासुदेव को प्राप्त करता है। इस तरह दोनों के मूल सिद्धान्त एक होते हुए भी पांचरात्र में कुछ अन्य तत्त्व भी मिश्रित कर दिये गए हैं। दोनों सम्प्रदायों में गोपालकृष्ण की स्थापना दृष्टिगोचर नहीं होती। पांचरात्र सम्प्रदाय का विकास ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के आसपास माना गया है।[5] निश्चय ही इस काल तक गोपाल कृष्ण की स्थापना नहीं हो पाई थी। अतः यह कहना असंगत न होगा कि ब्राह्मणों द्वारा वासुदेवकृष्ण को परब्रह्म के रूप में स्वीकार करने के पश्चात् विष्णु-पुराण में कृष्ण के आरम्भिक जीवन का विष्णु-सम्बन्धी प्राचीन आधारों पर निरूपण हुआ तथा पांचरात्र में वर्णित परब्रह्म की शक्ति माया अथवा प्रकृति का (जो प्राचीन साहित्य में श्री के रूप में विद्यमान थी)[6] संस्कार होकर विशाल पौराणिक साहित्य की सर्जना हुई। भागवत-पुराण में इस स्थापना का पूर्ण विकास दृष्टिगोचर होता है जो परवर्ती कृष्ण-भक्ति का उद्गम माना जा सकता है।

---

१ भागवत धर्म, बलदेव उपाध्याय, पृ० १११।
२ वही, पृ० १११।
३ वही पृ० १११ ११।
४ इं० टु श्रेडर, पृ० ११।
५ इं० टु श्रेडर, पृ० ११।
६ ऐस्पेक्ट्स ऑफ् अर्ली विष्णुइज्म, जे० गोंडा, पृ० १०८, १०९।

गुप्त-काल तक आकर कृष्ण और विष्णु का एकीकरण प्रकट रूप से हो गया था तथा विष्णु देवाधिदेव और कृष्ण उनके पूर्णावतार मान लिए गए थे।[1] साथ ही अवतारों की पूजा भी आरम्भ हो गई थी तथा नारायण के साथ-साथ लक्ष्मी को भी मान्यता मिल गई थी, पर अभी तक राधा-कृष्ण की उपासना का आरम्भ नहीं हो पाया था यद्यपि अश्वघोष के बुद्ध-चरित तथा भास के बाल चरित में गोपियों का उल्लेख तब भी विद्यमान था।[2]

रामानुजाचार्य द्वारा वैष्णव धर्म की पुनः स्थापना

ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दी तक का काल वैष्णव-धर्म का अन्धकार-काल प्रतीत होता है।[3] इसका मुख्य कारण कुषाणवंशीय शैव राजाओं का मथुरा तक आधिपत्य प्रतीत होता है। नासिक के शिलालेख से पता चलता है कि इस काल तक संकर्षण और वासुदेव राम और केशव हो गए थे तथा उन्हें केवल पराक्रमी माना जाने लगा था।[4] यह कथन भागवत धर्म के ह्रास को सूचित करता है। सम्भवतः बौद्ध एवं जैन-धर्मों के प्रचार के कारण यह धर्म उत्तर भारत में एक साधारण सम्प्रदाय के रूप में रह गया था पर ठीक इसके विपरीत दक्षिण में आलवारों एवं आचार्यों द्वारा इसका जोरों से प्रचार होता रहा तथा कई ग्रन्थों की रचना हुई। आलवार साधना मुख्यतः भावात्मक होने के कारण उसमें नामस्मरण भजन सेवा तथा ध्यान को ही अधिक महत्त्व मिला।[5] आलवारों की भावात्मकता एवं भागवत में भक्ति के निरूपण के योग से भक्ति प्रेम का रूप ले लेती है, जिसका स्वरूप आण्डाल को देके भजनों में निखर उठता है। आण्डाल कोदै को दक्षिण की मीरा कहा जाता है।[6] दक्षिण में जहाँ एक ओर वैष्णव-भक्ति का प्रचार हो रहा था वहाँ दूसरी ओर उत्तर में बौद्ध तथा जैन धर्मों के प्रचार से वैदिक धर्म के बारे में अनेक शंकाएँ उठाई जा रही थीं। न्याय तथा मीमांसा के आचार्यों द्वारा इन शंकाओं के समाधान एवं कर्म-काण्ड की पुष्टि में वेदान्ती सम्प्रदायों पर भी आक्षेप होने लगे। इसी प्रयास में शंकराचार्य ने अद्वैतवाद की स्थापना की तथा ब्रह्म को एकमात्र मानकर जीव और ब्रह्म में अद्वैत को स्वीकार किया। इन दोनों में मायिक द्वैत का कारण उन्होंने माया को माना तथा भक्ति या प्रेम को मान्यता न देकर जीव और ब्रह्म के अद्वैत के ज्ञान से ही मुक्ति सम्भव मानी और अनेक देवताओं की पूजा को स्वीकार किया।

इस स्थापना के उत्तर में रामानुजाचार्य ने गीता उपनिषद्, न्यायशास्त्र एवं ब्रह्म-सूत्र और सांख्य के आधार पर विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना करके एकेश्वरवाद एवं भक्ति की पुनः स्थापना की। विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार जीव और जगत् परमात्मा के ही गुण विशेष हैं तथा इनसे परब्रह्म का स्वरूप विशिष्ट है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए कोरे ज्ञान की अपेक्षा विधिपूर्वक भक्ति ही एकमात्र साधन है। रामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्तित श्री-सम्प्रदाय में विष्णु-पूजन की विधि अधिकतर पांचरात्र-सम्प्रदाय का अनुसरण करती है तथा भक्ति का

१ वैष्णव धर्म परशुराम चतुर्वेदी, पृ ४८ ।
२ पीतमताल, क्रिश्न, पृ २४१ ।
३ वैष्णव धर्म पृ ७० ।
४ अ० हि० आफ वै०, राय चौधरी, पृ० १८-१९ ।
५ अ० हि० आफ वै०, राय चौधरी, पृ० १०४ ।
६ अ० हि० आफ वै०, राय चौधरी, पृ० १०९ ।

प्रतिपादन गीता पातंजल-योग तथा आळवारों की शैली पर हुआ है[1] जिसमें स्नेह का भी समावेश है। भगवद्भक्ति का अधिकार चारों वर्णों को है। उपर्युक्त मान्यताओं को स्वीकार करते हुए रामानुजाचार्य ने अपने सिद्धान्तों द्वारा प्राचीन भागवत-धर्म की ही पुनः स्थापना की तथा कोरे ज्ञान के अनुचित प्रचार का विरोध करते हुए भक्ति कर्म और ज्ञान के समुच्चय को ही भगवद् प्राप्ति का सच्चा साधन माना।

भागवत-धर्म में प्रतिपादित भक्ति में शृंगार की कल्पना एवं कृष्ण की शृंगारमय भक्ति की स्थापना में पौराणिक काल की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना प्रतीत होती है क्योंकि प्राचीन भागवत व सात्वत धर्म में प्रतिपादित भक्ति के अन्तर्गत कामदेव का प्रतिबिम्ब शृंगार को स्वीकार नहीं किया गया था। सम्भवतः भक्ति में शृंगार का समावेश कृष्ण और विष्णु के एकीकरण के पश्चात् की घटना है तथा उसका विकास भी विष्णु-पुराण में वर्णित कृष्ण की बाल-लीलाओं से हुआ प्रतीत होता है। पहले कहा जा चुका है कि इस एकीकरण के फलस्वरूप कृष्ण में विष्णु की काम-लीलाओं का आरोपण होने लगा था जिसका चरम विकास भागवत-पुराण में अभिलक्षित होता है। कृष्णपरक भक्ति में शृंगार का समावेश पौराणिक राधा की कल्पना पर आधारित है। राधा की कल्पना स्पष्ट रूप से लक्ष्मी से सम्बन्धित है। वैदिक साहित्य में श्री की कल्पना ही प्राचीन मोहेनजोदड़ो के अन्तर्गत 'माता'[2] की शक्ति-रूप में स्थापना की देखादेखी नारायण धर्म और पांचरात्र सिद्धान्तों पर आधारित पौराणिक काल में लक्ष्मी के रूप में विकसित होती है। राधा की कल्पना (जिस पर समस्त परवर्ती शृंगारमय भक्ति-साहित्य पल्लवित हुआ है) पौराणिक काल से पहले दृष्टिगोचर नहीं होती। डॉ० भांडारकर के मतानुसार राधा का परमेश्वर की शक्ति के रूप में सर्वप्रथम उल्लेख भागवत-पुराण में मिलता है।[3] उपलब्ध ब्रह्मवैवर्त-पुराण में जो मूल ब्रह्मवैवर्त-पुराण से भिन्न तथा परवर्ती है[4], ब्रह्मा राधा का कृष्ण से विवाह कराते हैं।[5] आदि पुराण में कृष्ण के अवतार धारण करने के पहले विष्णु के कहने पर राधा मर्त्य-लोक में जन्म लेती है।[6] पद्मपुराण में तो वृषभानु राजा को यज्ञ के लिए पृथ्वी शुद्ध करते समय ही राधा सीता की तरह मिल जाती है।[7] अन्य पुराणों के अनुसार विरजा नामक गोपी को विष्णु रास-मण्डली में ले जाते हैं। राधा उन्हें खोजती है, पर विष्णु विरजा के साथ अदृश्य हो जाते हैं। तत्पश्चात् एक दिन कृष्ण को सुदामा के साथ देखकर राधा कृष्ण की निन्दा करती है जिसके फलस्वरूप राधा और सुदामा के बीच शापों का आदान प्रदान होता है और राधा को मानव-योनि में जन्म लेना पड़ता है।[8] यह

---

१ अ हि० ऑफ़ वै०, एन चौधरी पृ० १६४।
२ दि रिलिजिअन्स ऑफ़ इंडिया, ए० पी० करमरकर पृ० ६६।
३ वै० शै० भांडारकर, पृ० ४१।
४ पौराणिक रिकार्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स आर० सी० हाजरा, पृ० १६०।
५ ब्रह्मवैवर्तपुराण, ४, १५।
६ आदि-पुराण, ११।
७ पद्म-पुराण, ब्रह्म खण्ड, ७।
८ प्राचीन चरित्र कोश सिद्धेश्वर शास्त्री, पृ० ७११।

वैवर्त पुराण में राधा की उत्पत्ति कृष्ण के वामांग से मानी गई है।[1] यहीं लक्ष्मी के दो रूप भी माने गए हैं—एक राधा और दूसरा लक्ष्मी। लक्ष्मी का राधा रूप पृथ्वी पर कृष्ण के साथ विचरता है और लक्ष्मी विष्णु के साथ वैकुण्ठ में। आनन्दरामायण में राम से वर पाकर सगुणा दासी ही कृष्णावतार में राधा बन जाती है।[2]

हम देखते हैं कि पौराणिक काल में कृष्ण-भक्ति दो विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित होने लगती है। एक ओर प्राचीन भागवत व सात्वतधर्म में प्रतिपादित शुद्धभक्ति को मान्यता मिली हुई थी और दूसरी ओर पौराणिक राधा पर आधारित शृंगार-भक्ति को जो शैव महायान आदि सम्प्रदायों की यौन-कल्पनाओं से प्रभावित होती रही। इन बाह्य कारणों के साथ-साथ भक्ति में अन्तर्निहित तन्मयता न भी प्रेम के रूप में शृंगार प्रधान भक्ति की कल्पना में योग दिया। भागवत-पुराण के पश्चात् कृष्णपरक शृंगार प्रधान भक्ति एवं प्रेम की तन्मयता का वर्णन सर्वप्रथम तमिल संत-कवयित्री आण्डाल कोदै के भजनों में होते हैं जिसका समय सन् ७१६ ई० माना जाता है।[3] यही शृंगार जयदेव के गीतगोविन्द में उदात्त रूप धारण कर लेता है। गीतगोविन्द जो एक गीति-काव्य कहा जा सकता है[4] भक्ति में केवल शृंगार का ही समावेश नहीं करता वरन् राधा और कृष्ण को लेकर आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर लौकिक शृंगार का सांगोपांग चित्रण भी करता है। इस प्रयास में गीतगोविन्द तथा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के माधुर्य शृंगार विरहोद्गार और काव्य-सौन्दर्य में साम्य दृष्टिगोचर होता है।[5] इस प्रकार गीतगोविन्द में जहाँ एक ओर सम्भोग-विप्रलम्भ शृंगार को मूर्त किया गया है वहीं दूसरी ओर स्थान-स्थान पर भक्ति का पुट देकर शृंगार को आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न लक्षित होता है। स्पष्ट ही जयदेव की राधा लक्ष्मी का अन्य रूप होते हुए भी एक साकार प्रेयसी के रूप में प्रस्तुत की गई है जिसका प्रेम मूलतः शारीरिक सुख से मानसिक सुख की ओर अग्रसर होता हुआ-सा चित्रित किया गया है। राधा का यह चरित्र निम्नलिखित श्लोकों से स्पष्ट रूप से अंकित है—

व्याकोशः केशपाशस्तरलितमलकैः स्वेद मोक्षौ कपोलौ।
स्पष्टा दष्टाधरश्रीः कुचकलशरुचा हारिता हारयष्टिः ॥
काञ्ची काञ्चिद्गताशां स्तनजघनपदं पाणिनाच्छाद्य सद्यः
पश्यन्ती चात्मरूपं तदपि विलुलित स्रग्धरेयं धिनोति ॥
ईषन्मीलित दृष्टि मुग्ध हसितं सीत्कार धारावशा—।
दव्यक्ताकुलकेलिकाकुविकसद्दन्तांशुधौता धरम् ॥
श्वासोत्कम्पपयोधरोपरि परिष्वंगात्कुरंगीदृशो।
हर्षोत्कर्षविमुक्तनिःसहतनोर्धन्यो धयत्याननम् ॥[6]

उपर्युक्त काव्य में भक्ति के साथ ही काम का चित्रण भी दृष्टिगोचर होता है।

---

१ ब्रह्म-वैवर्त २ १२।
२ भारतीय चरित्रकोश, पृ० ७३१।
३ अ० हि० कॉम० में राम चौधरी पृ १५४।
४ गीत (डिंपल गुरु गीतगोविन्द, डा० वि० कौशिक पृ० १८)।
५ गीतगोविन्द : डा० वि० की भूमिका, प्रथम संस्करण प्रस्तावना पृ० १३।
६ गीतगोविन्द द्वादश सर्ग, श्लोक ७, ८।

ठीक इसके विपरीत जयदेव के लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् महाराष्ट्र में सन्त तुकाराम के अभंगों में राधा और कृष्ण की काम-लीलाओं से परे प्राचीन भागवत धर्म में प्रतिपादित भक्ति की पुनः स्थापना के दर्शन होते हैं। सन्त तुकाराम के काल

वारकरी सम्प्रदाय

तक भागवत-धर्म पारमार्थिक समता निर्माण करके लीन हो गया था। धार्मिक क्षेत्र में ऊँच-नीच का भेद-भाव तथा अस्पृश्यता के बन्धन अब भी विद्यमान थे।[1] सन्त तुकाराम ने इन्हीं सामाजिक एवं धार्मिक विषमताओं को मिटाने के लिए जयदेव की शृंगार-बहुल भक्ति को न अपनाकर सर्वव्यापी प्रेम पर आधारित निष्काम-भक्ति को मान्यता दी। तुकाराम के विराणी (विरहिणी) अभंगों में यद्यपि कृष्ण की लीलाओं के अन्तर्गत यत्र-तत्र सम्भोग शृंगार का भी दर्शन होता है पर ऐसा वर्णन अपेक्षाकृत बहुत ही कम है तथा पौराणिक परम्परा के निर्वाह के लिए ही हुआ है क्योंकि जहाँ एक ओर शृंगार का वर्णन है वहाँ दूसरी ओर कृष्ण की बाल-लीलाओं का भी विशद वर्णन मिलता है। तुकाराम की कृष्ण-भक्ति में कृष्ण का परब्रह्म-रूप ही मुख्य है और नटवर रूप गौण।

'त्याचि पंथे माझे लागलें से चित्त।
वाट पाहे नित्य माहेराची॥
तुका म्हणे आतां येतील न्यावया।
अंगे आपुलिया मायबाप॥'[2]

(उसी मार्ग की ओर मेरी आँखें लगी हुई हैं और मैं नित्य मायके की यह सोचकर प्रतीक्षा करती रहती हूँ कि मुझे ले जाने के लिए अब माँ-बाप आते ही होंगे।)

उपर्युक्त अभंग में जीव रूपी दुलहिन की मायके जाने की व्यग्रता में माता-पिता का भगवान् में बहुत ही सुन्दर निरूपण हुआ है। तुकाराम की रखुमाई और जयदेव की राधा में निरूपण का यह अन्तर स्पष्ट अभिलक्षित होता है। जयदेव की राधा परवर्ती कल्पनाओं के अनुसार जीव का प्रतीक मान लेने पर भी शारीरिक सुख की अनुगामिनी है, अतः जयदेव की भक्ति लौकिकता के धरातल पर एक आध्यात्मिक प्रयत्न है, पर तुकाराम का प्रेम शारीरिक वासनाओं पर आधारित न होकर एक आध्यात्मिक वासना है जिसका सम्बन्ध इन्द्रियों से न होकर परमार्थ से प्रतीत होता है। यही कारण है कि जयदेव की भाँति तुकाराम में नायिका भेद एवं दूती की कल्पना के दर्शन नहीं होते।

(आ) अवतारों की मीमांसा तथा कृष्ण-कथा, विष्णु-पुराण, भागवत-पुराण इत्यादि के अनुसार लौकिक ग्राम-देवताओं की कल्पना का ग्राम-देवमाला में समावेश

विष्णु और कृष्ण के एकीकरण को तथा भारत के विभिन्न आर्येतर विश्वासों को आत्मसात करने में पौराणिक अवतारवाद की कल्पना ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उसकी प्रतीति अवतारों की मीमांसा से ही हो सकेगी।

१ वैदिक संस्कृति का विकास, तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी, पृ. १९९।
२ श्रीतुकाराम महाराजांची सार्थ गाथा देवळीकर कृत, पृ. ५७८।

वैवर्त पुराण में राधा की उत्पत्ति कृष्ण के वामांग से मानी गई है।[1] यहीं लक्ष्मी के दो रूप भी माने गए हैं—एक राधा और दूसरा लक्ष्मी। लक्ष्मी का राधा रूप पृथ्वी पर कृष्ण के साथ विचरता है और लक्ष्मी विष्णु के साथ वैकुण्ठ में। आनन्दरामायण में राम से वर पाकर सगुणा दासी ही कृष्णावतार में राधा बन जाती है।[2]

हम देखते हैं कि पौराणिक काल में कृष्ण-भक्ति दो विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित होने लगती है। एक ओर प्राचीन भागवत व सात्वतधर्म में प्रतिपादित शुद्धभक्ति को मान्यता मिली हुई थी और दूसरी ओर पौराणिक राधा पर आधारित शृंगार-भक्ति को जो शैव महायान आदि सम्प्रदायों की यौन-कल्पनाओं से प्रभावित होती रही। इन बाह्य कारणों के साथ-साथ भक्ति में सन्निहित तन्मयता ने भी प्रेम के रूप में शृंगार-प्रधान भक्ति की कल्पना में योग दिया। भागवत-पुराण के पश्चात् कृष्णपरक शृंगार-प्रधान भक्ति एवं प्रेम की तन्मयता के दर्शन सर्वप्रथम तमिल संत-कवयित्री आण्डाल कोदै के भजनों में होते हैं जिसका समय सन् ७१६ ई० माना जाता है।[3] यही शृंगार जयदेव के गीतगोविन्द में उदात्त रूप धारण कर लेता है। गीतगोविन्द को एक गीति-काव्य कहा जा सकता है[4] भक्ति में केवल शृंगार का ही समावेश नहीं करता, वरन् राधा और कृष्ण को लेकर आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर लौकिक शृंगार का सांगोपांग चित्रण भी करता है। इस प्रयास में गीतगोविन्द तथा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के माधुर्य शृंगार, विरहोन्माद और काव्य-सौन्दर्य में साम्य दृष्टिगोचर होता है।[5] इस प्रकार गीतगोविन्द में जहाँ एक ओर सम्भोग-विप्रलम्भ शृंगार को मूर्त किया गया है, वहाँ दूसरी ओर स्थान-स्थान पर भक्ति का पुट देकर शृंगार को आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न लक्षित होता है। स्पष्ट ही जयदेव की राधा लक्ष्मी का अन्य रूप होते हुए भी एक साकार प्रेयसी के रूप में प्रस्तुत की गई है जिसका प्रेम मूलतः शारीरिक सुख से मानसिक सुख की ओर अग्रसर होता हुआ-सा चित्रित किया गया है। राधा का यह चरित्र निम्नलिखित श्लोकों में स्पष्ट रूप से अंकित है—

व्यालोल केशपाशस्तरलितमलकै स्वेद लोलौ कपोलौ ।
स्पष्टा दष्टाधरश्री कुचकलशरुचा हारिता हारयष्टि ।।
काञ्ची काञ्चिद्गताशां स्तनजघनपदं पाणिनाच्छाद्य सद्य
पश्यन्ती चात्मरूपं तदपि विलुलितस्रग्धरेयं धुनोति ।।
ईषन्मीलित दृष्टि मुग्ध हसितं सीत्कार धाराबशा—।
अव्यक्ताकुलकेलिकाकुविकसद्दन्तांशुधौता अधरम् ।।
श्वासोत्कम्पिपयोधरोपरि परिष्वङ्गात्कुरंगीदृशो ।
हर्षोत्कर्षविमुक्तनिःसहतनोर्धन्यो धयत्याननम् ।।[6]

उपर्युक्त काव्य में भक्ति के साथ ही काम का चित्रण भी दृष्टिगोचर होता है।

---

१ ब्रह्मवैवर्त २ । १२ ।
२ प्राचीन चरित्रकोश, पृ० ७३६ ।
३ ज. रि. ऑफ रि०, एन चौधरी, पृ १८४ ।
४ गीत (देखिए दुस्त्सेन गोविन्द ए. पि. भीमपति पृ० १८) ।
५ दुस्त्सेन गोविन्द : डा० वि० श्री ठोंबे दूसरा संस्करण प्रस्तावना पृ १६ ।
६ गीतगोविन्द द्वादश सर्ग, श्लोक ७, ८ ।

वारकरी सम्प्रदाय

ठीक इसके विपरीत जयदेव के लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् महाराष्ट्र में सन्त तुकाराम के अभंगों में राधा और कृष्ण की काम-लीलाओं से परे प्राचीन भागवत धर्म में प्रतिपादित भक्ति की पुनः स्थापना के दर्शन होते हैं। सन्त तुकाराम के काल तक भागवत-धर्म पारमार्थिक समता निर्माण करके मौन हो गया था। धार्मिक क्षेत्र में ऊँच-नीच का भेद-भाव तथा अस्पृश्यता के बन्धन अब भी विद्यमान थे।[1] सन्त तुकाराम ने इन्हीं सामाजिक एवं धार्मिक विषमताओं को मिटाने के लिए जयदेव की शृंगार-बहुल भक्ति को न अपनाकर सर्वव्यापी प्रेम पर आधारित निष्काम भक्ति को मान्यता दी। तुकाराम के विराणी (विरहिणी) अभंगों में यद्यपि कृष्ण की लीलाओं के अन्तर्गत मन-तन सम्भोग शृंगार का भी दर्शन होता है पर ऐसा वर्णन अपेक्षाकृत बहुत ही कम है तथा पौराणिक परम्परा के निर्वाह के लिए ही हुआ है, क्योंकि जहाँ एक ओर शृंगार का वर्णन है वहाँ दूसरी ओर कृष्ण की बाल-लीलाओं का भी विशद वर्णन मिलता है। तुकाराम की कृष्ण भक्ति में कृष्ण का परब्रह्म-रूप ही मुख्य है और नटवर रूप गौण।

त्याचि पंथे माझे लागले से चित्त।
वाट पाहे नित्य माहेराची॥
तुका म्हणे आतां येतील न्यावया।
अंगे आपुलिया मायबाप॥[2]

(उसी मार्ग की ओर मेरी आँखें लगी हुई हैं और मैं नित्य मायके की यह सोचकर प्रतीक्षा करती रहती हूँ कि मुझे ले जाने के लिए अब माँ-बाप आते ही होंगे।)

उपर्युक्त अभंग में जीव-रूपी दुलहिन की मायके जाने की व्यग्रता में माता-पिता का भगवान् में बहुत ही सुन्दर निरूपण हुआ है। तुकाराम की रखुमाई और जयदेव की राधा में निरूपण का यह अन्तर स्पष्ट अभिलक्षित होता है। जयदेव की राधा परवर्ती कल्पनाओं के अनुसार जीव का प्रतीक मान लेने पर भी शारीरिक सुख की अनुगामिनी है, अतः जयदेव की भक्ति लौकिकता के धरातल पर एक आध्यात्मिक प्रयत्न है पर तुकाराम का प्रेम शारीरिक वासनाओं पर आधारित न होकर एक आध्यात्मिक साधना है जिसका सम्बन्ध इन्द्रियों से न होकर परमार्थ से प्रतीत होता है। यही कारण है कि जयदेव की भाँति तुकाराम में नायिका भेद एवं दूती की कल्पना के दर्शन नहीं होते।

(आ) अवतारों की मीमांसा तथा कृष्ण-कथा, विष्णु-पुराण, भागवत-पुराण इत्यादि के अनुसार लौकिक ग्राम-देवताओं की कल्पना का आर्य-देवमाला में समावेश

विष्णु और कृष्ण के एकीकरण को तथा भारत के विभिन्न आर्येतर विचारों को आत्मसात् करने में पौराणिक अवतारवाद की कल्पना ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उसकी प्रतीति अवतारों की मीमांसा से ही हो सकेगी।

---

१ वैदिक संस्कृति का विकास, तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी पृ० १६६।
२ श्रीतुकाराम महाराजांची सम्पूर्णसार्थ गाथा देगलूरकर कृत, पृ० १४२।

अवतारों की कल्पना अत्यन्त प्राचीन है तथा उसके अस्तित्व के चिह्न किसी-न-किसी रूप में लगभग सभी देशों में उपलब्ध होते हैं। पाश्चात्य देशों में मिस्री, यूनानी तथा ईसाई सम्प्रदायों में अवतार की कल्पना दृष्टिगोचर होती है। इस्लाम का शिया-सम्प्रदाय इमामों में ईश्वरत्व की स्थापना को मानता है तथा अन्तिम युग में आखिरी इमाम मुहम्मद अबुल कासिम के अवतरित होने में भी उनका अटल विश्वास है। इसी धर्म का सुन्नी-सम्प्रदाय नूरे-मुहम्मद सिद्धान्त मुहम्मद के नूर (अथवा तेज) से धर्म-पुरुषों के प्रादुर्भाव का प्रतिपादन करता है। मसीही लोग ईसा के रूप में परमेश्वर का केवल एक ही अवतार मानते हैं। मैक्सिको के लोगों में दस कैदियों में से एक सुन्दर युवक चुनकर उसे तेज्कैटलिपोका का अवतार मानने की प्रथा प्रचलित थी। तिब्बत में दलाईलामाओं में अवलोकितेश्वर अवतरित होता है। यहूदी लोगों में भी अवतार की कल्पना दृष्टिगोचर होती है। प्राचीन यहूदी लोगों का विश्वास था कि बड़े एवं गुणी व्यक्तियों की उत्पत्ति ईश्वर की कृपा से ही होती है। यूनानी लोगों में पुनर्जन्म की मान्यता न होते हुए भी प्रयोजन-विशेष के लिए मानव अथवा अन्य किसी का रूप धारण करने की तथा प्रयोत्पत्ति की अनेक कल्पनाएँ दिखाई पड़ती हैं।[1]

भारत में अवतार की कल्पना सबसे पहले गीता में लक्षित होती है[2] तथा पहला अवतार कृष्ण का सिद्ध होता है। पौराणिक काल में गीता के इसी आधार पर नई अवतारों की कल्पना की गई है क्योंकि प्रत्येक युग में धर्म-पुरुषों का प्रादुर्भाव होता रहा और उनके सम्प्रदाय-विशेष के कारण अवतारों में उनका समावेश आवश्यक समझा गया।[3]

अवतारवाद को जन्म देने वाली मुख्यतः दो प्रवृत्तियाँ प्रतीत होती हैं—देव-स्वरूप जानने की अदमनीय उत्सुकता के कारण असामान्य गुण वाले मनुष्य में ही देवता की कल्पना कर लेना तथा देवताओं से मनुष्य की उत्पत्ति में विश्वास।[4] आदिवासियों में मृत-जनों में दैवीशक्ति की कल्पना तथा परवर्ती काल में आत्मा के अस्तित्व में विश्वास एवं मांत्रिकों द्वारा रोगोपचार में अलौकिक शक्ति की मान्यता ने भी अवतार की कल्पना को पुष्ट किया है।[5]

कुछ विद्वानों के विचार में अवतार की कल्पना का प्रादुर्भाव मसीही, इस्लाम तथा हिन्दू-धर्म में एक साथ हुआ है।[6] पर यह धारणा नितान्त भ्रामक है क्योंकि इन धर्मों के प्रादुर्भाव से काफ़ी पहले अवतार की कल्पना के बीज हमें वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं, यद्यपि अवतार का निश्चित रूप गीता में ही मिलता है। प्राचीन काल में अवतार के अर्थ में 'प्रादुर्भाव' शब्द का प्रयोग होता था।[7] ऋग्वेद में इन्द्र द्वारा मेष का तथा महाभारत में विष्णु द्वारा हंस का रूप धारण करना एक रूप से दूसरा रूप धारण करने में आस्था का

---

१ महाराष्ट्र ज्ञान कोश, पृ० ११७–१८, १५५।
२ गीता, ४/७, ८।
३ महाराष्ट्र ज्ञान कोश, पृ० २६७।
४ ई० आर० ई०, पृ० १९१।
५ वही, पृ० १९१।
६ वही, पृ० १९४।
७ महाराष्ट्र ज्ञान कोश, पृ० २७१।

द्योतक है।[1] एक से अनेक और अनेक से एक रूप धारण करने की इसी मान्यता में सम्भवतः अवतार की कल्पना के बीज निहित हैं। ऋग्वेद में अनेक देवताओं में एकत्व तथा उपनिषदों में परमात्मा की अनेक रूपों में अभिव्यक्ति-विषयक इसी भावना ने सम्भवतः पौराणिक अवतारवाद को जन्म दिया।[2] पाणिनि-काल में ऋतुओं को देवता मानना, स्वर्ण रजत-ताम्र आदि की प्रतिमाएँ तथा मन्दिर बनाकर प्रतिमाओं को पूजना और देव-प्रसाद से पुत्रोत्पत्ति को सम्भव मानना एवं सन्तान का उसी आधार पर नामकरण करना इसी मान्यता का सूचक है।[3]

पहले कहा गया है कि अवतार का स्पष्ट संकेत सर्वप्रथम गीता में उपलब्ध होता है तथा उसका सम्बन्ध पूर्णतः वासुदेव से था। भागवतों की मान्यता के अनुसार भगवान् षड्गुणोपेत हैं तथा उनके दो अवतार होते हैं—आवेशावतार तथा साक्षात्। अहिर्बुध्न्य संहिता में उन्तालीस अवतारों का उल्लेख है।[4] इसके विपरीत प्रचलित सभी अवतार विष्णु के एकीकरण के माध्यम से ब्राह्मण-युग के यज्ञ देवता परब्रह्म विष्णु के रूप में अभिषिक्त हो चुके थे। विष्णु के अवतार की इस स्थापना में शतपथ ब्राह्मण में वर्णित विष्णु का वामन-रूप भी एक महत्त्वपूर्ण सूत्र का काम करता-सा प्रतीत होता है। गीतोक्ति[5] के अनुसार धर्म की स्थापना, सन्तों की रक्षा तथा दुष्टों का दमन अवतार का एक विशिष्ट प्रयोजन माना जाता है और वैदिक-विष्णु में इन विशेषताओं का वर्णन मिलता है।[6] राम और कृष्ण की कथाओं में यही विशेषताएँ होने के कारण उन्हें विष्णु का अवतार माना जाने लगा।[7] पुराणों में विष्णु के अवतारों की भिन्न-भिन्न संख्याएँ निश्चित की गई हैं तथा उनके क्रम में भी समानता नहीं है।

'नारायणीय' में विष्णु अथवा नारायण के ६ अवतारों का वर्णन है जिनमें वराह, नृसिंह, वामन, भृगुराम, दाशरथीराम एवं कृष्ण के नाम आते हैं। किन्तु, थोड़ा आगे चलकर एक अन्य स्थान पर यही अवतार दस हो जाते हैं तथा उनमें उपर्युक्त ६ अवतारों के अतिरिक्त हंस, कूर्म मत्स्य तथा कल्कि का भी समावेश हो जाता है। इनमें से हंस कूर्म और मत्स्य के नाम आरम्भ में आते हैं तथा कृष्ण की गणना कल्कि के पहले की जाती है। डॉ० भाण्डारकर के मतानुसार ये चार अवतार बाद में जोड़ दिये गए हैं।[8] उनका अनुमान सही प्रतीत होता है क्योंकि हरिवंश-पुराण में (जो महाभारत का अन्तिम चरण माना जा सकता है) प्रथम ६ अवतारों का ही उल्लेख है। वायुपुराण में पहले बारह अवतारों की चर्चा है जिनमें से कुछ सम्भवतः इन्द्र और शिव के अवतार प्रतीत होते हैं। आगे चलकर इन्हीं अवतारों की संख्या दस कर दी गई है जिनमें दत्तात्रेय और वेदव्यास को भी शामिल कर

√१ एलेमेन्ट्स ऑफ अर्ली हिन्दुइज्म, जे० गोंडा, पृ० १२४।
२ वै० शै० भांडारकर, प्रस्तावना पृ० २।
३ इण्डिया एज़ नोन टु पाणिनि, वी० एस० अग्रवाल, पृ० ३३८–३०।
४ भक्ति का विकास, डॉ० मुन्शीराम शर्मा, पृ० ११२।
५ गीता, ४।७–८।
६ अ० हि० ऑफ वै० : राय चौधरी, पृ० १००–१।
७ महाराष्ट्र ज्ञान कोष, २३वाँ खण्ड, पृ० ५११।
८ वै० शै० भांडारकर, पृ० ४२।

किया गया है। वराह-पुराण में उपर्युक्त दस अवतारों का उल्लेख है जिसका अनुसरण अग्नि पुराण भी करता है। भागवत-पुराण के प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में बाईस अवतारों का उल्लेख है। यही संख्या द्वितीय स्कन्ध के सातवें अध्याय में तेईस हो जाती है और एकादश स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में केवल सोलह रह जाती है, जिनमें विष्णु से बिलकुल भिन्न कपिल ऋषभदेव और धन्वन्तरि आदि का भी समावेश किया गया है।[1] विभिन्न पुराणों में अवतारों की विभिन्न संख्या तथा उनमें भिन्न भिन्न अवतारों की गणना से विदित होता है कि वर्तमान पुराणों के रचना-काल तक जितनी भी धार्मिक विचारधाराएँ प्रचलित थीं उनको आत्मसात् करके तथा इस प्रकार उन सबको वैष्णव-धर्म के अन्तर्गत लाकर वैष्णव धर्म को व्यापक रूप देने के लिए ही भागवत-धर्म के आधार पर अवतारवाद को मान्यता दी गई तथा मत्स्य कच्छप वराह, नृसिंह आदि को भी जिनका मूलतः विष्णु से कुछ भी सम्बन्ध न था तथा जो सृष्टि विद्या एवं विकासवाद के प्रतीकमात्र थे अवतार कोटि में स्वीकार कर लिया गया।

विष्णु के दशावतारों में से प्रथम चार अवतार मनुष्येतर की कोटि में आते हैं तथा अन्तिम छः मानवीय कोटि में।[2] दशावतारों के इस क्रम से विकासवाद का क्रम लक्षित होता है।

विकासवाद की दृष्टि से मत्स्य का सर्वप्रथम स्थान माना जा सकता है क्योंकि मत्स्य जल का जीव है और जीवन जल में निहित है। अतः सृष्टि के निर्माण में प्राणतत्त्व की दृष्टि से मत्स्य सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण है। शतपथब्राह्मण[3] में जलप्लावन द्वारा देव-सृष्टि का विनाश एवं मनु द्वारा मानव-सृष्टि के निर्माण में मत्स्य विशेष रूप से सहायता करता है। दूसरे शब्दों में जल प्लावन के पश्चात् प्राण-रूप में मत्स्य का अस्तित्व है और वही मनु का जो प्रजापति भी कहलाते हैं मानव-सृष्टि के बीज-रूप में बनाए रखता है। ब्राह्मण-वर्णित मत्स्य की कथा वस्तुतः ऐतिहासिक रूप में घटित जल-प्लावन की वास्तविक घटना प्रतीत होती है।

मत्स्य

प्रलय की कथा यहूदियों के 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' तथा मिस्र और भारत के कथा-साहित्य में भी मिलती है।[4] इसके अतिरिक्त प्रलय की चर्चा बेबिलोनिया की गिल्गमेश-कथा में बेबिलोनियन बेरोसस-कृत वर्णन में मिस्र की प्रलय-कथा में (जिससे सेम-मनुष्यों के पिता का सम्बन्ध है) और यूनान के पौराणिक वर्णन में भी मिलती है।[5] अक्कादी प्रलय-कथा और ब्राह्मण-वर्णित कथा में कई बातों में साम्य है। अक्कादी कथा के अनुसार शुरिप्पक के देवता प्रलय कराते हैं। आ (Ea) बुद्धि-देवता प्रलय की चेतावनी सितनापिस्ती (Sitnapisti) को देती है तथा एक सुदृढ़ नाव बनाकर उसमें सृष्टि के समस्त बीज सुरक्षित रखने के लिए कहती है। सितनापिस्ती आ के आदेशानुसार नाव बनाता है तथा एक बड़ा यज्ञ किया जाता है जिसमें

जल-प्रलय-कथा

१ जे० से० मोदरकर, पृ० ४२ ।
२. एलेमेण्ट्स ऑफ़ अर्ली सिविलाइज़ेशन, जे० मोत्र, पृ० १२४-२५ ।
३ शतपथब्राह्मण, १।८।१ ।
४ भक्ति का विकास डॉ० मुंशीराम शर्मा, पृ० ४०४ ।
५. प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, डॉ० रांगेय राघव, पृ० १३५।

बैल भेड़ हास बारपी आदि की आहुति दी जाती है। नाव में सृष्टि के बीज अपनी पत्नी और कुछ दास-दासियों को लेकर वह प्रलय की प्रतीक्षा करता है। दूसरे दिन से प्रलय आरम्भ हो जाता है और छः दिन तक होती रहती है। सातवें दिन प्रलय का जोर कम होने लगता है। षितनापिस्ती की नाव निजीर पर्वत शिखर (Mount Nigir) पर आ लगती है। प्रलय समाप्त होने और पृथ्वी के फिर से उभर आने पर षितनापिस्ती पुनः यज्ञ करता है तथा बलि चढ़ाता है। यज्ञ पर देवता मक्खियों की तरह छा जाते हैं। बेल-देवता षितनापिस्ती की नौका देखकर क्रुद्ध होता है। ईआ (बुद्धि-देवता) उससे झगड़ती है और कहती है कि भविष्य में दण्ड देने के लिए प्रलय की अपेक्षा हिंस्र-जन्तु, अकाल एवं रोगों की योजना होनी चाहिए। वह यह भी कहती है कि प्रलय-विषयक देवताओं की मन्त्रणा का भेद उसने नहीं प्रकट किया था वरन् उसने षितनापिस्ती को केवल स्वप्न दिया था। इस पर बेल प्रसन्न होता है और षितनापिस्ती दम्पति को आशीष देता है।[1]

महाभारत में वर्णित कथा के अनुसार मनु प्रसिद्ध तपस्वी हैं। वे चारिणी नदी के तट पर तपस्या में रत हैं जहाँ उन्हें एक छोटी-सी मछली के दर्शन होते हैं। उसकी प्रार्थनानुसार वह अन्य बड़ी मछलियों से उसकी रक्षा करने के लिए उसे क्रमशः घट बावड़ी तथा गंगा और समुद्र में छोड़ देते हैं। यही मत्स्य मनु को प्रलय की सूचना देता है तथा विपत्ति काल में उनकी सहायता करने के लिए स्वयं प्रकट होने का आश्वासन देता है। मत्स्य के आदेशानुसार मनु नाव बनाकर उसमें सृष्टि के समस्त बीजों सहित सप्त-ऋषियों को लेकर मत्स्य की प्रतीक्षा करते हैं। मत्स्य महामत्स्य के रूप में प्रकट होता है तथा अपने सींग से मनु की नाव बँधवाकर प्रलय-काल में नाव की रक्षा करता है तथा जल घटते ही नाव को उत्तर गिरि की चोटी पर पहुँचा देता है। महामत्स्य अपना ब्रह्मा होना प्रकट करता है तथा मनु को सृष्टि-कर्त्ता के रूप में नियुक्त करता है।[2]

भागवत-पुराण में इसी कथा का स्वरूप बदल जाता है। इस कथा में प्रलय ब्रह्मा की निद्रावस्था में होती है जब हयग्रीव नामक राक्षस वेदों को चुरा ले जाता है। हरि एक छोटी-सी मछली का रूप धारण कर लेते हैं तथा इस रहस्य को सत्यव्रत नामक एक तपस्वी राजा के सम्मुख प्रकट करते हैं, जो केवल जल पर निर्वाह करता था। मत्स्य की वृद्धि अपने आप होती है और वह कई योजन लम्बा बन जाता है। सत्यव्रत के पास नाव आ जाती है जिसमें मन्त्रद्रष्टा ऋषि बैठे निरन्तर मन्त्रोच्चार करते रहते हैं। अन्त में हरि हयग्रीव का वध करते हैं और वेदों का उद्धार करते हैं। सत्यव्रत को दैवी एवं मानवीय सृष्टि विषयक ज्ञान का दाता था सातवाँ मनु नियुक्त होता है। यहीं मत्स्य को माया भी माना गया है।[3]

काल्डिया-असीरिया कथा के अनुसार प्रलय से पहले ही जिसुथ्रोस राजा को मत्स्य देवता ओनीज ने सचेत कर दिया था कि प्रलय आने वाली है अतः बाबू की पुस्तकें वह सूर्य के नगर सिप्पारा में छिपा दे।[4]

---

१ ई० आर० ई०, पृ० ५५०।
२ महाभारत गीता प्रेस, ३ १८७ ई० आर० ई०, पृ० ५५५।
३ वही, पृ० ५५६।
४ प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास पृ० ११८।

उपर्युक्त कथाओं से स्पष्ट विदित होता है कि सेमेटिक जातियों की प्रलय-कथाओं और भारतीय प्रलय-कथा में कई बातों में साम्य है। प्रलय सम्भवतः यह ऐतिहासिक घटना है जो आर्यों के भारत में सर्वप्रथम प्रवेश करने के लगभग हुई थी तथा उनके विभिन्न भागों में बस जाने से ही यह कथा पूर्व-स्मृति के रूप में कालान्तर में होने वाले परिवर्तन को आत्मसात् किए चली आ रही है। शतपथब्राह्मण में वर्णित कथा निश्चय ही मूल रूप से सम्बद्ध है। इतना अवश्य है कि शतपथब्राह्मण में मत्स्य को प्रजापति का रूप कहा गया है। कथा का लगभग यही रूप महाभारत में बना रहता है। स्पष्ट ही इस कथा में अवतार का कोई भी संकेत नहीं है। भागवत-पुराण में अवश्य हरि की कल्पना है तथा मत्स्य-रूप को माया कहा गया है। हयग्रीव द्वारा वेदों का चुराया जाना एक महत्त्वपूर्ण पौराणिक कल्पना है जो अपना साथ ही समस्त कथा को विष्णु के अवतार से सुसम्बद्ध कर बैठी है क्योंकि वेद धर्म हैं, उनका हरण धर्म का लोप होना है। हरि द्वारा हयग्रीव का वध और वेदों को ले आना, दुष्टों का दमन और धर्म की संस्थापना का द्योतक है। मत्स्यावतार की पौराणिक कल्पना का आधार ऋग्वेद में भी खोजा जा सकता है। वेद में वर्णित नारायण का सम्बन्ध नार से है तथा समस्त जलमय सृष्टि में जो सृष्टि का पूर्वरूप कहा जा सकता है प्रलय-रूप में केवल एक ही नारायण का अस्तित्व अवशेष रहने के कारण मत्स्य को विष्णु का अवतार मान लिया गया, क्योंकि विष्णु ने भी सृष्टि को मानव के रहने योग्य बनाया था। मनु द्वारा सृष्टि की रचना और मत्स्य द्वारा उन्हें बचाने में भी पुराणकार सरलता से नारायण और ब्रह्मा की कल्पना कर लेते हैं। अवतार की कल्पना पौराणिक काल की सृष्टि है और पुराण हैं स्मृति। अतः उनमें निहित कल्पनाएँ प्राचीन मान्यताओं पर आधारित हैं। 'ओल्ड टेस्टामेंट' तथा मिस्र और अरब के कथा-साहित्य में जलप्लावन की चर्चा तथा सेमेटिक लोगों में देवता मनुष्य पशु और वनस्पति के एक समाज की कल्पना[1] आदि-सृष्टि सम्बन्धी कई प्राचीन विश्वास साम्य की द्योतक है। पांचरात्र-धर्म के अन्तर्गत अर्चावतार की कल्पना भी इसी विचारैक्य का समर्थन करती है। पहले कहा जा चुका है कि असीरिया भाषा के अनुसार ओनीज एक मत्स्य देवता है जो जिसुथ्रोस को प्रलय के विषय में पहले से ही संकेत कर देता है।[2] भारत में मत्स्य देवों की निन्दा करते हैं तथा उन्होंने प्रार्थना की है—"हमें देवों से बचाओ। वे हमें मारना चाहते हैं।"[3] इतना ही नहीं परवर्ती काल में मत्स्य राज्य का भी उल्लेख मिलता है।[4] स्पष्ट ही मत्स्य देव जाति अर्थात् आर्यों के शत्रु हैं। अतः मत्स्यावतार की कल्पना में आर्येतर विश्वासों का समावेश प्रतीत होता है।

प्राचीन सेमेटिक धर्मों में देव, मनुष्य पशु एवं वनस्पति के एक समाज की स्थापना एवं बालिलया में मत्स्य देवता ओनीज की कल्पना तथा ऋग्वेद[5] में मत्स्यों द्वारा देवों की निन्दा से प्रतीत होता है कि मत्स्यावतार की कल्पना आर्यों की

सेमेटिक प्रभाव

धार्मिक मान्यताओं पर आधारित न होकर सेमेटिक कल्पनाओं

१ ई॰ आर॰ ई॰ पृ॰ १५१।
२ प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास पृ॰ १८५।
३ कार्नेगिज कमन्टर ऑन द मिनि-स्टिरियल टेक्स्ट्स-१, पृ॰ १५०–५१।
४ प्रा॰ भा॰ परम्परा और इतिहास पृ॰ ५१।
५ कार्नेगिज कमन्टर ऑन द मिनि-स्टिरियल टेक्स्ट्स-१, पृ॰ १५०–५१।

से प्रमाणित है, क्योंकि पुराणों के रचना-काल तक भारत पश्चिमी देशों के सम्पर्क में आ चुका था अतः कदाचित् भारतीय विचारधारा पर पाश्चात्य विश्वासों का प्रभाव पड़ा हो। इसी सम्भावना को स्वीकार करते हुए डॉ॰ भांडारकर ने गोपाल-कृष्ण को आभीर देवता कह कर उनमें ईसा मसीह का प्रभाव देखा है।[1] यद्यपि यह सत्य है कि पुराणों में विभिन्न विचारधाराओं को आत्मसात् करके वैष्णव धर्म को व्यापक रूप देने की प्रबल प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है तथापि इस समन्वयवाद में पुराणकारों का कार्य-क्षेत्र केवल भारतीय धार्मिक विचारधाराओं तक ही सीमित रहा है। अतः मत्स्यावतार की कल्पना में सेमेटिक प्रभाव देखना युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। मत्स्य की कल्पना पौराणिक काल की ही कल्पना नहीं है, जो विदेशी कही जा सके वरन् उसकी कथा पौराणिक काल से बहुत पहले शतपथ ब्राह्मण में मिलती है। शतपथ ब्राह्मण से भी पहले प्रागैतिहासिककालीन मोहेनजोदड़ो-संस्कृति के ज्योतिषशास्त्र में मत्स्य आठ ग्रहों में से एक था तथा उसे परमेश्वर का नेत्र माना जाता था।[2] मोहेनजोदड़ो के एक शिलालेख के अनुसार आन्धपुर देवता जिसका सिर सींगोंवाली मछली का और धड़ भेड़ का था परमेश्वर का रूप माना जाता था।[3] एक शिलालेख में शिव का 'मीनाक्ष' कहकर वर्णन किया गया है तथा एक अन्य लेख में 'मीनाक्षम' द्वारा शिव को स्पष्ट रूप से परमेश्वर के रूप में सम्बोधित किया गया है।[4]

मोहेनजोदड़ो की सभ्यता आर्यों से भी प्राचीन भारतीय सभ्यता मानी जाती है। अतः उपर्युक्त आधारों से सिद्ध होता है कि आर्यों से पहले मोहेनजोदड़ोकालीन प्राच्य जाति शिव की उपासक थी तथा उनकी धार्मिक कल्पनाओं में मत्स्य का महत्त्वपूर्ण स्थान था। पहले काल में देवासुर-संग्राम में भारत के यही आदिवासी प्राच्य असुर अथवा दानव रहे होंगे जिन पर विजय प्राप्त करने के लिए वैदिक आर्य समय-समय पर देवताओं की स्तुति करते हुए दिखाई देते हैं। इन देशज आदिवासियों के प्रति विरोध एवं द्वेष के कारण ही इन वर्गों को कालान्तर में आर्यों द्वारा 'दानव' अथवा 'असुर' सम्बोधन मिले। इन दो विभिन्न सभ्यताओं के धार्मिक विरोध के दर्शन महाभारत-काल तक होते हैं। पहले कहा जा चुका है कि महाभारत-काल के कालनेमि जरासंध शिशुपाल कंस आदि शिव के उपासक थे। कृष्ण और कंस का परस्पर सम्बन्ध महाभारत के बहुत पूर्व इन दो सभ्यताओं के एकीकरण का द्योतक प्रतीत होता है, यद्यपि धार्मिक मान्यताएँ आज के शैव और वैष्णव मत की भाँति तब भी बनी हुई थीं। गीता में कृष्ण का अपने को रुद्रों में शंकर कहना इसी मतान्तर के अस्तित्व की पुष्टि करता है।[5] महाभारत में मत्स्यराज और मछली के गर्भ से मत्स्यगन्धा की उत्पत्ति भी इन दोनों सभ्यताओं के आपस में घुलमिल जाने की प्रतीक है।[6] पौराणिककाल तक आकर यह धार्मिक विभिन्नता भी मिलजुल गई-सी प्रतीत होती है क्योंकि स्कंद-पुराण[7] में शिव और

१ वै॰ शै॰ भांडारकर, पृ॰ ११।
२ दि रेलिजिन्स ऑफ् इंडिया ए॰ पी॰ करमरकर, खण्ड १, पृ॰ १४६।
३ वही।
४ वही।
५ गीता १०।२३।
६ महाभारत आदिपर्व, अ॰ ६०।
७ स्कन्द-पुराण, माहेश्वर खण्ड, अ॰ १०।

मत्स्य ग्रह का बहुत ही निकट का सम्बन्ध माना गया है तथा शिव को मीन या 'मीनाधिपति' कहकर सम्बोधित किया गया है। वामन-पुराण में सभी सागरों वेदों देवताओं एवं ब्राह्मणों के आवासों में दो मत्स्यों का होना माना गया है।[१] कालिका-पुराण में पुनर्जीवित होने पर काम द्वारा मणिकूट पर्वत पर मत्स्यरूप शिव की मूर्ति की स्थापना का वर्णन है।[२] स्कन्द-पुराण में प्रयाग मत्स्य के अब भी विद्यमान होने का उल्लेख है।[३] विष्णुधर्मोत्तर पुराण में कहा गया है कि कश्मीर तथा अन्य देश में मत्स्य की पूजा होती है।[४]

उपर्युक्त उल्लेखों से सिद्ध होता है कि पौराणिक काल की मत्स्यावतार की कल्पना विदेशी मान्यताओं की थाती नहीं है अपितु कथा का सूत्र भारत की ही प्राचीन मान्यताओं में उपलब्ध होता है। शतपथ ब्राह्मण में वर्णित जल-प्लावन-कथा में प्राचीन वैदिक मान्यता को स्वीकार करके मत्स्य द्वारा मनु की रक्षा कराई गई है। पर स्पष्ट ही समस्त कथा में मत्स्य का महत्त्व गौण रखकर मनु को ही प्रजापति के रूप में महत्त्व दिया गया है। महाभारत में मत्स्य पर जो पूर्णरूपेण अनार्य कल्पना थी उसमें देवता प्रजापति का संस्कार करके आर्य पूर्व प्राचीन जातियों की धार्मिक कल्पना को मान्यता दी गई-सी प्रतीत होती है तथा इस मान्यता में गौण रूप से आर्यों एवं अनार्यों का धार्मिक समझौता प्रतीत होता है। महाभारत के प्राचीन अंशों में शैव-सिद्धान्तों का अभाव तथा परवर्ती अंशों में नारायण के साथ शिव का महत्त्व शैव एवं ब्राह्मण मतों के आरम्भिक विरोध एवं परवर्ती समाधान का समर्थन करता है। पौराणिक-काल तक आकर यह धार्मिक समन्वय पूर्णरूपेण घुल-मिल जाता है तथा विष्णु की परमेश्वर पद पर स्थापना से प्राचीन मत्स्य में अनार्य विश्वास के आरोपण के फलस्वरूप मत्स्य को विष्णु का ही अन्य रूप मान लिया जाता है। इस मान्यता में फिर एक बार आर्य-देवमाला में अनार्य-कल्पनाओं को समाविष्ट करने का प्रयत्न अभिलक्षित होता है। यह प्रयत्न किसी पाश्चात्य परवर्ती मत से प्रभावित नहीं है वरन् इसी देश में परम्परा से चली आई दो विभिन्न विचारधाराओं के एकीकरण का अन्तिम चरण प्रतीत होता है। इस तरह हम देखते हैं कि शतपथ ब्राह्मण में वर्णित मत्स्य-कथा की कल्पना आर्यों से पूर्व यहाँ के आदिवासियों के मत्स्य देवता से सम्बन्धित है।[५] बौद्ध एवं जैन-धर्मों में मकर की मान्यता भी मत्स्य की कल्पना का विदेशी न होकर भारतीय होना सिद्ध करती है तथा महाभारत में स्वयंवर के समय अर्जुन द्वारा मत्स्य-वेध भी इसी मत की पुष्टि करता है।

मत्स्यावतार की कल्पना में मत्स्य-सम्बन्धी प्राचीन विश्वास विशेष रूप से सहायक हुए हैं। मोहेनजोदड़ो के एक शिलालेख में वसन्त ऋतु के मत्स्य का उल्लेख है। फादर हेरास के मतानुसार यह सम्बोधन परमेश्वर की प्रजनन-शक्ति का प्रतीक है जो मुख्यतः वसन्त ऋतु में व्यक्त होती है।[६] मत्स्य का उत्पत्ति का प्रतीक होना एलोरा के कैलास-मन्दिर और कन्नड़ देश की एक जाति में प्रचलित प्रथा से भी सिद्ध होता है। इस प्रथा के अनुसार

१ वामन-पुराण अ० ५, ६६।
२ कालिका-पुराण, अ ८१, ५०-५१।
३ स्कन्द-पुराण, ७-१, अ० ११२, २ १२।
४ विष्णुधर्मोत्तर-पुराण तृतीय खण्ड, अ० १२१ ६।
५ दि रैलिजियस लाइफ ऑफ इंडिया : पी० भण्डारकर पृ० १५०।
६ वही, पृ० १५१।

वर-वधू विवाह होते ही नदी के किनारे जाते हैं। वधू अपना बुना हुआ जाल नदी में डालकर मछली पकड़ती है तथा दोनों उसे चूमकर छोड़ देते हैं। उनका विश्वास है कि ऐसा करने से सन्तान पैदा होती है।[1] अतः हम देखते हैं कि प्राचीन विश्वासों के अनुसार उत्पत्ति से मत्स्य का विशेष सम्बन्ध रहा है। आर्यों के विष्णु भी उर्वरता से सम्बन्धित देवता हैं—जीवन के देवता हैं। इस प्रकार मत्स्य और विष्णु दोनों का सम्बन्ध उत्पत्ति से है। मैक्डोनेल के मतानुसार मत्स्य लोगों का जाति-नाम मीन उनकी अत्यधिक समुद्र-यात्राओं के कारण पड़ा था तथा उनका चिह्न भी मत्स्य या मीन ही था।[2] सम्भवतः प्राचीन मत्स्य लोगों की इस विशिष्टता से ही पौराणिक अमृत-मन्थन कथा सम्बन्धित है। मत्स्य-जाति के समुद्र-यात्रा में पारंगत होने के कारण ही वैदिक आर्य अमृत-मन्थन के समय उनका सहयोग प्राप्त करते हैं तथा समुद्र-यात्रा द्वारा जीवनोपयोगी वस्तुओं को प्राप्त करके भारत को भी समृद्धि से परिपूर्ण कर देते हैं। देवताओं का अमृत-पान विष्णु का लक्ष्मी को अंगीकार करना और शिव का विष पी जाना अमृत-मन्थन के पश्चात् आर्यों के हाथों अनार्य जातियों के पराजित होने का प्रतीक जान पड़ता है।

कूर्म

कूर्म की कथा शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणों में मिलती है।[3] इस कथा में सृष्टि रचना के लिए उद्यत प्रजापति जल में विचरण करने वाले कूर्म का रूप धारण कर लेते हैं।[4] यही कूर्म पुराणों में विष्णु का अवतार मान लिया जाता है तथा उसकी स्थापना प्रलय में खोई हुई वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए की जाती है। समुद्र-मन्थन के समय मथनी मेरु पर्वत है जो एक दृष्टि से सृष्टि की धुरी है। रस्सी के अनन्त-रूप वासुकि जो नारायण का रूप है।[5] जिस वस्तु पर मंदराचल अथवा मेरु आधारित है वह है कूर्म अथवा विष्णु। इस प्रकार कूर्म सृष्टि का केन्द्र है। अन्य विश्वासों के अनुसार यही पृथ्वी को वहन किये हुए है। समुद्र मन्थन से प्राप्त वस्तुओं की संख्या निश्चित नहीं है पर उनमें से मुख्य हैं—चन्द्र लक्ष्मी सुरा धृत उच्चैःश्रवा कौस्तुभ पारिजात अप्सरा सुरभि धन्वन्तरि, अमृत ऐरावत शंख कुण्डल। स्पष्ट ही यह कथा सृष्टि-रचना का रूपक है। कूर्म जो मेरु का आधार है रूपाकार में पृथ्वी का प्रतीक है। सृष्टि रचना में सर्वप्रथम पृथ्वी उत्पन्न होती है। पृथ्वी की उत्पत्ति पर ही अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति आधारित है। अतः रत्न समृद्धि के प्रतीक हैं। दूसरी बात यह है कि कूर्म जल और थल दोनों पर रहने वाला प्राणी है। इस दृष्टि से भी कूर्म में सृष्टि के विकास का संकेत मिलता है।[6] स्वयं याज्ञवल्क्य ने भी कूर्म का अर्थ रस आदित्य और प्राण माना है।[7] रस जल का प्रतीक आदित्य आकाश का और प्राण जो वायु-रूप है अन्तरिक्ष का प्रतीक है। अतः यह समस्त सृष्टि कूर्म-रूप है। दूसरे शब्दों में कूर्म के दोनों कपाल

१ दि रेलिजियन्स ऑफ इंडिया ए० पी० करमरकर, पृ० १२१।
२ वही पृ० १२२।
३ शतपथ ७।५।१।५ तैत्तिरीय १।१०७।
४ वैदिक माइथोलोजी मैक्डोनेल, पृ० ४१।
५ महाभारत, १।१८।१२।
६ आस्पेक्ट्स ऑफ अर्ली विष्णुइज्म ए० गोंडा पृ० ११८।
७ भक्ति का विकास, पृ० २४३।

पृथ्वी और द्युलोक हैं जिनके बीच है अन्तरिक्ष। इस प्रकार कूर्म ब्रह्माण्ड का लघु रूप है। मार्कण्डेय पुराण में कूर्म को मनुष्य के लिए आदर्श माना गया है जो अपनी समस्त इन्द्रियों को सृष्टि-व्यापार से संकुचित करके आत्मानन्द में लीन रखता है। कूर्म का यह स्वभाव भी कूर्मावतार की कल्पना में सहायक होता है क्योंकि भगवान् वासुदेव प्राणिमात्र में व्याप्त होकर भी उससे तटस्थ हैं।[1] अमृत-मन्थन की कथा और रत्नों की प्राप्ति में देव-सृष्टि के नाश के पश्चात् समृद्धि की पुनः प्राप्ति की स्थापना है। विष्णु का मोहिनी रूप इसी समृद्धि के सम्मोहन का प्रतीक है तथा अमृत में सृष्टि के पोषण-तत्त्व का समावेश है। कूर्म सृष्टि स्वरूप है और विष्णु में सृष्टि का अधिवास है। याज्ञवल्क्य के मतानुसार कूर्म रस आदित्य और प्राण है जो क्रमशः जल आकाश और अन्तरिक्ष के सूचक हैं। ये तीनों लोक वैदिक विष्णु के त्रिपाद से नाप लिए थे। अतः प्राचीन साहित्य में कूर्मावतार का संकेत न होते हुए भी कल्पनाओं में साम्य होने के कारण कूर्म को विष्णु का अवतार मान लिया गया।

अमृत-मन्थन की पौराणिक कथा एक अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक घटना का प्रतीक है। असुर आर्येतर जातियाँ हैं। आर्य अथवा देव तथा असुरों का मिलकर समुद्र-मन्थन करना भूखण्ड के देशों का पर्यटन एवं उन पर विजय प्राप्त करने का

अमृत-मन्थन की कथा प्रतीक है। अमृत-मन्थन की कथा से सम्बन्धित कूर्म की कल्पना में पृथ्वी के कूर्माकार होने के विषय में मनुष्य द्वारा उपलब्ध बोध प्रकट होता है। अमृत-मन्थन से अमृत की प्राप्ति तथा देवों का उसे आपस में बाँटकर अमर बन जाना प्रथम के पश्चात् भारत में आर्यों का देशज जातियों पर प्रभुत्व प्राप्त करके भारत में अबाध रूप से बस जाने का द्योतक है।[2] अमृत-मन्थन के पश्चात् अमृत के विभाजन के लिए देव-असुर-युद्ध इसी सार्वभौम प्रभुता को अधिकृत कर लेने का प्रयत्न है। देवासुर-युद्ध में असुर देवों द्वारा मारे जाते हैं तथा शेष असुर भाग जाते हैं। राहु के अमृत-पान तथा अमर होकर सूर्य को ग्रसने में भी एक ऐतिहासिक अस्तित्व का दर्शन होता है। सूर्य वनि बायत आर्य-देवता है। असुरों के पराजित होने पर भी सम्भवतः एक अत्यन्त बलशाली असुर जाति बच गई थी जो आर्यों के विस्तार में बाधा बनी हुई थी। वामन-अवतार में बलि की कथा इसी असुर शक्ति के अस्तित्व का समर्थन करती है जिसका फिर एक बार दमन वामन के हाथों होता है। अमृत-मन्थन के पश्चात् देव-असुर-युद्ध में देवों के हाथों असुरों की पराजय एवं आर्यों की स्थापना में अवतारवाद की झलक के दर्शन होते हैं। सम्भवतः इसी लिए अमृत-मन्थन से सम्बन्धित कूर्म में जो पूर्वरूपेण पृथ्वी से सम्बन्धित था विष्णु का संस्कार समाविष्ट करके पौराणिक-काल में कूर्मावतार की कल्पना कर ली गई।

सृष्टि के विकास की दृष्टि से तीसरा क्रम है वराहावतार। वराह भूमध्य स्थल का वासी है तथा कन्द-मूलादि वनस्पति खाकर निर्वाह करता है। मत्स्य जल का निवासी है,

वराह

अतः जलमय सृष्टि में जलचर के रूप में आदि-जीव की उत्पत्ति का प्रतीक है। कूर्म में जल के पश्चात् थल का संकेत है तथा वराह की कल्पना में पृथ्वी के जल से बाहर निकल आने तथा उस पर

---

१ आस्पेक्ट्स ऑफ़ अर्ली विष्णुइज्म, जे० गोंडा, पृ० १२७ ।

२ आस्पेक्ट्स ऑफ़ अर्ली विष्णुइज्म, जे० गोंडा, पृ० १२८ ।

अवतारों की उत्पत्ति की स्थापना है।[1] विद्वानों का मत है कि विष्णु के वराह-रूप धारण करने का बीज शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता में विद्यमान है।[2] ऋग्वेद में विष्णु ने क्षीरपाक तथा एक सौ महिषों को ग्रहण किया था जो वस्तुतः एमुष नामक वराह की सम्पत्ति थे।[3] शतपथ ब्राह्मण में यही एमुष नामक वराह पृथ्वी को ऊपर उठा लेता है। तैत्तिरीय संहिता में पृथ्वी को ऊपर उठाने वाला वराह प्रजापति का रूप है। पुराणों में यही प्रजापति विष्णु का रूप बन जाता है।[4]

विश्वेत् ता विष्णु राभरदुरुक्रमस्त्वेषित:
शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम् ॥[5]

के अनुसार विष्णु जीवों के प्रेम से प्रेरित होकर मनुष्य के लिए क्षीरपाक, ओदन तथा सैकड़ों महिष नाम के पशु आदि अथवा जड़ी-बूटियाँ संसार में भर देते हैं। स्पष्ट ही इस मन्त्र में न तो कहीं वराह अवतार है और न ही उसमें पौराणिक कथा का कोई संकेत मिलता है।[6]

शतपथ ब्राह्मण में वैदिक 'एमुष' शब्द का विग्रह करके अर्थ किया गया है तथा यज्ञ के लिए वराह द्वारा खोदी हुई मिट्टी को लाने का वर्णन है। इसी ब्राह्मण में यह भी वर्णन किया गया है कि जल में से निकली हुई पृथ्वी परिमाण में उतनी ही थी जितनी पृथ्वी खोदने वाले शूकर के थूथने पर होती है।[7] यहाँ स्पष्ट रूप से जल में से निकली हुई पृथ्वी को वराह के थूथने पर चिपकी हुई मिट्टी के रूपक द्वारा समझाने का प्रयत्न लक्षित होता है।[8] शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ के लिए तीन प्रकार की मिट्टी पवित्र मानी गई है—वल्मीक-वपा, वराहखात एवं अग्निखात तथा इन्हीं से यज्ञ के लिए पिण्ड बनाए जाते हैं।[9] इस प्रकार हम देखते हैं कि शतपथ ब्राह्मण में वराह-अवतार का कोई भी संकेत नहीं है। वैदिक साहित्य एवं ब्राह्मण-ग्रन्थ में शूकर के उल्लेख से इतना अवश्य सिद्ध होता है कि वराह की कल्पना वेदों से भी प्राचीन है एवं अनार्य विश्वासों को सूचित करती है।[10] सीवेल का कहना है कि मोहेनजोदड़ो की खुदाई में मिले हुए कंकाल भारतीय शूकर के ही कंकाल हैं। अतः सीवेल का अनुमान है कि भारत के आदिवासी प्रागैतिहासिक-जन कुत्तों की सहायता से शूकर का शिकार करके उसका मांस खाते थे।[11] सीवेल का अनुमान शिशु-कल्पना-सा प्रतीत होता है। शूकर के प्राचीन कंकाल तत्कालीन आहार पर प्रकाश न डालकर शूकर के महत्त्व की ओर संकेत करते हैं। शूकर के इस प्राचीन महत्त्व के कारण ही सम्भवतः तैत्तिरीय

---

१ भक्ति का विकास—डॉ॰ मुन्शीराम शर्मा, पृ॰ १४६।
२ शतपथब्राह्मण १४।१।२।११, तैत्तिरीय संहिता, ७।१।५।१।
३ ऋ॰ ८।७७।१।
४ भागवत धर्म—बलदेव उपाध्याय, पृ॰ ८६।
५ ऋ॰ ८।७७।१०।
६. भक्ति का विकास, पृ॰ १४८।
७ भक्ति का विकास, पृ॰ १४८।
८. वही।
९ वही।
१० आस्पेक्ट्स ऑफ अर्ली विष्णुइज़्म, जे॰ गोंडा पृ॰ १११।
११ दि रिलिजन्स ऑफ इण्डिया, ए॰ पी॰ करमारकर, पृ॰ १८२।

संहिता में वराह को प्रजापति का रूप कहकर सूकर-सम्बन्धी विश्वासों को मान्यता दी गई। कुषाण द्वारा मथुरा में लंका की वराह मूर्ति की स्थापना वराह-सम्बन्धी इसी प्राचीन विश्वास की पुष्टि करती है।[1] भारत की अनेक जातियों में आज भी सूकर पवित्र माना जाता है। बम्बई की प्रभु जाति जंगली सूकर को देवता समझकर वर्ष में एक बार उसका मांस खाती है।[2] पश्चिम भारत के मवारी लोगों की मान्यताओं के अनुसार सूकर का मांस खाने तथा घर में लटकाने से भूत-बाधा का भय नहीं रहता।[3] गंगा के किनारे सूकर क्षेत्र आज भी यात्रा का केन्द्र बना हुआ है जहाँ विष्णु की वराह-मूर्ति की प्रतिष्ठापना होती है।[4] राजपूताना में वसन्तोत्सव के अवसर पर सूकर को मारने की प्रथा थी क्योंकि वह गौरी का शत्रु समझा जाता था।[5] गोंड जाति में बसुदेव के सामने सूकर को काटने की प्रथा है। मध्य युग के हिन्दू फसल की रक्षा के लिए अपने ग्राम-देवता भैंसासुर पर सूकर-बलि चढ़ाते हैं।[6] मरीआबाद की राजगोंड नामक जाति में भी पृथ्वी-देवता पर सूअर की बलि चढ़ाने की प्रथा विद्यमान है। नागा जातियाँ अच्छी फसल होने के लिए अब भी सूअर का मांस खाती हैं।[7] खारिया लोग फसल का एक भाग अपने इष्टदेव खारिया के लिए छोड़ देते हैं जो वराह है।[8]

अथर्ववेद परिशिष्ट के अनुसार सूकर वर्षा का सूचक है।[9] ऋग्वेद में भी सूकर और सोम का सम्बन्ध है।[10] अथर्ववेद मे भी पृथ्वी और सूकर का निकट का सम्बन्ध है।[11]

सूकर-सम्बन्धी पवित्र भावना का दर्शन संसार की अन्य कई प्राचीन जातियों में होता है। मध्य और उत्तर यूरोप की लोक-कथाओं में अवतारकर बड़े दौड़ता हुआ सूकर अनघोर वर्षा अथवा तूफान का सूचक माना जाता था तथा उसके दाँत विद्युत या वज्र के प्रतीक थे।[12] सूकर के विभिन्न अंग औषधि यौवनाभिसार तथा उत्पत्ति के लिए प्रयोग मे लाने की प्रथा थी। प्राचीन जर्मन लोगों में वराह का सम्बन्ध कृषि तथा अन्नदेवताओं से माना जाता था तथा अच्छी फसल इस पर निर्भर मानी जाती थी। इसी जाति में सूकर के सिर की शपथ खाने की भी प्रथा थी।[13] केल्टिक (आयरलैण्ड) लोग सूकरों का सम्बन्ध पृथ्वी-देवता से मानते थे।[14] प्राचीन यूनानी लोगों में सूकर कृषि

वराह में अवतार-भावि

जातियों के पवित्र सूकर की कल्पना

१ दि ऐबोरिजिनल्स ऑफ इण्डिया, ए पी करमरकर, पृ० १८२।
२. वही।
३ वही।
४ वही।
५. मार एनेल्स, भाग पृ० ६६६।
६ फ्लेवर्स ऑफ अर्ली सिन्धुइज्म पृ० १३४।
७ वही, पृ० १३५।
८. दि कारिबास एस० सी० राय एण्ड आर० सी० राय, पृ० ४८८।
९ अथर्ववेद परिशिष्ट, ६६।२।७।
१० ऋ० ८।६९।७।
११ अथर्ववेद १२।१।४८।
१२ फ्लेवर्स ऑफ अर्ली सिन्धुइज्म, जे गोण्डा पृ १४६।
१३ वही, पृ० ११।
१४ वही।

देवताओं से सम्बन्धित माना जाता था[1] तथा शूकर की शपथ खाने की भी प्रथा थी। ग्रीक जाति में डीमेटर (Demeter) नामक कृषि-देवता से सम्बन्धित स्त्रियों का थेसमोफोरिया (Thesmophoria) नामक एक वार्षिक त्योहार होता था जिसमें तरुण शूकरों को जमीन में गड्ढे खोदकर उनमें छोड़ने की प्रथा थी। शूकरों के साथ साँप लकड़ी आदि से बनाई हुई पुरुष के लिंग के आकार की वस्तुएँ बनाकर छोड़ने की प्रथा थी। तत्पश्चात् गड्ढों में से शूकरों का अवशेष मांस निकालकर खेतों में डाला जाता था। उन लोगों का विश्वास था कि ऐसा करने से फसल अच्छी होती है।[2] प्राचीन मिस्री लोगों में यद्यपि धार्मिक क्षेत्र में शूकर अपवित्र माना जाता था तथापि वहाँ भी किसी काल में शूकर मांस का भक्षण माना जाता था तथा उसका सम्बन्ध इसीस (Isis) तथा मातृदेवता नट (Nut) से माना जाता था। बोर्नियो में सन्तान की उत्पत्ति के लिए नव-दम्पति के शरीर पर शूकर का रक्त मलने की प्रथा थी।[3] इण्डोनेशिया के सावू (Savu) द्वीप तथा सेंडविच द्वीप एवं गिनी में भी शूकर सम्बन्धी ऐसे ही कई प्राचीन विश्वास अस्तित्व में हैं।[4] महाभारत में भी कई स्थानों पर डकारने वाले शूकर का उल्लेख मिलता है तथा कहीं-कहीं उसकी तुलना बादलों के गर्जन से की गई है।[5] विष्णु भी बादलों की तरह गरजते हुए काले वराह का रूप धारण करते हुए अंकित किये गए हैं।

उपर्युक्त आधारों से स्पष्ट हो जाता है कि संसार की प्राय सभी प्राचीन जातियों में शूकर पवित्र समझा जाता था तथा उसका सम्बन्ध पृथ्वी कृषि तथा उत्पत्ति से था। सम्भवत शूकर के भूमि खोदने से ही उसका सम्बन्ध पृथ्वी की उत्पादन-शक्ति से माना गया हो। मिम का अनुमान है कि शूकर के इसी स्वभाव से मनुष्य ने जमीन खोदना सीखा है।[6] जर्मन लोक-कथाओं के अन्तर्गत इन विश्वासों के चिह्न अब भी उपलब्ध होते हैं जहाँ भूमि को सृष्टि का पेट अथवा गर्भ कहा गया है।[7] ऋग्वेद में भी सोमरस निकालने के लिए व्यवहृत दो प्रस्तर-खण्डों की (आकार-विशेष एवं परिमाण की दृष्टि से) पुरुष के लिंग एवं स्त्री की योनि से तुलना की गई है।[8] संस्कृत भाषा में 'क्षेत्र' शब्द भूमि, गर्भ एवं पत्नी का अर्थ सूचित करता है। अत हम देखते हैं कि पवित्र शूकर की कल्पना आर्येतर प्राचीन जातियों की कल्पना है तथा भारत में भी इस कल्पना का सम्बन्ध यहाँ के आदिवासियों से रहा है। ऋग्वेद[9] के अनुसार 'एमुष' का पर्वत के इस पार रहना तथा तैत्तिरीय संहिता[10] के अनुसार उसका सप्त-पर्वतों के उस पार असुरों का कोष छिपाए रखना 'एमुष' या वराह

१ एरोस्पेस ऑफ अर्ली सिम्बलिज्म जे० पीटर, पृ० ११।
२ वही, पृ० १११।
३ वही, पृ० १११।
४ वही।
५. महाभारत ३, १४२ २४।
६ एरोस्पेस ऑफ अर्ली सिम्बलिज्म, पृ० १११।
७. वही।
८ ऋग्वेद १।२८।१।
९ ऋग्वेद १।६१, ७ ८, ७७, १।
१० तैत्तिरीय संहिता, ६, २ ४, २।

नामक किसी प्राण अभिपति की ओर संकेत करता-सा प्रतीत होता है, जिसका धन एवं सुरक्षित वेद प्राप्त कर लेते हैं। अथर्ववेद में ओदन को अमृत कहा गया है।[1] इस प्रकार देवों को अमृत भी मिल जाता है तथा पृथ्वी पर उनका आधिपत्य भी स्थापित हो जाता है। इस कथा से सिद्ध होता है कि आर्यों के आने के पूर्व भारत की पृथ्वी पर यहाँ के आदिवासियों का आधिपत्य था जिनका अधिपति कोई एमुष नामक व्यक्ति रहा होगा तथा आर्यों के भारत में प्रवेश के समय वह दक्षिण की ओर चला गया होगा। बलि का नर्मदा के तट पर यज्ञ करना[2] बलि की पत्नी का 'विन्ध्यावलि' नामकरण एवं अगस्त्य ऋषि के सम्मुख विन्ध्याचल के नतमस्तक होने की कथा आदि इस बात की पुष्टि करती है कि प्राचीन काल में आर्यों को केवल विन्ध्याचल तक की भूमि का ज्ञान था तथा दक्षिण में दासों अथवा असुरों का आधिपत्य था। आदिवासियों के आधिपत्य के कारण ही शायद शतपथ ब्राह्मण में एमुष को पृथ्वी का उद्धारिता तथा प्रजापति कहा गया है।[3] तैत्तिरीय आरण्यक[4] में सहस्रबाहु वराह द्वारा पृथ्वी का उद्धार भी व्यक्ति की अपेक्षा जाति का ही सूचक प्रतीत होता है। निश्चय ही ये कथाएँ आर्येतर प्राचीन विश्वासों को सूचित करती हैं।

महाभारत[5] में असुरों के भार से दबी हुई पृथ्वी के विष्णु द्वारा उद्धार की कथा पौराणिक वराहावतार की कल्पना के निकट प्रतीत होती है।[6]

प्राचीन आदिवासी विश्वासों के अनुसार शूकर उत्पत्ति से सम्बन्धित है। वह पृथ्वी का पति है तथा ओदन या अमृत रूप में अन्न-रूपी जीवनोपयोगी शक्ति का अधिपति भी है। वैदिक एवं ब्राह्मण कल्पनाओं के अनुसार विष्णु का भी पृथ्वी से एवं जीवनोपयोगी सोम से सम्बन्ध है। प्राचीन जावा सोम-काव्य के अनुसार वराह रूप विष्णु पृथ्वी को गोद में बिठा कर उसके साथ सम्भोग करते हैं।[7] इसी प्रकार मलाया की कथानुसार वराह-विष्णु पृथ्वी के अन्दर प्रवेश कर के एक प्रासाद देखते हैं तथा राक्षस का रूप धारण करके पृथ्वी के साथ सम्भोग करते हैं।[8] ये दोनों कथाएँ पृथ्वी-विषयक उत्पत्ति की सूचक हैं तथा प्राचीन कल्पनाओं पर आधारित हैं। प्राचीन वराह एवं वैदिक-विष्णु में उपर्युक्त साम्य होने के कारण ही पुराणकारों ने तत्कालीन प्रचलित विश्वासों को मान्यता देते हुए वराह में विष्णु का आरोपण करके वराहावतार में उन विश्वासों का वैष्णवीकरण कर डाला है।

नृसिंह अवतार की कथा विविध पुराणों में उपलब्ध होती है। विष्णु-पुराण के अनुसार हिरण्यकशिपु ग्यारह हजार पाँच सौ वर्ष तपस्या करके ब्रह्मा से अमरत्व प्राप्त कर लेता है तथा उसके शासन-काल में ऋषि ब्राह्मण आदि त्रस्त हो जाते हैं।[9] ब्रह्म तथा हरिवंश

---

१ अथर्ववेद, १२, १, ४।
२. प्राचीन चरित कोश सिद्धेश्वर शास्त्री ('बलि' शब्द देखिए)।
३ शतपथब्राह्मण, १४, १, २, ११।
४ तैत्तिरीय आरण्यक, १, १, ८।
५. महाभारत, ३, १४२, २८।
६. डेवलेपमेन्ट ऑफ अर्ली विष्णुइज्म, पृ० १४।
७ ग्रोथ ऑफ अर्ली विष्णुइज्म, जे० गोंडा, पृ० १५६।
८ वही।
९. विष्णुपुराण, १, १९-२०।

पुराणों के अनुसार हिरण्यकशिपु के अत्याचार से तंग आकर देवता विष्णु से अवतार धारण करने के लिए प्रार्थना करते हैं।[1] नृसिंह और भागवत-पुराणों में

नृसिंह

नृसिंह प्रह्लाद की रक्षा के लिए खम्भे में से प्रकट होते हैं।[2] भागवत तथा ब्रह्म पुराणों में नृसिंह का आधा शरीर सिंह तथा आधा मनुष्य का था।[3] देवी-भागवत नृसिंह-अवतार का समय चौथे युग में मानता है।[4] भागवत पुराण इसे चौदहवाँ अवतार कहता है।[5] भागवत हरिवंश लिंग, मत्स्य, पद्म आदि पुराणों में विष्णु हिरण्यकशिपु का सायंकाल के समय वध करते हैं।[6] लिंग-पुराण में कहा गया है कि हिरण्यकशिपु का वध करने के बाद जब नृसिंह अपने आपे में नहीं रहते तब शिव शरभ का अवतार धारण करके नृसिंह का वध करते हैं।[7] महाभारत हरिवंश मत्स्य ब्रह्माण्ड, वायु आदि पुराणों में हिरण्यकशिपु द्वारा प्रह्लाद पर अत्याचार तथा नृसिंह की खम्भे से उत्पत्ति का उल्लेख नहीं है।[8] ब्रह्म-पुराण में नृसिंह हिरण्यकशिपु का वध करके दक्षिण की गोमती (गोदावरी) के तीर पर आकर दण्डकाधिपति अम्बर्म का वध करते हैं।[9]

इससे पता चलता है कि पौराणिक-काल में नृसिंह की कथा प्रचलित थी तथा उपलब्ध पुराणों के रचना-काल से पहले नृसिंह और विष्णु का गठबन्धन नहीं हो पाया था। महाभारत हरिवंश मत्स्य ब्रह्माण्ड वायु आदि पुराणों में हिरण्यकशिपु द्वारा प्रह्लाद पर किये गए अत्याचार एवं नृसिंह की खम्भे से उत्पत्ति के उल्लेख का अभाव[10] इसी मत की पुष्टि करता है। इतना ही नहीं, नृसिंह और विष्णु का गठबन्धन करने वाला एकमात्र सूत्र प्रह्लाद प्रतीत होता है।

पुराण-काल से पहले नृसिंह की कल्पना मत्स्य, वराह कूर्म आदि की ही भाँति अत्यन्त प्राचीन विश्वासों को लेकर प्रचलित थी तथा उसका कोई भी सम्बन्ध विष्णु से नहीं था। हजरत मोहम्मद के समय 'यागूथ' (Yaguth) नामक सिंह-देव की उपासना प्रचलित थी[11]। निश्चय ही 'यागूथ' की कल्पना भारतीय नृसिंह की कल्पना से बहुत मिलती-जुलती प्रतीत होती है तथा स्पष्ट ही नृसिंह-विषयक कल्पना की प्राचीनता एवं व्यापकता सिद्ध करती है।[12] इससे भी पहले 'अवेस्ता' में 'नर्योसंह' नामक देवता का उल्लेख मिलता

---

१ मत्स्यपुराण, ४ १९। हरिवंश, १ ४१।

२ नृसिंह-पुराण, ४४ २६। भागवत-पुराण, ७. ८।

३ भागवत-पुराण, ७. ८, ब्रह्म-पुराण, १४६। २१३, ७२-७५।

४ देवी-भागवत, ४ १६।

५. भागवत-पुराण, १ ३।

६ भागवत, ७ ७। हरिवंश, १ ४१। लिंग, १ ९४। मत्स्य, ४७ ४६। पद्म, २३८।

७ लिंग-पुराण, १, ९५।

८ महाभारत, सभापर्व, ४१ २२। २७७। ह० वं०, १ ४२-४७। मत्स्य, १६१ १६४। ब्रह्माण्ड, ३ ५। वायु, २, ६, ६६।

९ ब्रह्मपुराण, १४७।

१० महाभारत, सभापर्व ४१ २२। २७७। हरिवंश, १ ४२-४७, मत्स्य १६१ १६४ ब्रह्माण्ड, ३ ५। वायु २ ६, ६६।

११ ई० आर० ई०, पृ० २२२।

१२. महाराष्ट्र ज्ञान कोश, भगवत्का खण्ड, १३वाँ प्रकरण, पृ० ११६-१२०।

है।[१] सम्भवत नरसिंह नृसिंह का ही अपभ्रंश हो।

नृसिंह को लेकर एक स्वतन्त्र पुराण की रचना भी नृसिंह-विषयक मान्यताओं की प्राचीनता सिद्ध करती है जिसका समर्थन मत्स्य-पुराण से होता है, जिसके अनुसार नृसिंह पुराण की श्लोक-संख्या अठारह हजार है।[२] अपरार्क ने इस पुराण का उल्लेख बारहवीं शताब्दी में किया है[३] तथा इस पुराण का सूत-संहिता में तीसरा स्थान माना है। हेमाद्रि ने तथा तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में महाराष्ट्र में महानुभाव-पंथ के प्रवर्तक स्वामी चक्रधर ने नृसिंह का उल्लेख किया है। हेमाद्रि एवं वृद्ध हरित द्वारा उल्लिखित विष्णु के चौबीस नामों में जिनका पठन आज भी प्रत्येक वैदिक क्रिया के आरम्भ में होता है नृसिंह उन्नीसवाँ नाम है।[४] स्वामी चक्रधर ने नृसिंह का उल्लेख करते हुए भी नृसिंह को हेमाद्रि आदि की भाँति विष्णुवाचक न मानकर उनका सम्बन्ध अष्ट भैरवों में से सात्विक शुद्ध विष्णु से माना है। महानुभाव-पंथ में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या शास्त्र के अनुसार अष्ट भैरवों का क्रम देवता-विधान में चौथा है।[५] इस तरह विष्णु का सम्बन्ध पौराणिक वैकुण्ठ के अधिष्ठाता विष्णु से न होकर उससे दो कोटि ऊपर शुद्ध सात्विक रूप अष्ट भैरव से है।[६] नृसिंह-विषयक तेरहवीं शताब्दी के इस मतान्तर तथा पौराणिक उल्लेखों में असमानता से प्रतीत होता है कि नृसिंह की कल्पना अत्यन्त प्राचीन थी तथा उसकी प्राचीनता के कारण ही पुराण-काल में संकलन कर्ताओं को उसका स्पष्ट रूप विदित नहीं था। एक प्राचीन सिक्के से इतना अवश्य सिद्ध होता है कि गुप्त-वंश के समय में नृसिंह की उपासना का प्रचलन था तथा उन्हें विष्णु का अवतार माना जाता था[७] तथा तत्कालीन मूर्तिकला में नृसिंह का उग्र रूप ही व्यक्त करने की प्रथा थी यद्यपि विष्णु को पूर्णरूपेण सात्विक एवं शान्तिप्रिय देवता के रूप में ही माना जाता था। मत्स्य-पुराण में नृसिंह-हिरण्यकशिपु-युद्ध की मूर्ति के निर्माण के विषय में उल्लेख उपलब्ध होता है जिसमें नृसिंह के उग्र रूप हिरण्यकशिपु के हाथ में ढाल-तलवार का उल्लेख आता है। विष्णु एवं अग्निपुराण विष्णु धर्मोत्तर रूप-मंडन आदि में भी नृसिंह का यही उग्र रूप प्रतिपादित है तथा अधिकतर प्राचीन मूर्तियों में अकेले नृसिंह की मूर्ति की अपेक्षा नृसिंह हिरण्यकशिपु युद्ध ही अंकित किया हुआ मिलता है। इसके ठीक विपरीत वैखानसागम में नृसिंह को शान्ति सद् एवं योगी के रूप में व्यक्त किया गया है।[८] नृसिंह-मूर्ति का यह भाव गुप्त-कालीन एक मुद्रा में भी व्यक्त हुआ उपलब्ध होता है। देवगढ़ के गुप्तकालीन मन्दिर में नृसिंह को शंख चक्र गदा पद्म धारण किये कमल पर आसीन चित्रित किया गया है।[९] मद्रास की लक्ष्मी-नृसिंह कांस्य-मूर्ति में लक्ष्मी का समावेश एवं नृसिंह की शान्त मुद्रा नृसिंह

१ वही, १ (अ०) ११।
२. महाराष्ट्र ज्ञान कोश, महाभारत खण्ड, नवां प्रकरण १० (अ०) ११।
३ वही।
४ दे० हे० मोदकस्, पृ ५७।
५ श्रीचक्रधरोक्त सूत्रपाठ-संपादक, हरिनारायण नेने, पृ १।
६ उपर ब्रह्मविद्या शास्त्र म कोलतेकर, पृ ११।
७ डेवलेपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, जे० एन० बनर्जी पृ० १०७।
८ वही, (द्वितीय संस्करण) पृ ४१६, ४१७।
९ वही।

की आरम्भिक उग्रता को विष्णु की सात्विकता में परिणत करती-सी प्रतीत होती है।

इससे प्रतीत होता है कि नृसिंह की कल्पना मूल रूप में आर्यों की अपनी कल्पना न होकर अन्य वर्गों के प्राचीन विश्वासों पर आधारित थी तथा उसमे उग्रता की स्थापना हिंस्र वृत्ति की प्रतीक थी। मोहनजोदड़ो सभ्यता के अन्तर्गत सिंह की

क्षत्रियों का समाहार

पार्वती के वाहन के रूप में स्थापना[1] सिंह के इसी हिंस्र गुण की मान्यता को चरितार्थ करती है, यद्यपि उस समय भी सिंह का पृथक अस्तित्व पूजनीय नहीं था। अतः यह कहना अनुचित नहीं होगा कि 'नृसिंह' में नर और सिंह का योग दो विभिन्न गुणों एवं मतों के गठबन्धन का प्रतीक है। सिंह स्वभावतः हिंस्र जन्तु है अत यह हिंसा का तामसी शक्ति का प्रतीक है और कुछ सीमाओं में हिंसा क्षत्रियों का धर्म है। अत सिंह क्षत्रिय जातियों का शक्ति का सत्ता का प्रतीक है। क्षत्रिय तथा ब्राह्मण अथवा हिंस्र एवं सात्विक वृत्तियों के योग से ही आदर्श मनुष्य की स्थापना तथा दुष्टों का नाश सम्भव हो सकता था। इसी तथ्य के आधार पर सम्भवत नृसिंह की कल्पना का विकास हुआ। इस प्रकार नृसिंह की कल्पना में जहाँ एक ओर क्षत्रिय तथा ब्राह्मणों में विद्यमान प्राचीन विरोध के निराकरण के दर्शन होते हैं, वहाँ दूसरी ओर परम्परा से प्रचलित अत्यन्त प्राचीन पशु-पूजन-सम्बन्धी स्थानीय लोक-विश्वासों का भी समावेश है। यही नहीं उसमें पाशविकता से मानवता की ओर सृष्टि-विकास के तत्त्व की मान्यता भी अन्तर्निहित है।

उपर्युक्त विशेषताओं के कारण ही पौराणिक युग में नृसिंह की प्राचीन कल्पना को लेकर नृसिंह-अवतार की कल्पना प्रतिष्ठित हुई। इस अवतार की पौराणिक कल्पना में ऋग्वेद[2] में वर्णित नमुचि की कथा अत्यन्त सहायक प्रतीत होती है तथा पौराणिक नृसिंह कथा का मूल भी वैदिक नमुचि-इन्द्र-युद्ध की कथा में अभिलक्षित होता है।[3] वैदिक नमुचि दानवपुत्र है इन्द्र का शत्रु है। हिरण्यकशिपु भी दानव है विष्णु का शत्रु है। नमुचि देवों पर आक्रमण करने वाली दानव सेना का सेनापति है।[4] हिरण्यकशिपु भी दानव शक्ति का अधिपति है।[5] नमुचि को इन्द्र वर देता है कि वह किसी भी आर्द्र अथवा शुष्क वस्तु से नहीं मारा जा सकता। तभी तो इन्द्र समुद्र के फेन से उसका शिरच्छेद करता है। नमुचि का सिर इन्द्र का पीछा करता है तथा ब्रह्मा के कहने पर जब इन्द्र अरुणा नामक तीर्थ में स्नान करता है तब तीर्थ में गिरकर अमरत्व प्राप्त करता है।[6] पौराणिक हिरण्यकशिपु भी ब्रह्मा को प्रसन्न करके अमरत्व प्राप्त करता है तथा उसकी छाती नृसिंह अपने नखों से चीरते हैं।

अत हम देखते हैं कि प्राचीन वैदिक नमुचि की कथा किंचित् रूपान्तरित होकर हिरण्यकशिपु की कथा के रूप में पौराणिक काल में नृसिंहावतार को जन्म देती है तथा वैष्णव-धर्म को व्यापकता प्रदान करके उसके अन्तर्गत ब्राह्मणेतर क्षत्रिय एवं अन्य जातियों

---

१ दि रैलिजन्स ऑफ इंडिया, ए० पी० करमरकर, पृ० १८७।
२ ऋ० ८।१४।१३।
३ प्राचीन चरित्र कोश, सिद्धेश्वर शास्त्री, पृ० २८७।
४ महाभारत, सभापर्व, ५१।
५ विष्णु-पुराण, ११८-१२०।
६ महाभारत, शल्य-पर्व ४४ ३३।

के विश्वासों को समाविष्ट करके समस्त कल्पना को ब्राह्मण विश्वासों की पार्श्वभूमि पर प्रतिष्ठित कर देती है।

नृसिंहावतार की भाँति विष्णु के दशावतार में वामन का भी समावेश कर लिया गया है। वैदिक मन्त्र 'इदं विष्णु विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् समूढमस्य पांसुरे'[1] के अनुसार विष्णु ने अपने तीन पदों में समस्त संसार को माप लिया था। शतपथ ब्राह्मण में यही 'इदं विष्णु विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' वामन रूप बन जाते हैं[2] तथा पौराणिक काल में अवतार की श्रेणी में आ जाते हैं। वैदिक एवं ब्राह्म साहित्य में वर्णित विष्णु के कार्यों की विशेषता ही पौराणिक काल में वामन अवतार की कल्पना को जन्म देती है क्योंकि वामन में अवतारत्व की सभी विशेषताएँ सरलता से देखी जा सकती हैं। इतना ही नहीं वामन मूलतः विष्णु ही थे तथा अपने मूल रूप में एक ओर जहाँ उन्होंने असुरों से पृथ्वी छीन ली थी वहीं दूसरी ओर बलि को पाताल भेजकर चातुर्वर्ण्य की प्रतिष्ठापना भी की थी।

वामन

वामन मूलतः बटु-रूप है, ब्राह्मण है, दान का पात्र है तथा बलि की कथा से उसका निकट का सम्बन्ध है। इसी कथा में वामनावतार का महत्त्व अन्तर्निहित है जिसका आधार लेकर पौराणिक काल में वामनावतार की कल्पना परिपुष्ट हुई है। बलि के शासन-काल में ब्राह्मण तथा भूमि को कष्ट होने के कारण ही विष्णु ब्राह्मणों को वामन-अवतार लेने का आश्वासन देते हैं।[3] बलि विष्णु का निन्दक है अतः प्रह्लाद से शाप पाकर विष्णु की शरण जाता है[4] तथा दान देता है।[5] बलि की कथा में क्लेश की विपत्ति का निवारण ब्राह्मणों का ईश्वर के रूप में स्वीकार तथा दान की महिमा ही वामनावतार की पौराणिक कल्पना को जन्म देती है।

चातुर्वर्ण्य की प्रतिष्ठापना

इस प्रकार ब्राह्मण-रूप वामन की कल्पना में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता तथा अन्य वर्णों की निकृष्टता अनायास ही प्रतिष्ठापित हो जाती है।

वामनावतार की कल्पना तथा विष्णु के दशावतार में उसका क्रम विकासवाद की दृष्टि से भी सहायक प्रतीत होता है, क्योंकि नृसिंह के बाद बटु-रूप वामन की कल्पना में मनुष्यता के चरम विकास का बीज देखा जा सकता है। पहले कहा जा चुका है कि पौराणिक काल के पहले वामन विष्णु के रूप-नाम थे अथवा स्वयं विष्णु थे। अवतार के रूप में उनकी मान्यता नहीं थी। पौराणिक काल में विष्णु का वामन रूप विदित होते हुए भी अन्य अवतारों की भाँति वामन को विष्णु का अवतार मानना स्पष्ट ही तत्कालीन धार्मिक मर्यादाओं के समर्थनार्थ प्राचीन मान्यताओं की एक नये ढंग से पुनरावृत्ति है। पौराणिक काल में ब्राह्मणों की उच्चता बनाए रखने में वामनावतार की कल्पना विशेष सहायक प्रतीत होती है।

१ ऋ० १।२२।१७।
२ शतपथब्राह्मण, १ २ ५।
३ मत्स्यपुराण ७३।
४ वामन-पुराण, ७७।
५ पद्मपुराण उत्तर खण्ड, ३३।

परशुराम का उल्लेख सर्वप्रथम महाभारत में उपलब्ध होता है।[1] राम और कृष्ण की भाँति आरम्भ में परशुराम का भी विष्णु से कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता।[2] न ही महाभारत में वर्णित परशुराम की कथा का विष्णु से कोई सम्बन्ध है। रामायण में अवश्य परशुराम के पास विष्णु का धनुष होने तथा राम द्वारा शिव-धनुष तोड़कर उनके घमण्ड को चूर करने का वर्णन है पर महाभारत का यह अंश सम्भवतः बाद में जोड़ा हुआ है।[3] रामायण में वर्णित राम और परशुराम में सीता स्वयंवर के समय विरोध भी इसी बात की पुष्टि करता है। निश्चय ही उस काल तक परशुराम का विष्णु के साथ सम्बन्ध नहीं हो पाया था, बल्कि किसी परवर्ती काल में क्षत्रियों के विरोधी एवं ब्राह्मणों के संरक्षक होने के कारण परशुराम को विष्णु का अवतार मान लिया गया है। विष्णु-पुराण तथा वायु-पुराण में देव, ऋषि तथा मानवों का कार्तवीर्य के राज्य से तंग आकर विष्णु से अवतार-धारण के लिए प्रार्थना करना परशुराम को पूर्णरूपेण विष्णु-अवतार की कोटि में ले आता है।

परशुराम क्षत्रियों का विनाश

कार्तवीर्य की कथा में भृगु के वरदान से उनकी पुत्रवधू सत्यवती को जमदग्नि नामक पुत्र और परशुराम नामक पौत्र का होना तत्कालीन ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के बीच विद्यमान परस्पर विरोध एवं विद्वेष से सम्बन्धित है। इसी विद्वेष का निदान कार्तवीर्य की कथा से होता है। कार्तवीर्य द्वारा जमदग्नि की होम धेनु के बछड़े का अपहरण तथा उसके पुत्रों द्वारा जमदग्नि का वध ब्राह्मण धर्म में क्षत्रियों के हस्तक्षेप तथा उन पर अत्याचार को सूचित करता है। इसी प्रकार परशुराम द्वारा इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियहीन करना क्षत्रियों के दमन तथा ब्राह्मणों के सर्वस्व की स्थापना का द्योतक है। महर्षि ऋचीक का साक्षात् प्रकट होकर परशुराम को क्षत्रिय निपात से रोकना एवं परशुराम का समस्त पृथ्वी ब्राह्मणों को दान कर देना इसी परिस्थिति की पुष्टि करता है।

कार्तवीर्य की कथा

स्पष्ट ही परशुराम की कथा में कंस, रावण आदि की भाँति किसी दानव-शक्ति के अधिपति का वध नहीं है। न ही कहीं धर्म की प्रतिष्ठापना का चिह्न मिलता है जो उन्हें अवतार की कोटि में ला सके। तथापि परशुराम का विष्णु के अवतारों में समावेश इस बात को सूचित करता है कि पौराणिक काल की अवतार-कल्पना में ब्राह्मण-धर्म में विघ्न उपस्थित करने वाला प्रत्येक व्यक्ति दानव-तुल्य ही समझा जाता था तथा ब्राह्मणों के रक्षक विष्णु का ही अन्य प्रकार माना जाने लगा था।

दाशरथी राम का स्पष्ट उल्लेख महाभारत में उपलब्ध होता है तथा वाल्मीकीय रामायण में उनकी कथा विस्तार से दी गई है। डॉ॰ याकोबी के मतानुसार राम इन्द्र के ही अन्य रूप हैं। याकोबी का अनुमान है कि इन्द्र का यही रूप पश्चिम-भारत में बलराम एवं पूर्वी भारत में दाशरथी राम में

रामावतार

---

१ महाभारत, वनपर्व।
२ ई॰ आर॰ ई॰, पृ॰ १९४।
३ वही।

विकसित हुआ।[1] स्पष्ट ही याकोबी का अनुमान असंदिग्ध नहीं है, क्योंकि बलराम-विषयक उपासना अपेक्षाकृत बहुत प्राचीन प्रतीत होती है तथा दोनों के चरित्रों में किसी भी प्रकार का साम्य दृष्टिगोचर नहीं होता। केवल 'राम' शब्द की साम्यता को देखकर इस निष्कर्ष पर पहुँचना भ्रामक है।

प्रचलित परम्पराओं के आधार पर बौद्ध-जातकों में यत्र-तत्र बुद्ध को राम का पुनरवतार माना गया है। जैन पुराणों में राम का महत्त्व स्पष्ट रूप से वर्णित है। बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों से जहाँ राम-सम्बन्धी प्राचीन लोक-विश्वासों का प्रचलन प्रतीत होता है, वहीं वाल्मीकीय रामायण की कथा से यह सिद्ध होता है कि राम की महत्ता विशेषत उनके त्याग एवं मर्यादा तथा शौर्य पर ही आधारित थी तथा वे प्रारम्भ में वासुदेव कृष्ण की तरह उपास्य नहीं माने जाते थे और न ही उन्होंने कृष्ण की तरह कोई दिव्य सन्देश दिया था।[2] पातंजलि के महाभाष्य में भी राम के उल्लेख के अभाव से प्रकट होता है कि ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी तक राम कोई दैवी पुरुष नहीं समझे जाते थे।[3] अमरसिंह की ब्राह्मण-देवताओं की सूची में राम का समावेश न होना इसी मत की पुष्टि करता है।[4] वाल्मीकीय रामायण में भी राम का चरित्र मनुष्य रूप में ही अंकित हुआ है। भवभूति ने राम के इस रूप को और भी श्रेष्ठ कर दिया है जिससे राम-सम्बन्धी प्रचलित भावनाएँ और भी विकसित हो गई हैं। राम चरित्र विषयक मान्यताओं का यही विकास बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों के रचना-काल तक राम को पूजनीय बना देता है। इन ग्रन्थों एवं लोक-विश्वासों के उत्तरोत्तर विकास द्वारा रामचरित के परिष्कार के कारण राम को अवतार की कोटि में समाविष्ट कर लिया गया है। राम के अवतार कोटि में समावेश का क्रम भागवत-पुराण में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होता है। भागवत के नवम स्कन्ध में राम को साक्षात् अवतार की कोटि में न रखकर अंशावतार ही स्वीकार किया गया है।[5] वाल्मीकीय रामायण के अयोध्या-काण्ड में राम को विष्णु का अवतार माना गया है।[6] इसी मत का समर्थन महाभारत से भी होता है।[7] हरिवंश तो राम लक्ष्मण भरत और शत्रुघ्न चारों को विष्णु के चार रूप मानता है।[8] इन्हीं मान्यताओं के आधार पर अध्यात्मरामायण में जो सम्भवतः सोलहवीं शताब्दी की रचना है, रामादि चारों भाइयों को पांचरात्र संहिताओं के अनुकरण पर विष्णु शेष शंख तथा सुदर्शन का अवतार माना गया है।[9] यहीं सीता को मूल प्रकृति तथा योग माया तथा राम को परब्रह्म लक्ष्मण को शेष तथा अन्तिम अंश के पाँचवें

---

१ बुल्के, 'रामकथा' पृ० १०४।
२ वैष्णव धर्म पृ ६४।
३ रो बे० भण्डारकर, पृ० ४७।
४ वही।
५ भक्ति का विकास डॉ० मुंशीराम शर्मा पृ० ६६।
६ अयोध्याकाण्ड १-७।
७ महाभारत वनपर्व ३।१४७-३१ ३।२६६।१८।
८ हरिवंश ४१।१२१।
९ भक्ति का विकास पृ ३२१।

अध्याय में रामगीता का आयोजन करके राम द्वारा लक्ष्मण को ज्ञान का उपदेश दिलाकर राम को कृष्ण के स्तर पर लाकर विष्णु का अवतार सिद्ध करने का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है।

अतः हम देखते हैं कि राम के शौर्य एवं मर्यादा-सम्बन्धी प्राचीन लोक-विश्वास कालान्तर में उन्हें देवता कोटि तक पहुँचा देते हैं तथा इस प्रकार उन्हें विष्णु का अवतार मान लिया जाता है। और यद्यपि अवतार के रूप में राम की उपासना का प्रचार ईसा की नवीं शताब्दी से ही आरम्भ होता है तथापि दक्षिण के कुलशेखर आलवार की रचनाओं में भी रामभक्ति का आरम्भिक रूप व्यक्त हुआ है।[1] जो हो सम्प्रदाय के रूप में रामभक्ति का प्रचलन तेरहवीं शताब्दी में ही माना जा सकता है।[2] राम में रावण-जैसे योद्धा को पराजित करने वाली अतिमानवीय शक्ति के साथ-साथ आदर्श पुत्र पति भ्राता तथा लोकपाल के चिह्न एवं यज्ञ में विष्णु के प्रसाद से राम की उत्पत्ति ही ऐसे दो कारण प्रतीत होते हैं जो उनका तादात्म्य विष्णु के साथ स्थापित करते हैं। बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों से स्पष्ट विदित होता है कि उनके रचना-काल तक राम लोकनायक तथा मर्यादा पुरुषोत्तम के ही रूप में प्रख्यात थे तथा आरम्भ में उनका सम्बन्ध किसी अवतार से न होते हुए भी वे देवता कोटि तक पहुँचने लगे थे। हेमाद्रि तथा बृहद्धरित की देवता सूची में[3] 'पुरुषोत्तम' का समावेश जहाँ एक ओर उनका सम्बन्ध विष्णु से जोड़ता हुआ-सा प्रतीत होता है वहीं इस बात की भी पुष्टि करता है कि प्राचीन काल में राम के मूल पुरुषोत्तम रूप को ही मान्यता मिली हुई थी। इसी पुरुषोत्तम रूप के कारण सम्प्रदाय के रूप में रामभक्ति कृष्ण के पश्चात् ही प्रतिष्ठित होती है।

कृष्ण के पहले पर सम्प्रदाय के रूप में बाद में, प्रचलित राम भक्ति

अतः कहा जा सकता है कि पौराणिक युग में आदर्श पुरुष राम-सम्बन्धी उच्च भावनाएँ राम को विष्णु का अवतार स्वीकार करने के काफ़ी पहले से ही लोक में प्रचलित थीं पर बौद्ध एवं जैन धर्मों की नवीन धार्मिक विचारधाराओं के सम्मुख उनका विकास कुंठित-सा हो गया। इन्हीं निरीश्वरवादी धार्मिक विचारधाराओं की प्रतिक्रिया-स्वरूप पौराणिक युग में जब वैष्णव धर्म ने व्यापक रूप धारण करना आरम्भ किया तो अन्य प्राचीन लोक-विश्वासों की भाँति राम को भी साक्षात् विष्णु का अवतार माना जाने लगा तथापि सम्प्रदाय के रूप में रामभक्ति का प्रचार पौराणिक काल में नहीं हो सका। सम्भवतः इसका मुख्य कारण राम के चरित्र में किसी उच्च धार्मिक सन्देश का अभाव था। स्पष्ट ही पौराणिक युग की धार्मिक राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में वैष्णव धर्म का विकास एवं जनता को नवीन निरीश्वरवादी मतों की ओर से परावृत्त करके वैष्णव धर्म की ओर आकृष्ट करने के लिए केवल ऐसे ही सम्प्रदायों को स्वीकार किया जा सकता था, जिनके प्रवर्तकों में अद्भुत दैवी शक्ति के साथ-साथ वैष्णव-धर्मानुरूप लक्षण विद्यमान हों। मत्स्य कूर्म वराह वामन परशुराम आदि की अपेक्षा वासुदेव-कृष्ण में इन लक्षणों का चरम विकास अभिलक्षित होता है इसीलिए कृष्ण को विष्णु का पूर्णावतार मान लिया गया तथा

१ जर्नल ऑफ दि श्री वेंकटेश्वर ओरियंटल इंस्टिट्यूट, तिरुपति भा० १ (१९४९), पृ० २२२।
२ रा० गो० भाण्डारकर, पृ० ४७।
३ वही।

पौराणिक काल से ही कृष्ण-भक्ति और भी व्यापक रूप धारण करने लगी। पौराणिक काल से ईस्वी सन् की १०वीं शताब्दी तक का इतिहास सम्पन्नता का इतिहास था। हूण आदि बर्बर जातियों के आक्रमण होते भी थे तो भारतीय शासन-शक्ति उनका सामना करने में समर्थ थी। अत: शान्ति के इस युग में जहाँ राजाश्रय में कलाएँ अपने चरम विकास को पहुँच रही थीं वहीं संस्कृत साहित्य में लोकरंजन के लिए शृंगार का निरूपण भी नानाविधि होने लगा था। आवश्यक था कि भास कालिदास बाण आदि शृंगार प्रधान कवियों के काव्य तथा लोक-रुचि का प्रभाव धार्मिक क्षेत्र पर भी पड़ता। सम्भवत: इन्हीं परिस्थितियों के परिणामस्वरूप सात्वत या भागवत धर्मों के प्रवर्तक योगेश्वर कृष्ण में जो अब विष्णु से अभिन्न समझे जाने लगे थे शृंगारिक लीलाओं का समावेश होने के कारण कृष्ण भक्ति को एक नया मोड़ मिला और वह लोकरंजन का रूप धारण करने लगी। पर बारहवीं शताब्दी का काल विदेशी आक्रमणों का काल था जब दो विभिन्न धार्मिक विचारधाराओं की मुठभेड़ हो रही थी। संगठित हिन्दू शासन-सत्ता अन्तिम साँस ले रही थी। इसी बीच मुहम्मद गजनवी के भारत पर आक्रमण एवं मूर्तियों के खण्डन को देखकर हताश भारतीय जनता धर्म की रक्षा के लिए एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करने लगी जो तत्कालीन विषमताओं में उसका मार्गदर्शन और धर्म की रक्षा कर सके। ऐसा व्यक्तित्व किसी जीवित हिन्दू राजा में न होने के कारण लोक को अतीत की ओर ताकना पड़ा। वह व्यक्तित्व राम में होने के कारण उन्हें लोकनायक के रूप में स्वीकार कर लिया गया। निश्चय ही राम में वे सभी गुण विद्यमान थे जिनकी तत्कालीन परिस्थितियों में आवश्यकता थी। डॉ॰ भाण्डारकर के मतानुसार तेरहवीं शताब्दी में आनन्द तीर्थ द्वारा बदरिकाश्रम से दिग्विजयी राम की मूर्ति लाना तथा लगभग ग्यारहवीं शताब्दी में राम सम्प्रदाय की स्थापना[1] एवं परवर्ती काल में उसका अत्यधिक प्रचार इसी ऐतिहासिक पार्श्व भूमि का समर्थन करता है। सोलहवीं शताब्दी में तुलसीदास द्वारा राम को उपास्य मानकर रामचरितमानस जैसे लोक-काव्य की रचना के पीछे भी मुख्यत: यही उद्देश्य अन्तर्निहित था।

पहले कहा जा चुका है कि महाभारत के प्राचीन अंशों के रचना-काल तक वासुदेव कृष्ण सात्वत या भागवत धर्म के प्रवर्तक देवाधिदेव के रूप में माने जाते थे तथा वासुदेव

कृष्णावतार

का यह सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन काल से ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी तक स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व में था। वासुदेव-भक्ति का प्रचार भारत के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश तक ही सीमित था जबकि सप्तसिन्धु एवं उत्तरापथ में ब्राह्मण-धर्म के अन्तर्गत कर्मकाण्ड का बोलबाला था। इस प्रदेश में वासुदेव-भक्ति का प्रचार न होने के कारण ही बौद्ध एवं जैन जैसे निरीश्वरवादी धर्मों की स्थापना वहाँ सरलता से हो सकी। बौद्ध जैन तथा कपिल के निरीश्वरवादी सिद्धान्तों से जब वैदिक-धर्म को धक्का पहुँचने लगा तो वैदिक-धर्म में नई चेतना उत्पन्न करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यह काल ब्राह्मणों के प्राधान्य का काल था तथा वैदिक-धर्म को व्यापकता प्रदान करने के लिए आवश्यक था कि वैदिक धर्मों पर आधारित तत्कालीन विभिन्न सम्प्रदायों को सूत्रबद्ध करके संगठित कर के निरीश्वरवादी नूतन धर्म-स्थापना का विरोध किया जाय। इसी आवश्यकता की पूर्ति के फलस्वरूप गुप्त-काल तक आकर वासुदेव विष्णु का एकीकरण हुआ

---

१ आर. जी. भांडारकर, पृ० ४७।

तथा विष्णु देवाधिदेव और कृष्ण उनके पूर्णावतार मान लिये गए।[१] विद्वान् इसी काल को पुराणों की रचना का काल मानते हैं। पुराणकारों द्वारा कृष्ण को विष्णु का पूर्णावतार तथा राम को अंशावतार मानना तत्कालीन समाज में वासुदेव-कृष्ण की श्रेष्ठता ही सिद्ध करता है।

विष्णु और वासुदेव-कृष्ण के इस एकीकरण के परिणामस्वरूप कृष्ण को विष्णु का आठवाँ अवतार मान लिया गया तथा लक्ष्मी की कल्पना के अनुरूप राधा की कल्पना प्रस्फुटित हुई। प्राचीन भागवत या सात्वत धर्म में राधा का सर्वथा अभाव इस बात को प्रमाणित करता है कि राधा की कल्पना विष्णु और कृष्ण के एकीकरण का ही परिणाम है जिसका समर्थन राधा-विषयक पौराणिक उल्लेखों से भी होता है। राधा की पौराणिक कल्पना प्राचीन वासुदेव-कृष्ण के जीवन पर वैष्णव संस्कार करके वासुदेव-कृष्ण को वैष्णव-रूप प्रदान करती है तथा साथ-ही-साथ कृष्ण भक्ति को प्राचीन मान्यता से भिन्न एक अभिनव दिशा में प्रवाहित करने में सहायक होती है।

कृष्ण और विष्णु की भिन्नता का तत्त्व गोवर्धन की कथा में भी उपलब्ध होता है। गोवर्धन की कथा से कृष्ण के प्राचीन चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। विष्णु-पुराण में कृष्ण गोवर्धन पर्वत उठाकर इन्द्र के कोप से गोप-जनों की रक्षा

गोवर्धन-कथा

करते हैं, क्योंकि कृष्ण के कहने पर उन्होंने प्रचलित इन्द्र महोत्सव का विरोध करके गोवर्धन की पूजा की थी। कथा में वर्णित यह विरोध सूक्ष्म विवेचन की अपेक्षा रखता है। इन्द्र-पूजा का विरोध कृष्ण इसलिए करते हैं कि इन्द्र का गोपों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे वैश्य अथवा कृषक न होकर वन में स्वतन्त्रता से विचरण करने वाले जन हैं तथा घरों में न रहकर समूहों में रहते हैं। इन्द्र आर्यों का युद्ध-देवता है अतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सम्पत्तिशाली वर्गों का रक्षक होने के नाते पूजनीय हो सकता है पर जिनकी सम्पत्ति केवल गोधन है वे इन्द्र की पूजा क्यों करें? गोपों की जीविका का एक-मात्र साधन गोधन है और गायों का निर्वाह चरागाहों से होता है। वही चरागाह गोवर्धन है जो गोपों के लिए पूजनीय है। मैदान में चरने वाली गायों एवं गोपालों के लिए वर्षा काल में आश्रय पहाड़ है इसलिए वह भी पूजनीय है। निश्चय ही कथा में अन्त-निहित तत्त्व कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत का उठाया जाना न होकर कृष्ण द्वारा आभीर जाति में प्रचलित विश्वासों का खण्डन एवं उनके वास्तविक धर्म का निरूपण है। कृष्ण इन्द्र-युद्ध तथा उसमें इन्द्र का पराजित होकर कृष्ण को उपेन्द्र की उपाधि से विभूषित करना दो विभिन्न संस्कृतियों के अस्तित्व एवं संघि का प्रतीक है। अतः गोवर्धन की कथा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कृष्ण प्राचीन आभीर जन के नेता थे जिसकी जीविका गोपालन पर निर्भर थी। ये जन घरों अथवा नगरों में न रहकर गायों के साथ जंगलों एवं मैदानों में भ्रमण किया करते थे। कृष्ण का व्रजवासी रूप जो सभी प्राचीन मूर्तियों में अंकित हुआ है इस सत्य का समर्थन करता है। वैदिक देवताओं से गोपों की अवज्ञा सूचित करती है कि वे जन भारत के आदिवासियों में से थे[२] किसी परवर्ती काल में भारत में आकर नहीं बसे थे

---

१ वैष्णव धर्म, परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४८।

२ दि सिविलाइजेशन ऑफ इण्डिया, ए० पी० करमरकर, पृ० १७८।

जैसी कि कुछ विद्वानों ने शंकाएँ उठाई हैं।[1] सम्भवतः कृष्ण की जन्म-कथा के अन्तर्गत कृष्ण का शिशु-अवस्था में ही आभीरों के अग्रगण्य नन्द के यहाँ पहुँचाया जाना यह महत्त्वपूर्ण कल्पना है जो कृष्ण का प्रादुर्भाव आदिवासी आभीर जातियों के देवता होने के रूप पर आवरण डालकर उनका सम्बन्ध अनायास ही आर्यों से स्थापित करके विष्णु के कृष्णावतार की प्रतिष्ठापना में आश्चर्यजनक योग देती है।

अधिकतर विद्वानों का मत है कि आभीर जातियाँ भारत में विदेश से आई थीं।[2] डॉ० भांडारकर तो उनके आने का समय ईसा की पहली शताब्दी मानते हैं।[3] पर यह मत निराधार प्रतीत होता है क्योंकि आभीरों के विषय में कई प्राचीन उल्लेख उपलब्ध होते हैं। 'ऐतरेयब्राह्मण' में अभीर शब्द का प्रयोग मात्र के लिए हुआ करता था यद्यपि परवर्ती साहित्य में इसका अर्थ 'चमार' होने लगा था।[4] महाभारत में आभीरों द्वारा वृष्णी स्त्रियों सहित द्वारका से कुरुक्षेत्र को लौटते समय अर्जुन पर आक्रमण का उल्लेख मिलता है।[5] विष्णुपुराण में अपरान्त अथवा वर्तमान कोंकण और सौराष्ट्र को आभीर देश माना गया है जिसकी पुष्टि वराहमिहिर ने भी की है।[6] 'हरिवंश' उनका स्थान मधुवन से द्वारका के समीप तक का प्रदेश मानता है।[7] ब्रह्मसूत्र में, जो अत्यन्त प्राचीन रचना है आभीरों को दक्षिणवासी कहा गया है तथा ब्रह्मसूत्र के रचनाकाल तक उनका आवास भारत के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश में था।[8] 'पद्म-पुराण' में उल्लेख आता है कि विष्णु आभीरों से कहते हैं कि वे मथुरा में आठवाँ अवतार धारण करेंगे।[9] इसी पुराण में आभीरों को श्रेष्ठ तात्त्विक कहा गया है।[10]

आभीर जातियों का गोप-देवता

उपर्युक्त आधारों एवं गोवर्धन-कथा में अन्तर्निहित तथ्यों से कृष्ण का गोप देवता होना ही सिद्ध नहीं होता वरन् उनकी प्राचीनता तथा ब्राह्मण-धर्म के विरोध में एक विशेष तत्त्वज्ञान की स्थापना भी सिद्ध होती है। कृष्ण के अस्तित्व एवं उनके सिद्धान्तों की प्राचीनता की पुष्टि 'छान्दोग्य उपनिषद्' तथा पुराणों में भी अभिव्यक्त होती है। अमरसिंह द्वारा वर्णित पुराणों के लिए आवश्यक सभी तत्त्व 'विष्णु-पुराण' में उपलब्ध होने के कारण इस पुराण को अन्य उपलब्ध पुराणों की अपेक्षा प्राचीन माना जा सकता है। 'विष्णु-पुराण' में इन्द्र-पूजा का प्रतिकार तत्कालीन यज्ञ-प्रथा का विरोध सूचित करता है जिसकी पुष्टि 'हरिवंश' से भी होती है।[11] सभी पुराणों में कृष्ण को यदुवंशीय माना गया है।[12] 'हरिवंश' में

१ जे० सी० भांडारकर, पृ० ११।
२ दि हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ए० पी० करमरकर, पृ० १७२।
३ जे० सी० भांडारकर, पृ० ११।
४ दि हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ए० पी० करमरकर, पृ० १७२।
५ महाभारत, मौसल पर्व अध्याय ७।
६ जे० सी० भांडारकर, पृ० ३०।
७. हरिवंश २११२-२३।
८ ब्रह्मसूत्र १।१।२ १८।
९ पद्मपुराण सृष्टि-खण्ड १७. १३।
१० वही, १७-१।
११ हरिवंश १, १६, ४२।
१२ हरिवंश २११२-२१।

मथुरा एवं उसके आस-पास के प्रदेश में आभीरों के राज्य के अस्तित्व का भी उल्लेख मिलता है।[1]

ईसा से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व मेगास्थनीज के उल्लेख से हरिवंश के कथन का समर्थन होकर वासुदेव एवं कृष्ण तथा मथुरा में आभीरों के राज्य का पता चलता है। उपर्युक्त सभी उल्लेख आभीर जाति की प्राचीनता उसका भारतीय आदि-जाति मेगास्थनीज द्वारा उल्लेख होना तथा कृष्ण का सात्वत क्षत्रियों का गोप-देवता होना सिद्ध करते हैं। डॉ॰ भांडारकर का यह अनुमान कि वैदिक कृष्ण-द्रप्स और परवर्ती कृष्ण एक ही विभूति थे, ठीक मान लिया जाय तो कृष्ण एवं उनके तत्त्वज्ञान का काल ऋग्वेद का समकालीन सिद्ध होता है। वस्तुतः डॉ॰ भांडारकर का अनुमान निराधार नहीं प्रतीत होता क्योंकि ऋग्वेद[2] में जहाँ इन्द्र और कृष्ण-द्रप्स के युद्ध का उल्लेख है, वहीं अंशुमती अथवा यमुना के तीर पर कृष्ण की सेनाओं के एकत्रित होने तथा इन्द्र द्वारा देवताओं को न मानने वाले उस सैन्य समूह से युद्ध करने के लिए मरुतों का आवाहन भी अंकित है। उपर्युक्त मन्त्रों में अंशुमती तथा इन्द्र शत्रुओं की देवताओं में अनास्था का उल्लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और सात्वत-धर्म के उद्गम तथा सात्वतों के राज्य के सीमा-प्रान्त को स्पष्ट रूप से सूचित करता है। इस प्रकार कृष्ण की प्राचीनता ऋग्वेद के समान ही प्राचीन सिद्ध होती है।

कृष्ण की प्राचीनता उनकी काम-क्रीडाओं तथा रुक्मिणी-कृष्ण-विवाह से भी परिपुष्ट होती है। पहले कहा गया है कि 'महाभारत' में कृष्ण का चरित्र उनके पाण्डवों के सम्पर्क में आने के बाद का चरित्र है तथा 'विष्णु-पुराण' में उसके

रुक्मिणी तथा बहुपत्नीत्व, यूथ-विवाह

पूर्व के चरित्र की विशद व्याख्या उपलब्ध होती है। 'विष्णु-पुराण' में वर्णित रुक्मिणी-स्वयंवर के अनुसार कृष्ण और रुक्मिणी का विवाह राक्षस पद्धति से होता है यानी कृष्ण रुक्मिणी का हरण करते हैं तत्पश्चात् उससे विवाह करते हैं।[3] राक्षस-विवाह-पद्धति मनु द्वारा वर्णित वैदिक विवाह पद्धति के आठ प्रकारों में से ही एक है[4] तथा विवाह की ये आठों पद्धतियाँ वैदिक काल में प्रचलित थीं। इसी प्रकार बहुपत्नीत्व की प्रथा भी ऋग्वेदकालीन समाज में मान्य थी।[5] इन प्रथाओं के अनुरूप कृष्ण का 'विष्णु-पुराण' में वर्णित रुक्मिणी आदि मिलाकर सोलह हजार एक सौ आठ स्त्रियों से विवाह करना जहाँ एक ओर तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं के अनुकूल सिद्ध होता है वहाँ गोपियों के साथ केलि क्रीडाएँ तत्कालीन समाज व्यवस्था की विरोधी प्रतीत होती हैं।[6] कृष्ण और गोपियों की केलि-क्रीडाएँ तार्किक दृष्टि से यूथ-विवाह-सम्बन्धी समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत आ सकती हैं। ऋग्वेद-पूर्वकालीन समाज में यूथ-विवाह को मान्यता थी।[7] 'महाभारत' में उत्तर कुरु-देश में यूथ-विवाह अथवा यौ

---

१ हरिवंश, ५।६१-६२।
२ ऋग्वेद, ८-८५ १३ १५।
३ विष्णु-पुराण पंचांश अध्याय २६।
४ वैदिक संस्कृति का विकास, तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी, पृ १ २।
५ वही।
६ विष्णु-पुराण, पंचांश, अ २३।
७. वैदिक संस्कृति का विकास पृ० १००।

धर्म के प्रचलन का उल्लेख इस बात की पुष्टि करता है कि ऋग्वेद-काल से भी पूर्व निगूढ़ अतीत में युग्म-विवाह को मान्यता थी। इस दृष्टि से यदि कृष्ण-गोपी केलि-क्रीड़ाओं को इस प्रथा का प्रतीक मान लिया जाय तो कृष्ण का समय ऋग्वेद से भी पहले का प्रतीत होता है। कृष्ण की प्राचीनता विषयक इस अनुमान की पुष्टि 'छान्दोग्य उपनिषद्' से भी होती है जहाँ कृष्ण को देवकी-पुत्र कहा गया है। 'देवकी-पुत्र' में देवकी का समावेश मातृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था को सूचित करता है जो निश्चय ही वैदिक पैतृक-सत्ता से पूर्व की मानी जा सकती है तथा जिसका समर्थन मोहेनजोदड़ो एवं हड़प्पा की सभ्यता से भी होता है। आदिम सेमेटिक जातियों में भी प्रारम्भ में मातृसत्ता को ही मान्यता थी तथा युद्ध के समय माता ही अपने दल की प्रधान हुआ करती थी।[1] इस प्रकार गोपाल-कृष्ण तथा गोपियों के साथ कृष्ण की लीलाओं का युग भी सरलता से मिल जाता है तथा गोपाल-कृष्ण को डॉ० भांडारकर के अनुसार ईसा के बाद की कल्पना समझने की आवश्यकता नहीं रहती।

पाणिनि के विषय में पातंजलि द्वारा प्रयुक्त 'दाक्षी-पुत्र' शब्द को देखते हुए कुछ विद्वानों का अनुमान है कि प्राचीन काल में बहुपत्नीत्व की प्रथा प्रचलित होने के कारण माता के बोध के लिए तथा माता और पुत्र के सम्मानार्थ मातृवाची नाम का प्रयोग होता था।[2] पर यह मत समन्वित नहीं जान पड़ता क्योंकि एक ओर जहाँ विद्वानों द्वारा निर्धारित छान्दोग्य-काल तक एकपत्नीत्व की प्रथा प्रचलन में आ चुकी थी वहाँ दूसरी ओर कृष्ण-देवकी के एक-मात्र पुत्र होने के कारण उपर्युक्त सुविधा की दृष्टि से नामकरण की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

यदि कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं को प्राचीन मान लिया जाय तो वे तत्कालीन समाज के विरुद्ध प्रतीत नहीं होतीं क्योंकि शिशुपाल द्वारा कृष्ण की निन्दा में केलि-क्रीड़ा-विषयक आक्षेपों का अभाव इस मान्यता को स्वीकार करता हुआ-सा दृष्टिगोचर होता है। दूसरी सम्भावना यह है कि शिशुपाल के समय यानी महाभारत के रचना-काल तक कृष्ण की लीला-सम्बन्धी कल्पनाएँ अस्तित्व में ही नहीं थीं वे कालान्तर में विकसित हुईं। यदि रासलीला के अन्तर्गत इन क्रीड़ाओं को युग्म-विवाह का प्रतीक न माना जाय तो विष्णु-पुराण से लेकर आधुनिक साहित्य तक वर्णित प्रतिपादित एवं परिवर्धित क्रीड़ाओं का एक ही समाधान कारक तथा साधार उत्तर उपलब्ध होता है और वह है विष्णु और कृष्ण के एकीकरण के फलस्वरूप विष्णु की काम-विशेषताओं का कृष्ण पर आरोपण जो महाभारत और विष्णु-पुराण में अंकित कृष्ण चरित्र की भिन्नता का निराकरण कर सकता है। सम्भवतः कृष्ण की प्राचीनता ही वह उद्गम रही है जिससे कृष्ण की लीला-सम्बन्धी परवर्ती कल्पनाएँ प्रवाहित हुई थीं तथा कालान्तर में विष्णु की काम-क्रीड़ाओं से सम्पन्न होकर उन्होंने यथार्थ रूप धारण कर लिया।

वैदिक साहित्य में विष्णु के सम्भोग-सम्बन्धी कई उल्लेख मिलते हैं जो उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं। विष्णु के प्राचीन चरित्र के विषय में सबसे महत्वपूर्ण शब्द 'शिपिविष्ट' है जो ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है।[3] मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने इस शब्द की व्याख्या में विशेष

१ ई. मार ई. बाल० र ४२१।
२ प्राचीन चरित्र कोश — सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, 'कृष्ण'।
३ ऋ० म० ११ ... १०० ... ।

उत्पत्ति से काम लिया है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से इसका अर्थ पुरुष का परिवर्तनशील लिंग होता है जो विकसित तथा संकुचित होता है।[1] विष्णु के इस रूप की पुष्टि निरुक्त से भी होती है जहाँ उनके विषय में 'कुत्सितार्थीय पूर्व भवति' कहा गया है।[2] इसी प्रकार वैदिक श्राद्ध-क्रिया में विष्णु-मन्त्रोच्चार के साथ-साथ पितरों को अर्पण की जाने वाली सामग्री में अंगुष्ठआरोपण की क्रिया में अंगुष्ठ लिंग का प्रतीक है।[3] परवर्ती साहित्य में 'अंगुष्ठमात्रो भगवान् विष्णुः पर्यटत महीम्' कहकर अंगुष्ठ को ही विष्णु मान लिया गया है।[4] 'तैत्तिरीय संहिता' में विष्णु का भू-भाग में प्रविष्ट होना उत्पत्ति का ही प्रतीक है।[5]

प्राचीन गाथा के प्रेम-काव्य में विष्णु का कामकमयी पृथ्वी देवी पर आसक्त होने का तथा वराह-रूप में अपने ही घुटनों पर बिठाकर उसके साथ सम्भोग करने का उल्लेख मिलता है।[6] मलाया देश में भी वराह-रूप विष्णु के पृथ्वी चीरकर अन्दर जाने तथा वहाँ एक प्रासाद देखकर राक्षस रूप धारण करके पृथ्वी देवी के साथ सम्भोग करने की कथाएँ प्रचलित हैं।[7] 'तैत्तिरीय संहिता' में 'समगात्पृथ्वीमाह' शब्द भी विष्णु की केलि-क्रीड़ाओं को चरितार्थ करता है।[8] अथर्ववेद में वर्णित वीर्य निकलने वाली सीकी वाली देवी से विष्णु का सम्बन्ध समस्या पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।[9] 'आश्वलायन-गृह्य-सूत्र' के 'विष्णुर्योनिंकल्पयतु' मन्त्र के अनुसार विष्णु गर्भ के रक्षक हैं। अथर्ववेद में विष्णु का सम्बन्ध काम-क्रियाओं से माना गया है तथा उन्हें वीर्य का रक्षक मानी 'शिपिविष्ट' और 'सुमज्जानि' कहा गया है।[10] 'विष्णुसहस्रनाम' में वृषाकपि विष्णु का नाम है। यही वृषाकपि एक विशाल वानर के रूप में पौरुषहीन इन्द्र को एक औषधि देता है जिससे इन्द्र पुनः पुरुषत्व प्राप्त कर लेता है।[11] पद्मपुराण में विष्णु का तपस्वी रूप धारण करके जालन्धर की पत्नी वृन्दा के सतीत्व हरण की कथा है।[12] देवी भागवत में विष्णु द्वारा शंखचूड़ का रूप धारण करके उसकी पत्नी तुलसी का पातिव्रत्य नष्ट करने का उल्लेख है।[13] 'भविष्य-पुराण' में विष्णु ब्रह्मा और रुद्र के साथ सती-साध्वी अनुसूया के पास जाते हैं तथा रतिदान माँगने पर उसके शाप से बालक बन जाते हैं[14]—ऐसा वर्णन है।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट विदित होता है कि ऋग्वेद से लेकर पौराणिक साहित्य

१ विष्णु इन वेदाज, आर० एन० दाण्डेकर, पृ० १०८।
२ निरुक्त, ५. ८. १।
३ विष्णु इन वेदाज, दाण्डेकर, पृ० १०८।
४ हेमाद्रि, ३ ११७८।
५ तैत्तिरीय संहिता, ६. २४ १।
६ आस्पेक्ट्स ऑफ अर्ली विष्णुइज्म, जे० गोंडा, पृ० १४१।
७ वही।
८ विष्णु इन वेदाज, आर० एन० दाण्डेकर, पृ० १०८-१०६।
९ वही।
१० वही।
११ वही।
१२ पद्मपुराण, उत्तर० अ० १६।
१३ देवी भागवत, स्कं० ६, अ० २४।
१४ भविष्य-पुराण, प्र० प० खं० ४, अ० १७।

तक विष्णु में काम की बहुलता अस्फुट रूप से अंकित मिलती है। परवर्ती-काल में कृष्ण और विष्णु के एकीकरण के फलस्वरूप विष्णु की इस विशेषता का कृष्ण पर आरोपण होता है, जिसका माध्यम राधा की कल्पना बन जाती है। राधा पूर्णरूपेण पौराणिक उपज है तथा लक्ष्मी की प्रतिकृति है। उसका सीधा सम्बन्ध विष्णु के आठवें अवतार से दृष्टिगोचर होता है। 'विष्णु-पुराण' में राधा के उल्लेख का अभाव राधा की कल्पना का अर्वाचीन होना सिद्ध करता है। आदि-पुराण के अनुसार विष्णु की पृथ्वी पर अवतार धारण करने की इच्छा जानकर ही राधा मृत्यु-लोक में अवतरित होती है।[1] 'पद्मपुराण' में वृषभानु राजा को यज्ञ के लिए भूमि शुद्ध करते समय राधा मिलती है तथा उसका लालन-पालन वह अपनी कन्या समझकर करता है।[2] अन्य पुराणों में राधा की उत्पत्ति के विषय में और भी कई कारण बताए गए हैं जिनमें विष्णु के विरजा नामक गोपी के साथ रासमण्डल में जाने और राधा के खोजने पर अदृश्य हो जाने तथा सुदामा और राधा के बीच शापों का आदान-प्रदान आदि कई कारण दृष्टिगोचर होते हैं।[3] 'ब्रह्मवैवर्त-पुराण' राधा की उत्पत्ति कृष्ण के वामांग से मानता है।[4] आदि तथा ब्रह्मवैवर्त-पुराणों एवं देवी भागवत में राधा को लक्ष्मी का ही दूसरा रूप कहा गया है। लक्ष्मी स्वर्ग में विष्णु के साथ वास करती है और राधा कृष्ण के साथ मृत्युलोक में। अतः उसे कृष्ण की पत्नी माना गया है।[5] उपर्युक्त आधारों से कृष्ण-सम्बन्धी युग विवाह की कल्पनाओं पर ही प्रकाश नहीं पड़ता अपितु ये कल्पनाएँ कृष्ण के ऋग्वेद से भी प्राचीन होने तथा आर्येतर होने की सम्भावना की ओर इंगित करती हैं जिसकी पुष्टि ग्रीक तथा सीरियन क्रिश्चियन धर्मों की दैवी कल्पनाओं में उपलब्ध साम्य से भी होती है।

बलराम का हलधर होना एक पहेली है जो अभी तक नहीं सुलझ सकी है। स्पष्ट ही हल कृषि का प्रतीक है तथा बलराम का उसे धारण करना बलराम का कृषि-देवता होना सूचित करता है। बलराम का दूसरा अस्त्र मूसल भी कृषि का ही प्रतीक है। कृषि-देवताओं की कल्पनाएँ यद्यपि प्राचीन भारतीय विश्वासों में नहीं मिलतीं तथापि ऐसी अनेक कल्पनाएँ प्राचीन ग्रीक एवं ईसाई धर्मों में उपलब्ध होती हैं। स्पष्ट ही हल मूसल और मुरली का योग अथवा कृष्ण और बलराम का गठबन्धन आभीर जाति की जीविकोपार्जन की क्रमिक अवस्थाओं के बोध का प्रतीक है। इस तरह आरम्भ में गौओं पर आश्रित रहने वाली जातियाँ कृषि की ओर अग्रसर होती हुई-सी दिखाई देती हैं।

कृषि-देवता बलराम

इसी प्रकार भारतीय कृष्ण और यूनानी अकिलीस में साम्य ही नहीं मिलता वरन् द्वारका के समुद्र में समा जाने एवं प्राचीन विदेशी धार्मिक कल्पनाओं में भी साम्य दृष्टिगोचर

---

१ आदि-पुराण अध्याय ११ ।
२ पद्मपुराण ब्रह्म-खण्ड ७ ।
३ प्राचीन चरित्र कोश, सिद्धेश्वर शास्त्री पृ [illegible] ।
४ ब्रह्मवैवर्त पुराण, १५ ।
५ ब्रह्म-वैवर्त १ ११ ।
देवी-भागवत ६ ९ ।
आदि-पुराण ११ ।

होता है। यूनानी देवता अकिलीस प्राचीन यूनानी जाति में सबसे लोकप्रिय देवता माना जाता था तथा उसकी लोकप्रियता मध्य एशिया में बसे हुए यूनानी लोगों तक में फैली हुई थी।[1] अकिलीस के मन्दिर समुद्र किनारे पर थे तथा उसे मार्गदर्शक के रूप में माना जाता था। भारतीय कृष्ण की लोकप्रियता भी विशेषतः गीता पर ही आधारित है, जो मार्गदर्शन का ज्योति-स्तम्भ कही जा सकती है। कृष्ण की ही भाँति अकिलीस भी सबसे वीर योद्धा अत्यन्त रूपवान् एवं तेजस्वी देवता था।[2] इलियड के आधार पर अकिलीस का लालन-पालन उसकी माता ने उसके चचेरे भाई पैट्रोक्लस के साथ किया था तथा अकिलीस के गुरु भी दो थे।[3] कृष्ण भी बलराम के साथ बड़े हुए थे तथा उनके भी घोर अंगिरस और सांदीपनी नामक दो गुरु थे। इलियड के सिवाय अन्य प्रचलित गाथाओं में अकिलीस के विषय में कई लोक-कथाएँ प्रचलित हैं जैसी कि कृष्ण के बारे में पाई जाती हैं। ल्यूक द्वीप में अकिलीस का मन्दिर प्राचीन काल में नाविकों का मार्गदर्शक माना जाता था। लोगों का विश्वास था कि उस मन्दिर में रात को अकिलीस हेलन से अभिसार करता है अतः प्राचीन काल में उस मन्दिर में ठहरना निषिद्ध था।[4]

कृष्ण और अकिलीस की मृत्यु में साम्य

अकिलीस एवं कृष्ण के जन्म और मृत्यु में भी अद्भुत साम्य दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन यूनानी पौराणिक कथाओं के अनुसार अकिलीस की माँ ने अपने सात बालकों को अमरत्व प्रदान कराने हेतु अग्नि पर रख दिया जिनमें से अकेला अकिलीस बचा तथा एड़ी को छोड़कर उसका सारा शरीर अमर बन गया। अग्नि में लटकाते समय अकिलीस की एड़ी माँ के हाथ में होने के कारण उसकी एड़ी उसका मर्मस्थल बनकर अन्त में उसकी मृत्यु का कारण बनी।[5] इसी एड़ी में विषाक्त बाण लगकर अकिलीस का अन्त हुआ।[6] कृष्ण के भी सात भाई-बहनों का कंस के हाथ वध होता है। वे अकेले बच जाते हैं। पौराणिक कथाओं के अनुसार उनका अन्त भी एड़ी में जरा नामक व्याध का विषाक्त बाण लगने से होता है।

द्वारका और जेरूसेलम की कथा में साम्य

द्वारका के समुद्र में समा जाने और जेरूसेलम की कथा में भी तात्त्विक दृष्टि से साम्य दृष्टिगोचर होता है। जेरूसेलम का प्राचीन नगर कई बार विध्वंस हुआ था तथा ईसा पूर्व पाँच सौ पन्द्रह में इस नगर की दीवारों का निर्माण दुबारा आरम्भ हुआ।[7] यद्यपि जेरूसेलम नगर के विध्वंस का मुख्य कारण बाह्य आक्रमण थे, तथापि इन आक्रमणों से वहाँ ईसा-पूर्व ५१५ में एक सुधारवादी धार्मिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। प्राचीन जेरूसेलम में मूर्ति-पूजा का खण्डन एवं एकेश्वरवाद की स्थापना[8] ही यह नई चेतना

---

१ ई० ब्रि० ई०, पृ० ७१।

२ एनसाइक्लोपीडिया ऑफ मिथालॉजी पृ० १२१-१२२।

३ वही।

४ ई० आर० ई०, पृ० ७१।

५ डिक्शनरी ऑफ ग्रीक एण्ड रोमन बायोग्राफी एण्ड माइथोलॉजी, खण्ड १ (अकिलीस)।

६ डिक्शनरी, आफ फोकलोर, पृ० ७।

७ ई० आर० ई० खण्ड ४, पृ० ५२४।

८ ई० आर० ई०, खण्ड ४, पृ० ५२४।

थी। यद्यपि द्वारका पर कोई विदेशी आक्रमण नहीं हुआ था पर उसके समुद्र में समा जाने विषयक लोक विश्वासों एवं कृष्ण के योग-मार्ग की स्थापना तथा देवसेवाक्रम-विषयक घटनाओं में काफी साम्य दृष्टिगोचर होता है क्योंकि यहाँ एक ओर कृष्ण द्वारा वैदिक धर्म के अन्त एवं कर्मकाण्ड के विरोध में एकेश्वरवाद तथा योग-मार्ग को मान्यता मिली और नैतिक आचरण पर जोर दिया गया वहाँ दूसरी ओर द्वारका के समुद्र में समा जाने एवं यादवों के नाश के पीछे भी वास्तविक धर्म और आचार का ह्रास ही दृष्टिगोचर होता है। 'विष्णु-पुराण' में वर्णित यादवों के संहार का कारण विश्वामित्र कण्व तथा नारद आदि ऋषियों का शाप[1] यथार्थ में ब्राह्मण तथा ऋषियों के महत्त्व का ही प्रतिपादन करता-सा प्रतीत होता है। बहुत सम्भव है कि भारतीय और विदेशी पौराणिक-कल्पनाओं में साम्य तथा समानान्तर कथायें अतीत के किसी निगूढ़ सत्य की सूचक हों तथा वर्तमान काल-गणना से बहुत प्राचीन हों। कल्पनासाम्य के इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है कि कृष्ण की कल्पना विदेशी कल्पनाओं से अत्यधिक प्रभावित हुई है। इतना ही नहीं डॉ० भांडारकर ने तो गोपालकृष्ण की कल्पना को पूर्णरूपेण ईसाई धर्म से प्रभावित माना है।[2]

माधवाचार्य का मत ब्रह्म जीव और ईश्वर की कल्पना

कई विद्वान् ब्रह्म जीव और ईश्वर-विषयक माधवाचार्य के निरूपण में भी ईसाई तथा इस्लाम धर्मों का प्रभाव देखते हैं। प्रो० हुमायूँ कबीर तो यहाँ तक कहते हैं कि दक्षिण भारत में आचार्यों द्वारा निरूपित एवं प्रतिष्ठापित एकेश्वरवाद में इस्लाम धर्म का विशेष रूप से हाथ रहा है क्योंकि वैदिक धर्म मुख्यतः बहुदेववादी धर्म था।[3]

विद्वानों का यह आक्षेप विशेष रूप से क्रमशः पाँच तत्त्वों पर आधारित है—दक्षिण भारत में ईसा की दसवीं शताब्दी के आसपास वेदान्त-निरूपण तथा एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठापना बालकृष्ण परमेश्वर अथवा बाल-कृष्ण की उपासना प्रकृति के रूप में जगत्-माता की प्रतिष्ठापना माधवाचार्य का द्वैतवाद एवं भक्ति-आन्दोलन तथा मद्य-प्रिय बलराम और यूनानी देवता डेकिनस से साम्य। भारतीय धर्म-निरूपण पर पाश्चात्य प्रभाव के परीक्षण के लिए उपर्युक्त तत्त्वों का प्राचीन भारतीय रूप देखना नितान्त आवश्यक है।

पहले कहा गया है कि ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा ऋषि वास्तव में प्रकृति के कवि थे तथा प्रकृति के साहचर्य में ही उन्होंने उसकी विभिन्न शक्तियों में विविध देवताओं की कल्पना की थी जिसका मुख्य आधार सृष्टि चमत्कार की अनुभूति तथा उसकी पुनरावृत्ति ही थी। प्रकृति की शक्तियाँ अनेक होने के कारण ही ऋग्वेद में अनेक देवताओं का विधान अभिलक्षित होता है। इन देवताओं के नामों से स्पष्ट विदित होता है कि उनमें अधिकतर देवताओं का सम्बन्ध पृथ्वी जल तेज तथा वायु आदि सृष्टि-तत्त्वों से है।[4] तथापि प्रकृति के इन विभिन्न तत्त्वों के अधिष्ठाता देवताओं से भी परे एक नियमात्मक शक्ति के दर्शन होते हैं जिसका स्पष्ट निरूपण ऋग्वेद में हुआ है।[5]

१ विष्णु-पुराण पंचांश, अ० ३७ ।
२ जे० ऐ० एस० भांडारकर, ई० ११, १७ ।
३ दि इंडियन हेरिटेज हुमायूँ कबीर, पृ० ८८ ।
४ भारत का सांस्कृतिक ... ऋग्वेद ... पृ० ६ ।
५ ऋग्वेद, १।१६४-४६ ।

ऋग्वेद का देवता-विधान क्रमशः तीन अवस्थाओं से संचरण करता दृष्टिगोचर होता है—एक व्यक्ति का एक ही समय अनेक देवताओं में विश्वास, विभिन्न व्यक्तियों द्वारा एक ही देवता में विश्वास तथा एकेश्वरत्व की कल्पना की प्रतिष्ठापना

विदेशी प्रभाव का अभाव

और सर्वसाधारण जनता द्वारा उसका स्वीकार।[1] वैदिक एकेश्वरत्व की कल्पना तथा विदेशी एकेश्वरवाद की स्थापना में तात्त्विक दृष्टि से बहुत बड़ा अन्तर है। जर्मन विद्वान् डायसेन के अनुसार मिस्र में एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठापना के लिए बड़ी कृत्रिमता से अनेक छोटे-बड़े देवताओं का भौतिक एकीकरण किया गया। इसी प्रकार फ़िलस्तीन में भी जेहोवा की प्रतिष्ठापना के लिए अन्य सभी देवताओं का बहिष्कार करके उनके उपासकों पर अनेक अत्याचार किये गए। पर भारत में यही बात वैदिक ऋषियों द्वारा अनेक में एकत्व खोजने से बिना किसी संघर्ष के सिद्ध हुई।[2] पुरुष सूक्त तथा उपनिषदों में भी एकेश्वरत्व के रूप में परब्रह्म का विस्तारपूर्ण निरूपण मिलता है[3] तथा एकेश्वरत्व की यही स्थापना गीता का आधारभूत सिद्धान्त है। गीता[4] में अनेक देवताओं का उल्लेख करते हुए भी एकेश्वर के रूप में परब्रह्म-रूप वासुदेव को ही सर्वेश स्वीकार किया है। ऐतिहासिक आधार पर भी ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी तक वासुदेव की उपासना इसी एकेश्वरत्व का समर्थन करती है, पांचरात्र-धर्म के नारायण, शैव धर्म के शिव, शाक्तों की शक्ति तथा ब्राह्मणों के मत प्रधान धर्म के विष्णु इसी एकेश्वरत्व के प्रतीक हैं। इस प्रकार एकेश्वरत्व की कल्पना वैदिक साहित्य से लेकर पौराणिक साहित्य तक अक्षुण्ण रूप से विद्यमान थी। अन्तर केवल इतना था कि विभिन्न सम्प्रदायों के प्रादुर्भाव से भारतीय उपासना-पद्धति विभिन्न मार्गों पर प्रवर्तित होकर छिन्नभिन्नप्राय होने लगी थी जिसके फलस्वरूप वैदिक धर्म-दर्शन के ही धरातल पर बौद्ध एवं जैन जैसी निरीश्वरवादी विचार धाराओं का आविर्भाव तथा विकास हो सका। इन्हीं निरीश्वरवादी विचारधाराओं के मध्य जिस प्रकार की प्रतिक्रियास्वरूप वैदिक धर्म-दर्शन के पुनरुत्थान की आवश्यकता प्रतीत हुई। दक्षिण भारत में आळवारों की भक्ति तथा शंकराचार्य का अद्वैतवाद इसी आवश्यकता-पूर्ति का प्रथम क्रम अभिलक्षित होता है। इतिहास बताता है कि शंकराचार्य के काल तक भारतीय धर्म-चेतना असंख्य मार्गों में बँटकर विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में प्रतिफलित हो रही थी तथा इन सम्प्रदायों के आराध्य के रूप में अनेक छोटे-बड़े देवताओं की स्वतंत्र रूप से उपासना होने लगी थी। इस प्रकार प्राचीन वैदिक साहित्य का ब्रह्मनिरूपण निःशेषप्राय होने लगा था। शंकराचार्य का अद्वैतवाद तथा मायावाद वेदान्त-दर्शन का ही पुनरुत्थान था। उसमें प्राचीन उपनिषदों की व्याख्या तथा बौद्ध-धर्म के कतिपय सिद्धान्तों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार शंकराचार्य ने ज्ञान-मार्ग को ही स्वीकार किया। उनका यह ज्ञान मार्ग उपनिषदों पर आधारित होते हुए भी प्राचीन पांचरात्र तथा भागवत धर्मों में निरूपित भक्ति का विरोधी था। मध्वाचार्य की ब्रह्म, जीव तथा जगत्-विषयक पंचभेद की कल्पना[5]

---

१ भारतीय तत्त्वज्ञान : नरसिंह चिन्तामण केळकर, पृ० २५ ।

२ भारतीय तत्त्वज्ञान : न० चि० केळकर, पृ० २४ २५ ।

३ वही, पृ० २६ ।

४ गीता, अ० ७, श्लोक २१ ।

५ भारतीय दर्शन-शास्त्र का इतिहास : देवराज, पृ० ४११ ।

व और ब्रह्म के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करती हुई प्राचीन[1] भक्ति मार्ग को पुन तिष्ठापित करती है जिसका उल्लेख पाणिनि द्वारा वासुदेव के विषय में किया हुआ मिलता ।[2] दक्षिण भारत में दसवीं सदी के लगभग भक्ति के इस प्रसार को कई विद्वान् विदेशी भाव मानते है । डॉ० ग्रियर्सन इसे ईसाई धर्म की प्रेरणा मानते हैं । डॉ० ताराचन्द अपनी स्तक 'इन्फ्लुएन्स ऑफ़ इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर' में इसे इस्लाम का प्रभाव कहते हैं । विटर साहब की कल्पना अत्यन्त भ्रामक प्रतीत होती है क्योंकि भक्ति का यह निरूपण निर्धारित शंकराचार्य के विरोध में हुआ था तथा लोकमत-संग्रह के लिए आवश्यक था कि ह केवल वैदिक तत्त्वों से ही सम्भव होता । अतः मध्वाचार्य का ईश्वर-निरूपण एवं भक्ति साई अथवा इस्लामी धर्मों से प्रभावित न होकर पूर्णरूपेण भारतीय परम्परा प्रतीत होती है ।

सीरिया के ईसाई लोगों में Child God with an unknown father की ाइस्ट कल्पना तथा ई० सन् की कृष्ण-कल्पना में अवश्य कुछ साम्य दृष्टिगोचर होता है । पर वस्तुतः इस साम्य के आधार पर कृष्ण की कल्पना पर खिस्त

क्राइस्ट मात्र मिथ एवं प्राचीन आधार

क्राइस्ट का प्रभाव मानना युक्तियुक्त नहीं है । वस्तुतः यह आकस्मिक साम्य है । मथुरा की प्राचीन शिल्प-कला से बाल-कृष्ण की कुछ लीलाओं का पता चलता है जो भारत में ईसाई धर्म के प्रचार से हुत पहले की है ।[3] इसी प्रकार ईसा पूर्व पहली शताब्दी की मथुरा की जैन शिल्प कला में ी कृष्ण-विषयक प्राचीन लोक-कथाएँ प्रतिध्वनित होती हैं ।[4] अतः बाल-कृष्ण की कल्पना ो क्राइस्ट-विषयक ईसाई आख्यानों से प्रभावित मानना वस्तुस्थिति को ईसाई चश्मे से देखना ात्र है । वास्तविकता इसके ठीक विपरीत प्रतीत होती है । सीरिया-निवासी लेखक जैनब ानता है कि आर्मीनिया देश में ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी में केवल कृष्णोपासना ही प्रचलित हीं थी वरन् वान झील के किनारे मन्दिरों में कृष्ण की बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ भी अस्तित्व में थीं जो बाद मे ईसाइयों द्वारा तुड़वा दी गई ।[5] उसका कहना है कि ईस्वी सन् की चौथी शताब्दी के आरम्भ में वहाँ लगभग पाँच हजार कृष्णोपासक विद्यमान थे । जैनब और यवन राजदूत मेगस्थनीज के कथन से यह बात पूर्णतः सिद्ध होती है कि ईसा से लगभग चार शताब्दियाँ पूर्व पश्चिमी देशों की जनता कृष्ण को जानती ही नहीं थी वरन् कृष्णोपासना से भली भाँति परिचित एवं प्रभावित भी थी । इसी दशा में कृष्ण पर क्राइस्ट का प्रभाव पड़ने की अपेक्षा क्राइस्ट पर ही कृष्ण का प्रभाव पड़ने की अधिक सम्भावना हो सकती है । प्रारम्भिक ईसाई धर्म में क्राइस्ट के मुख-मण्डल के चारों ओर चक्राकार तेजोमण्डल एवं कुमारी मेरी के अनेक बाहु होने की कल्पना[6] क्या इसी प्रभाव को सूचित नहीं करती ? एम० एस० रामस्वामी अय्यर का तो मत है कि क्रिश्चियन को भारतीयों ने बनाया था तथा ईसा तमिल

---

1 कम्पेरेटिव स्टडीज इन वैष्णविज़्म एण्ड क्रिश्चियानिटी—सील पृ० ३ ।
2 अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ द वैष्णव सैक्ट, रायचौधरी, पृ० ११० ।
3 जे० आर० ए० एस० १९०८ पृ० ११६ ।
4 विंटरनित्ज़—ए हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन लिटरेचर (इंग्लिश ट्रान्सलेशन) खण्ड १ पृ० ।
5 विन्सेंट ए० स्मिथ—दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया पृ० १४४ ।
6 इंडियन एण्टिक्वेरी १९०८ पृ० १०-२१ ।

देशवासी थे।[1] आधुनिक स्वीकृत धारणाओं के परिप्रेक्ष्य में यह एक अत्यन्त साहसपूर्ण मत है तथा स्वतंत्र रूप से सूक्ष्म गवेषणा की अपेक्षा रखता है। यदि रामस्वामी का मत प्रामाणिक सिद्ध हो सका तो दूसरा प्रश्न यह होगा कि क्राइस्ट की पाश्चात्य कल्पना कहीं कृष्ण के व्यक्तित्व पर ही तो आधारित नहीं ? वास्तव में कृष्ण की मृत्यु के विषय में पौराणिक कथाएँ रहस्यात्मक तथा प्रतीक-मात्र हैं। विष्णु-पुराण के अनुसार ऋषियों के शाप से उत्पन्न हुए लौह-मूसल के अवशिष्ट टुकड़े से बना हुआ बाण दुर्वासा के वचनानुसार कृष्ण के समाधिस्थ होने पर उनकी एड़ी में लगने से कृष्ण की मृत्यु होती है।[2] स्पष्ट ही ब्राह्मणों के शाप से यादवों के नाश तथा कृष्ण के देह-त्याग के विषय में मैत्रेय द्वारा पूछने पर ही उपर्युक्त कथा का आयोजन हुआ है। विष्णु-पुराण की कथा से केवल दो तत्वों का निरूपण होता है— एक ब्राह्मणों के सामर्थ्य तथा श्रेष्ठता का समर्थन तथा दूसरा कृष्ण का विष्णु का ही पूर्ण रूप होना जो केवल साम्प्रदायिक धारणा प्रतीत होती है। कथा से यदि इन दोनों तत्वों को निकाल दिया जाय तो कृष्ण की मृत्यु पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता।

महाभारत के अनुसार श्रीकृष्ण ज्ञाति-अमात्य और पुत्र रहित होकर महाभारत-युद्ध के छत्तीस वर्ष पश्चात् जंगल में विचरण करते हुए कुत्सित उपाय से स्वर्ग जाते हैं।[3] महाभारत में वर्णित यह 'कुत्सित उपाय' समस्या को रहस्यमय ही छोड़ देता है। भागवत-पुराण विष्णु-पुराण की कथा का ही अनुकरण करता प्रतीत होता है तथा कृष्ण की मृत्यु के विषय में कोई अतिरिक्त सामग्री प्रस्तुत नहीं करता।[4] तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में महाराष्ट्र के महानुभाव तत्त्वज्ञान के अन्तर्गत श्रीकृष्ण का निधन 'कर्पूरकज्जलवत्' माना गया है[5] तथा उसमें जरा नामक व्याध के बाण मारने की पौराणिक कल्पना का सर्वथा अभाव है। 'जरा' का एक अर्थ अव्यय कल्पनानुरूप किसी व्याध-विशेष का नाम न होकर 'कालावधि' का भी सूचक हो सकता है।[6] जरा नामक व्याध की पौराणिक कल्पना राम और बालि की कथा के उपसंहार के रूप में कल्पित हुई प्रतीत होती है। जो हो, इतना निश्चित है कि श्रीकृष्ण के निधन के बारे में सभी प्राचीन उल्लेख रहस्यमय हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि एशिया के पूर्वी देशों में रामोपासना तथा बौद्ध धर्म का प्रचार होते हुए भी इन धर्मों का प्रचार पश्चिमी देशों में न हो सका जैसा कि ईसा से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व कृष्णोपासना का हो पाया। केवल प्रचार ही नहीं प्राचीन यूनानी देवता अकिलीस (Achilles) डायोनिसस (Dionysus) सैलिनस (Silinus) तथा कृष्ण और बलराम विषयक भारतीय कल्पनाओं में

---

१ एम० एस० रामस्वामी अय्यर, एपलस्ड आँस वैष्णव धर्मम 'थीअर' ... १-२ १९५१।

२ विष्णु-पुराण, पंचमांश अध्याय ३७।

३ षट्त्रिंशे त्वथ संप्राप्ते वर्षे मधुसूदन।
हतज्ञातिर्हतामात्यो हतपुत्रो वनेचर॥
कुत्सितेनाभ्युपायेन निधनं समवाप्स्यसि॥ महाभारत, स्त्री-पर्व, २५.४४।
षट्त्रिंशेऽथ ततो वर्षे वृष्णीनामनयो महान्।
अन्योन्यं मुसलैस्ते तु निजघ्नुः कालचोदिताः॥ महाभारत, मौसलपर्व, १-१।

४ डॉ० देवराज विशेष 'महाभारत पुराण', भूमिका।

५ स्मृतिस्थल : ६ हरिश्चन्द्र मेने, विचार ११।

६ श्रीकृष्ण, हिज लाइफ एण्ड टीचिंग्स, डी० एस० शर्मा, (संक्षिप्तसार)।

साम्य एकेश्वरवाद की स्थापना तथा ईसा का तत्त्वज्ञान पश्चिमी देशों में कृष्ण के प्रभाव का स्पष्ट द्योतक है। बहुत सम्भव है कि कृष्ण की भारतीय कल्पनाओं के समानान्तर इन पाश्चात्य कल्पनाओं का उद्गम कृष्ण ही रहे हों तथा कृष्ण का अस्तित्व आधुनिक काल-गणना से बहुत पहले रहा हो और यह साम्य किसी निगूढ़ अतीत में एक समाज अथवा राष्ट्र, पूर्व और पश्चिम के निकट सम्पर्क या एक ही देश का सूचक हो।

यूनान के डायनिसस (Dionysus) और कृष्ण में कई बातों में आश्चर्यजनक साम्य दृष्टिगोचर होता है। डायनिसस वनस्पति का (Vegetation) संगीतप्रिय आनन्दमय तथा चमत्कारी देवता है[1] तथा उसका स्वरूप स्त्री सुलभ व्यक्त किया गया है।[2] मिस्र-निवासी अपने ओरिसिस तथा रोमन लोग अपने लिबर (Liber) अथवा बैकस (Bacchus) को डायनिसस का ही रूप मानते हैं।[3] डायनिसस के बारे में कहा जाता है कि उसने कई पुरुष और स्त्रियों के साथ कई देशों में भ्रमण किया था तथा वह भारत में भी आया था। भारत में वह तीन अथवा बावन वर्ष रहा तथा भारतवासियों को पराजित करके उसने उन्हें मदिरा बनाना तथा फल उगाने के साथ-साथ देवताओं की उपासना भी सिखाई। यहाँ पर उसने कई नगर भी बनाए तथा भारतवासियों को कई नियम सिखाए। भारतवासी उसे देवता मानकर पूजते थे।[4]

डायनिसस और सेलिनस का कृष्ण और बलराम की भाँति अटूट गठबन्धन दिखाया गया है। यूनानी देवता सेलिनस (Silenus) और बलराम-विषयक प्राचीन कल्पनाएँ बहुत कुछ समानान्तर प्रतीत होती हैं। सेलिनस डायनिसस का केवल **बलराम और सेलिनस** सहचर ही नहीं है वरन् उसीके समान देवता है तथा कई बातों का बलराम की तरह भ्रम भी करता है। वह मद्यप्रिय है और संगीत का प्रेमी होते हुए बंसी का आविष्कार करता है तथा बंसी बजा-बजाकर प्रायः नृत्य करता रहता है। उसकी इन नृत्यप्रियता के ही कारण एक नृत्य-विशेष का नाम सेलिनस (Silinus) पड़ा था। सेलिनस की मद्यप्रियता को सूचित करने वाला एलिस (Elis) में उसका एक मन्दिर भी है जिसमें मदिरा-देवी उसे मदिरा का प्याला देती हुई चित्रित की गई है।[5] 'विष्णु-पुराण' में भी बलराम के विषय में ऐसी ही कल्पना दृष्टिगोचर होती है। बलराम की ही भाँति परवर्ती काल में सेलिनस के भी मन्दिर नहीं मिलते।

अत हम देखते हैं कि डायनिसस और सेलिनस तथा कृष्ण और बलराम-विषयक लोक-विश्वासों में कई ऐसी आश्चर्यजनक समानान्तर कल्पनाएँ हैं जो एक सामान्य उद्गम को ही सूचित नहीं करतीं वरन् उनका क्राइस्ट से बहुत प्राचीन होना भी सिद्ध करती हैं।

कई पाश्चात्य पंडितों ने तो महाभारत में वर्णित श्वेत-द्वीप को भी विदेशी देश मान कर एकेश्वरवाद के आधार पर उसे ईसाई धर्म का अनुयायी मानने का साहस किया है।[6]

---

१ आक्सफ़ोर्ड कम्पैनियन टू क्लासिकल लिटरेचर, पृ १५०।
२ वही।
३ वही।
४ डिक्शनरी ऑफ़ ग्रीक एण्ड रोमन [illegible] एण्ड माइथोलोजी, बाई स्मिथ, खण्ड १ पृ० १०४०।
५ डिक्शनरी ऑफ़ ग्रीक एण्ड रोमन बायोग्राफी एण्ड माइथोलोजी, खण्ड ३ पृ ८२१।
६ जे आर ए एस० ११ ० पृ २४१।
कानेरिया [illegible]

वास्तव में इस भ्रामक मत के प्रवर्तकों के पास कोई भी ठोस प्रमाण नहीं है। देखा जाय तो वैदिक दर्शन की तुलना में जहाँ ईसाई धर्म में किसी भी आकर्षक तत्त्वज्ञान के दर्शन नहीं होते वहाँ दूसरी ओर उस धर्म में प्रतिपादित कृपालु ईश्वर की कल्पना तथा भक्ति की स्थापना वैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक भारतीय धार्मिक साहित्य में न्यूनाधिक रूप से दृष्टिगोचर होती है, जिसका स्पष्ट निरूपण ईसा से बहुत पहले प्रचलित वासुदेव-सम्प्रदाय में हो चुका था। इसी प्रकार 'क्राइस्ट मास' जिन एल मनोज फ्रावर की कल्पनाएँ भी सर्वप्रथम केवल क्राइस्ट से ही सम्बन्धित नहीं थीं वरन् उनका अस्तित्व क्राइस्ट से भी पहले संसार की विभिन्न जातियों में विद्यमान था। प्राचीन सेमेटिक जातियों में महापुरुषों की देवताओं से उत्पत्ति विषयक कल्पनाएँ इसी बात की पुष्टि करती हैं। भारतीय कथाओं में पंच-पाण्डवों की देवताओं से तथा राम लक्ष्मण भरत और शत्रुघ्न की देवता प्रसाद से उत्पत्ति कुछ ऐसी ही प्राचीन समानान्तर कल्पनाएँ हैं जो तात्त्विक दृष्टि से अज्ञात या दैवी पिता वाली सन्तान सम्बन्धी कल्पनाओं को सूचित करती हैं।

बाल-कृष्ण पर क्राइस्ट के प्रभाव-विषयक दूसरा आक्षेप है जन्म-महोत्सव के अवसर पर बाल-कृष्ण के साथ माता देवकी की पूजा। वेबर[1] का कहना है कि माता देवकी का स्तन पान करते हुए बाल-कृष्ण की कल्पना ईसाई धर्म की 'मैडोना एण्ड दि चाइल्ड' की कल्पना से प्रभावित है। वेबर का अनुमान पक्षपातरहित नहीं है क्योंकि एक ओर जहाँ केन्नेडी[2] स्पष्ट रूप से कहता है कि ईसा की दसवीं शताब्दी तक ईसाई धर्म में स्तन-पान कराने वाली माता की कल्पना ही नहीं थी तथा उसे प्राचीन हिन्दू धर्म में देखता है वहाँ दूसरी ओर पामपर[3] कहता है कि कुमारी मेरी की पूजा का प्रचार ईसा की चौथी शताब्दी तक नहीं हो पाया था। सत्य तो यह है कि ऐसी कल्पनाएँ हिन्दू धर्म के लिए नवीन नहीं थीं अपितु वे प्राचीन भारतीय साहित्य में बहुलता से मिलती हैं। उदाहरणार्थ रामायण में जिसे विद्वान् ईसा-पूर्व की रचना मानते हैं बालक राम को कौशल्या की गोद में बैठा हुआ चित्रित किया गया है।[4] ग्रियर्सन का कहना है कि स्तन-पान कराने वाली माता की पूजा बौद्ध धर्म के अन्तर्गत हारिति की पूजा पर आधारित है जिसे 'बौद्ध मैडोना' भी कहा जाता है।[5]

महामाता की पूजा

अत बाल-कृष्ण-सहित माता देवकी की पूजा की कल्पना ईसाई धर्म का प्रभाव न होकर छान्दोग्य उपनिषद् के 'देवकी-पुत्र' शब्द में निहित अर्थ-परम्परा का ही अनुशीलन करती प्रतीत होती है।

परमेश्वर के बाल-रूप की उपासना की ही भाँति (Mother Goddess) की उपासना भी ईसाई धर्म की देन न होकर अत्यन्त प्राचीन कल्पना सिद्ध होती है। महामाता की उपासना का प्रचलन संसार की लगभग सभी प्राचीन जातियों में था तथा मुख्यतः उसका सम्बन्ध सृष्टि की उत्पत्ति तथा संहार से अभिव्यक्त होता है। बैबिलोनिया में मदर गौडेस की

1 इंडियन एंटिक्वेरी 1874 पृ 21।
2 जे आर ए० एस 1907, पृ 484।
3 इबद एचड पृ० 40।
4 मैक्लोयेड-संस्कृत लिटरेचर, पृ० 100-10।
5 एन सौवरी वर्ल्ड हिस्ट्री ऑफ बेल्वर टेम्पल, पृ 130-48।

उपासना इस्तर (Ishtar) की कल्पना में दृष्टिगोचर होती है तथा उसका सम्बन्ध जल, वनस्पति, पशु, यौन विवाह, सन्तानोत्पत्ति तथा संहार आदि से ही रहा है।[1] साथ ही वह पुरुषों की स्वामिनी संहारक शासनकारी प्रलय एवं युद्ध की देवता मानी जाती थी। अरब में जहाँ का जीवन कठिन है वह पशुधन की देवता के रूप में पूजनीय थी।[2] इस्तर की कल्पना सुमेरियन अथवा सेमेटिक बैबिलोनिया के लोगों की न होकर आदि-सेमेटिक जाति की कल्पना थी[3] तथा इस्तर प्रकृति की रचनात्मक तथा संहारात्मक शक्ति का मूर्त रूप मानी जाती थी। *आदि-सेमेटिक जातियों में युद्ध के समय माता अपने कुनबे की मुखिया एवं अगुवा* होने के कारण ही कदाचित् इस्तर युद्ध-देवता मानी जाने लगी।[4] प्राचीन फिलस्तीन में भी मदर गोडेस की उपासना का प्रचलन था।[5] इसी प्रकार कनान मेसोपोटामिया उत्तरी अरब तथा एबिसीनिया में भी आरम्भ में इस्तर की उपासना को मान्यता मिली हुई थी।[6]

इस्तर और दुर्गा में इतना साम्य दृष्टिगोचर होता है कि उसे केवल संयोग नहीं कहा जा सकता।[7] सीरियन देवी कादेश (Kadesh) सिंह की पीठ पर खड़ी दिखाई गई है।[8] बानीकान्त काकती का अनुमान है कि जिस समय आर्य मेसोपोटामिया में थे उस समय महामाता की उपासना उन्होंने बैबिलोनिया से ली थी[9] क्योंकि बैबिलोनिया के चन्द्र-देवता का नाम सिन (Sinn) और कूर्म-पुराण में[10] दुर्गा के सहस्रनामों में 'सिनीवाली' नाम परस्पर सम्बन्धित दृष्टिगोचर होते हैं।[11] यही चन्द्र-देवता जापान में यद्दो (Yeddo) कहा जाता है तथा उसकी योनि के रूप में पूजा होती है।[12]

भारत में महामाता की उपासना आर्यों के भारत में आकर बसने से भी पहले विद्यमान थी। मोहेनजोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाई से पता चला है कि आर्य-पूर्व भारत की आदिम जातियों की उपासना-पद्धति में शिव अम्मा तथा मुरुगन की उपासना का प्रचलन था।[13] प्रागैतिहासिक शिवदेवता की यही प्राचीन कल्पना ऐतिहासिक शिव सुब्रह्मण्य या कार्तिकेय और पार्वती में रूपान्तरित होती है।[14] इन देवों की ओर ऋग्वेद[15] में स्पष्ट संकेत मिलता है जहाँ इन्हें पुमान स्त्री तथा महादेव कहा गया है। यहीं स्त्री को उमा अथवा माया से पारंगत कहा

१ दि मदर गोडेस कामाख्या बानीकान्त काकती, पृ ३१।
२ ई० आर० ई०, खण्ड ७, पृ० ४२८, ४२९।
३ वही, पृ ४२८।
४ वही, पृ ४३१।
५ वाट मीन दीज स्टोन्स बरोज पृ २२१।
६ ई० आर० ई० खण्ड ७, पृ ४२८।
७ मेमसएमेला हर-पीस ११४७ पृ० १-११।
८ वाट मीन दीज स्टोन्स बरोज पृ० २२५।
९ दि मदर गोडेस कामाख्या बानीकान्त काकती, पृ ३१।
१० कूर्म पुराण, १।१२।
११ वही।
१२ वही।
१३ मोहेनजोदड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलाइजेशन, जॉन मार्शल खण्ड १, अध्याय ४।
१४ दि रिलिजन ऑफ इण्डिया : ए० पी० करमरकर खण्ड १ पृ ९१।
१५ ऋग्वेद ७,१०४,२४।

गया है। प्राचीन 'अम्मा' का यही तत्त्व अथवा माया अद्वैत-वेदान्त विधान में परब्रह्म की माया शक्ति अथवा 'पुरुष और प्रकृति' में 'प्रकृति-तत्त्व' का रूप धारण करती है। प्रागैतिहासिक काल में भी अम्मा उत्पत्ति की देवता तथा शिव की पत्नी मानी जाती थी तथा उसकी पूजा योनि-पूजा के रूप में प्रचलित थी। योगिनी-तन्त्र में योनि को उत्पत्ति का ही प्रतीक माना गया है।[1] इतना ही नहीं योगिनी-तन्त्र में काली स्पष्ट रूप से ब्रह्मा से योनि का स्मरण करके सृष्टि निर्माण करने के लिए कहती है।[2] गोहाटी से तीन मील दूर कामाख्या देवी का मन्दिर तथा उसमें मूर्ति के स्थान पर पत्थर में उत्कीर्ण योनि महामाता अथवा काली की उत्पत्ति-शक्ति का ही प्रतीक है।[3] इस प्रकार की उपासना केवल प्राचीन भारत में ही नहीं वरन् जापान तथा चीन में भी विद्यमान थी। महाभारत में वर्णित देवताओं की माता अदिति की कल्पना इसी प्राचीन मान्यता पर आधारित है।[4]

महामाता की कल्पना को 'मैडोना' की कल्पना से प्रभावित मानना केवल प्रमाद ही नहीं है वरन् ऐतिहासिक सत्य को जान-बूझकर अस्वीकार करना है। वस्तुतः शिव की पत्नी तथा अम्मा की प्राचीन कल्पना ही वैदिक श्री और पौराणिक लक्ष्मी की कल्पना में विकसित हुई है।

अतः हम देखते हैं कि प्राचीन वासुदेव-सम्प्रदाय की विशेषताएँ पौराणिक काल में विष्णु और कृष्ण के एकीकरण से सम्पन्न होकर कृष्ण विषयक वर्तमान कल्पनाओं में उद्भूत हुई तथा वे किसी भी प्रकार ईसाई धर्म से प्रभावित नहीं हैं।

बुद्धावतार

विष्णु के दशावतारों में गौतम बुद्ध के समावेश का बीज बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव एवं उसके विकास में ही अविकसित होता है। स्पष्ट ही इस नई विचारधारा का प्रादुर्भाव ब्राह्मण-धर्म के अन्तर्गत हिंसा, बलिदान तथा चातुर्वर्ण्य के चरम विकास की प्रतिक्रिया के रूप में भागवत तथा जैन धर्मों की भाँति हुआ।[5] अतएव बौद्ध-तत्त्ववाद प्राचीन भागवत-धर्म के अधिक निकट होते हुए भी सांख्य की अपेक्षा प्राचीन वेदान्त से सम्बन्धित प्रतीत होता है।[6] वस्तुतः बौद्ध दर्शन निरात्मवादी होते हुए भी उपनिषदों की वैचारिक प्रणाली पर आश्रित है। अन्तर केवल इतना है कि उपनिषदों का तत्त्ववाद एवं तर्क-साक्षात्कार की अनुभूति एवं निष्ठा पर आधारित होने के कारण पूर्णरूपेण ईश्वरवादी था, पर बौद्ध-दर्शन वैचारिक अथवा आत्मा में अनास्था होने के कारण निरीश्वरवादी। मैकनिकल (Macnicol) तथा सीनार्ट (Senart) तो बौद्ध धर्म का उद्गम प्राचीन कृष्ण-उपासना के वातावरण में ही मानते हैं।[7]

बुद्ध का निरात्मवाद मूलतः वैयक्तिक होने के कारण साधारण जनता की उपासना क्षुधा को शान्त करने में असमर्थ था तथापि वैदिक कर्मकाण्ड और चातुर्वर्ण्य की विषमताओं

---

१ मि मरर मोरेस कामाख्या शाक्तिमन्त्र कामरूप, पृ० १० ।
२ योगिनी-तन्त्र, प्रथम भाग अध्याय १२ ।
३ डि मसर मोरेस कामाख्या, पृ० १५ ।
४ महाभारतांक (संक्षिप्त) गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० ७१ ।
५ एम चौधरी, पृ० ३। इन्डियन एंटिक्वेरी, मार्च, पृ० १२३ ।
६ वही ।
७ इंडियन थीइज़्म, पृ० ५५ ।

से प्रसित जनता में उसके प्रति आदर भाव का अभाव कभी भी नहीं था। अतः बुद्ध-निर्वाण के बाद बुद्ध के अनुयायी सद्धर्म की लोकग्राह्यता के लिए बौद्ध धर्म में ऐसे तत्त्वों का समावेश करने लगे जो केवल जनसाधारण की उपासना के लिए ही सुलभ न थे वरन् साथ ही जिन्हें जनता में मान्यता भी मिली हुई थी। इन तत्त्वों में से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व था भक्तिवाद। वैदिक धर्म के अन्तर्गत ध्यान-योग श्रद्धा एवं उपास्य के प्रति अनन्य भाव में भक्ति का निरूपण बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव से बहुत पहले हो चुका था तथा वह साधना की दृष्टि से लोकप्रिय भी होने लगा था। वासुदेव-सम्प्रदाय ने इसी भक्ति को साधना का एकमात्र मार्ग मान कर चातुर्वर्ण्य की सीमाओं का उल्लंघन करके जनसाधारण के लिए उपासना का सरल उपाय अनन्य भक्ति घोषित करके भक्ति-मार्ग को और भी सुदृढ़ बना लिया। बौद्ध-नैरात्म्यवाद के प्रादुर्भाव के पहले यह साधना प्रणाली अत्यन्त लोकप्रिय बन चुकी थी। अतः यह आवश्यक था कि वह किसी-न किसी रूप में बौद्ध धर्म की नैरात्म्यवादी चेतना को प्रभावित करती।

परमतत्त्व के बारे में स्वयं गौतम बुद्ध का मौन[1] जिज्ञासु साधक की बौद्धिक क्षुधा शान्त कर सकने में असमर्थ था। यद्यपि परमतत्त्व की विवेचना के विषय में बुद्ध का मौन इन्द्रियों की भांति मानसिक व्यभिचार को रोकने मात्र के लिए ही प्रतीत होता है तथापि अन्तिम तत्त्व-विषयक लोक-जिज्ञासा का समाधान न करने के कारण ही बौद्ध धर्म में परम तत्त्व के विषय में भक्ति श्रद्धा अथवा ध्यान जैसी अनुभूतिपरक मानसिक अवस्थाओं के लिए अनायास ही स्थान बना रहा।

गौतम बुद्ध के निर्वाण प्राप्त करते ही महायान सम्प्रदाय की स्थापना में इन्हें स्वीकार किया गया तथा बौद्ध-तत्त्ववाद जनसाधारण सुलभ न होने के कारण ही बुद्ध के अनुयायियों ने निवृत्ति-मार्ग की अपेक्षा वैदिक भक्ति के सरल मार्ग का अनुकरण करके बुद्ध को परमेश्वर मानकर सम्भवतः उन्हें 'स्वयंभू या अनाद्यनन्त पुरुषोत्तम' का रूप प्रदान किया।[2] इस सम्भावना का समर्थन बौद्ध ग्रन्थों से होता है जिनमें बुद्ध को जगत्-पिता और जीवन को बालक माना गया है तथा बुद्ध के सम्यग्दृष्टि-सद्धर्म का ह्रास होते ही बुद्ध के पुनराविर्भाव में आस्था प्रकट की गई है। यही नहीं बुद्ध की भक्ति बौद्ध ग्रन्थों की पूजा स्तूपों के सम्मुख कीर्तन तथा कमल अर्पण करने से मनुष्य के सद्गति प्राप्त करने का भी प्रतिपादन किया गया है।[3] मिलिन्द प्रश्न में तो गीता[4] की तरह अन्तिम समय में बुद्ध की शरण जाने से जीव को स्वर्ग प्राप्ति का अधिकारी बनाया गया है। इस प्रकार बुद्ध का नैरात्म्यवादी तत्त्ववाद जो अपने मूल रूप में निवृत्ति-मार्गी दुःखवाद तथा जीव-दयावाद आदि वैदिक धर्म की विभिन्न प्राचीन धर्म चेतनाओं व स्थापनाओं को आत्मसात् किये हुए था कालान्तर में स्वयं बुद्ध को परमेश्वर के रूप में समासीन करके तथा अवतार-तत्त्व को मान्यता देकर वैदिक धर्म-तत्त्वों के सामान्य धरातल पर उतर आया। बौद्ध धर्म में वैदिक तत्त्वों का यही समावेश तथा परवर्ती-काल में उस धर्म का ह्रास और वैदिक धर्म का पुनरुत्थान बुद्ध को विष्णु के दशावतार की कोटि में लाने में समर्थ हुआ। वैष्णव-धर्म-क्षेत्र में बुद्ध का महत्त्व जीव-दयावाद के प्रतिपादन तथा

१ भारतीय तत्त्वज्ञान, म. वि. केतकर, पृ. १८७।
२ भारतीय तत्त्वज्ञान म. वि. केतकर, पृ. १८८।
३ वही।
४ गीता, ८।१२।

विभिन्न प्राचीन उपासना-प्रणालियों के समन्वय में ही दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन धर्म सम्प्रदायों में निरूपित इन दो महत्त्वपूर्ण तत्त्वों में वैदिक आत्मवाद के

जीव-दयावाद

समावेश के कारण ही गौतम-बुद्ध को निरीश्वरवादी धर्म के प्रवर्तक होते हुए भी वैष्णव-धर्म में स्थान मिल सका। बुद्ध और विष्णु के इस एकीकरण में दूसरा सहायक तत्त्व बौद्ध धर्म के अन्तर्गत संघों की स्थापना है। गौतम बुद्ध ने प्रचलित वर्णाश्रम तथा जाति भेद का तो खण्डन किया पर साथ ही केवल निवृत्ति-मार्ग को ही निर्वाण का सच्चा मार्ग मानकर अनजाने ही वैदिक वर्णाश्रम के समानान्तर संघ-संस्था को जन्म दिया। बौद्धों के संघ यद्यपि नीति मानवता तथा आचरण पर आधारित अपने विशिष्ट ध्येय को लेकर ही अस्तित्व में आए, तथापि वैचारिक स्वतन्त्रता के प्रतिरोध तथा सद्धर्म के विषय में कट्टरता के कारण वे वास्तविक निर्वाण से पराङ्मुख होकर केवल संघ मात्र रह गए। इस तरह वर्णाश्रम का खण्डन करते हुए भी बौद्ध धर्म ने जनता को एक ऐसा समाज प्रदान किया जो वर्णाश्रम का ही एक दूसरा रूप था।[१]

पौराणिक काल में विष्णु के दशावतारों में बुद्ध का समावेश प्राचीन भारतीय विभिन्न धर्म-चेतनाओं का समन्वय सूचित करता है तथा इस प्रकार वैदिक धर्म में जीव-दयावाद अथवा अहिंसा के महत्त्व की प्रतिष्ठापना करके वैष्णव धर्म को और भी व्यापक तथा लोकग्राही स्वरूप प्रदान करता है। यही कारण है कि भागवत-पुराण में गौतम-बुद्ध को देवताओं के शत्रुओं के नाश के लिए अवतार माना गया है गीता में प्रतिपादित धर्म की संस्थापना के लिए नहीं।[२] यह पौराणिक मान्यता गौतम बुद्ध को धर्म संस्थापक के रूप में महत्त्व न देकर उपरोक्त अहिंसा तथा मानवता के कारण ही देवत्व की कोटि में रखती है।

विष्णु के दशावतारों में से अन्तिम अवतार भविष्य से सम्बन्धित है। पुराणों में इसे कल्कि-अवतार कहा गया है। महाभारत कल्कि को विष्णु का दसवाँ अवतार तथा उसका जन्म 'विष्णुयशा' नामक ब्राह्मण के घर मानता है।[३] पौराणिक

कल्कि-अवतार

उल्लेखों के अनुसार कलियुग के अन्त में सम्भल ग्राम में विष्णु कल्कि के रूप में अवतरित होकर म्लेच्छों तथा शूद्र राजाओं का विनाश करके धर्म की संस्थापना करेंगे तथा इसी अवतार के साथ-साथ कृत-युग का पुनः उदय होगा।[४] वायु और मत्स्य-पुराणों के अनुसार प्रमति भार्गव ही विष्णु के अवतार का कार्य करेंगे।[५] महाभारत वायु तथा भागवत-पुराणों का कहना है कि कल्कि अवतार म्लेच्छों को पराजित करके सार्वभौम चक्रवर्ती तथा धर्म-विजयी राजा होगा तथा उसीके समय से कृत-युग का आरम्भ होगा।[६]

विष्णु के इस भावी अवतार को पुराणों में 'कल्कि' कहा गया है तथा इस अवतार के

---

१ इण्डियन हिस्टोरी, पृ० १२६ ।

२ अर्ली हिस्टरी ऑफ विष्णुइज्म, रायचौधरी, पृ० ७७ ।

३ महाराष्ट्र ज्ञानकोश भाग २०, पृ० २४३ ।

४ हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र—पी० वी० काणे खण्ड ३, पृ० ९२६ ।

५ वायु-पुराण, ९८ अ० १०, मत्स्य-पुराण १४४.१०-१४ ।

६ वायु-पुराण, ९८.१०४.११, ९९.४११-४१४ भागवत-पुराण, अ० १२, २.१६-२३। महाभारत, वन-पर्व, १९०.९३.९७ ।

हो चुकने तथा भविष्य में होने विषयक दोनों का उल्लेख मिलता है। महामहोपाध्याय काणे के मतानुसार जहाँ तक कल्कि-अवतार के हो चुकने के उल्लेखों का सम्बन्ध है वे सम्भवतः भारतीय साहित्य में कल्प-कल्पान्तर की पुनरावृत्ति को ही सूचित करते हैं तथा इस प्रकार भावी अवतार-विषयक अन्य पौराणिक उल्लेखों के विरोधी नहीं हैं।[1] उनका अनुमान है कि कल्कि का विष्णुयशा-सम्बन्धी पौराणिक उल्लेख भी ऐतिहासिक घटना पर कल्पित है। इस अनुमान की पुष्टि में मिहिरगुल नामक बर्बर हूणाधिपति की यशोधर्मन अथवा विष्णुवर्धन के हाथों ऐतिहासिक पराजय को उद्धृत करते हुए म० म० काणे ने 'विष्णुयशा' को इन दोनों नामों की संयुक्ति माना है।[2] महामहोपाध्याय काणे का अनुमान युक्तियुक्त प्रतीत होता है क्योंकि कलि-काल आरम्भ होने के कुछ ही शताब्दियों पश्चात् मिहिरगुल जैसे बर्बर म्लेच्छाधिपति का भारत पर आक्रमण लाखों की संख्या में नर-नारियों का वध तथा यशोधर्मन या विष्णुवर्धन के हाथों उसके दमन में यदि पुराणकार विष्णुयशा के यहाँ कल्कि-अवतार होने की कल्पना कर लें तो वह सर्वथा अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होती। इस सम्भावना को मान लेने पर विष्णुयशा के रूप में अवतार हो चुकने को सूचित करने वाले उल्लेखों का भी एक हद तक समाधान हो जाता है।

कल्कि-अवतार का बीज भी अन्य अवतारों की भाँति गीता में ही द्रष्टव्य होता है। कलियुग से ग्रसित जन-जीवन वैदिक धर्म की ग्लानि निरीश्वरवादी नई-नई विचारधाराओं के उद्गम और दिन-प्रतिदिन बढ़ते हुए अनाचार को देखकर ही पुराणकारों ने जनसाधारण को निराशा-रूपी विनाश के गह्वर से बचाने के लिए भगवद्-वाक्य[3] को प्रमाण रखकर भावी अवतार की कल्पना की होगी। इस सम्भावना का समर्थन अवतार के नामकरण से भी होता है। 'कल्कि' शब्द स्पष्ट ही कलंक पाप कल्मष तथा कलियुग के गुण-धर्म-विशेष अनाचार का प्रतीक होकर कलियुग में अधर्म के चरम विकास को सूचित करता है। अतः भावी अवतार को 'कल्कि' नाम प्रदान करने में कलियुग के कल्मष के चरम विकास का बोध कराना ही अभिप्रेत है।

वेबर ने 'कल्कि' शब्द का बड़े ही विचित्र ढंग से अर्थ किया है। उसका कहना है कि 'करिक' का अर्थ है 'पाप' और 'कर्क' होता है सफेद घोड़ा। अतः 'कल्कि' 'करकी' का ही भ्रष्ट रूप है जिसका अर्थ 'सफेद घोड़े वाला सवार' होता है।[4] इस प्रकार वेबर खींच-तान कर कल्कि-अवतार-विषयक पौराणिक कल्पना का बीज ईसाइयों की बुक ऑफ़ रेवेलेशन[5] में निरूपित कल्पना में देखता है तथा इस प्रकार अनायास ही समस्या-समाधान को एक विपरीत दिशा में मोड़ देता है। वेबर का अर्थ-निरूपण कोरी कल्पना है, क्योंकि एक तो सफेद घोड़े पर आरूढ़ देवता की कल्पना पूर्णरूपेण ईसाई अथवा हिन्दू दृष्टि से म्लेच्छ-धर्म की मान्यता होने के कारण धर्मनिष्ठ पुराणकारों को मान्य नहीं हो सकती थी और दूसरे उनकी दृष्टि में कलियुग धर्म की ग्लानि का युग होने के कारण ही भावी अवतार की कल्पना की

१ हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र पा० वी० काणे, पृ० ६२२-२५।
२ वही।
३ गीता, ४।७।
४ [illegible] खण्ड १ अंक २८, पृ० १७-२०।
५ बुक ऑफ़ रेवेलेशन अध्याय १६।

आवश्यकता प्रतीत हुई, जो पूर्ण रूप से तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों के अनुकूल प्रतीत होती है। अमृत-मंथन में समुद्र से प्राप्त 'उच्चैःश्रवा' अश्व भी श्वेत था।

मैत्रेय बुद्ध भविष्यत बुद्धावतार

वैष्णव धर्म के अन्तर्गत कल्कि अवतार की भाँति बौद्ध धर्म में भी तत्सम परिस्थितियों में भविष्यत बुद्ध-अवतार की कल्पना दृष्टिगोचर होती है। बौद्ध विश्वासों के अनुसार प्रत्येक कल्प के आरम्भ में जल-निमग्न पृथ्वी पर केवल उतने ही कमल फूलते हैं जितने बुद्ध अवतरित होने वाले हों।[1] वर्तमान कल्प के आरम्भ में जिसे महाकल्प कहा गया है परवर्ती-काल में एक सहस्र कमलों का प्रकट होना माना गया है[2] तथा इस कल्प में चार बुद्धों का हो चुकना स्वीकार करके गौतम के पाँचवें बुद्ध के रूप में मैत्रेय बुद्ध के अवतरित होने का निर्देश है।[3] हिन्दू धर्म की भाँति बौद्ध धर्म में भी सद्धर्म की ग्लानि होते ही उसकी संस्थापना के लिए बुद्ध अवतार ग्रहण करते हैं[4] तथा वर्तमान युग में इसी कार्य-पूर्ति के लिए भविष्यत मैत्रेय नामक बुद्ध-अवतार की कल्पना है। ललितविस्तर के अनुसार गौतम के बुद्ध बनने के लिए जाते समय यही मैत्रेय तुषित-स्वर्ग में बुद्ध के सिंहासन पर आसीन हुए थे।[5] महायान सूत्रों के अनुसार बौद्ध निर्वाण के समय मैत्रेय बोधिसत्त्व के रूप में वहाँ उपस्थित थे।[6]

जरथुस्त्र धर्म में भावी अवतार

हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों की भाँति भावी अवतार की कल्पना प्राचीन ईरानियों के अवेस्ता धर्म में भी उपलब्ध होती है। अवेस्ता धर्म के अनुसार जरथुस्त्र ने मरते समय अपने तीन बीज संसार में छोड़े थे जो कासू झील में सुरक्षित हैं तथा आगामी तीन सहस्राब्दियों में से प्रत्येक सहस्राब्दि में उनमें से एक-एक बीज झील में नहाने वाली कुमारियों के गर्भ में प्रवेश करके महापुरुषों के जन्म का कारण बनेगा जो दुर्दिन में अपने-आपको प्रकट करके कुकाल का नाश करेंगे। इन तीन महापुरुषों में से अंतिम महापुरुष किरीसास्प (Keresaspa) के हाथों अज़ही दहाक (Azhi Dahaka) की मृत्यु होते ही प्रकट होगा तथा सबको पराजित करके संसार से समस्त पाप मिटा जायेगा।[7] एक अन्य विश्वास के अनुसार जोरास्टर (Zoroaster) से तीन हजार वर्ष बाद उसीके बीज से एक नये साउशियान्ट (Saoshyant) का जन्म होगा तथा उसके उत्पन्न होते ही मृत पुनः जीवित होंगे और निष्कलंक-सृष्टि का आरम्भ होगा।[8]

वस्तुतः भावी अवतार की कल्पना केवल हिन्दू धर्म में ही न होकर संसार के लगभग सभी धर्मों में किसी-न-किसी अंश या रूप में विद्यमान है तथा उसका मुख्य आधार है अधःपतन से पुनरुत्थान में मनुष्य का चिरन्तन विश्वास।

---

१ ई० आर० ई०, खण्ड १, पृ० १६०।
२ वही पृ० २१।
३ वही।
४ इन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलिजन, पृ० ६६६।
५ वही।
६ वही।
७ डिक्शनरी ऑफ़ फोकलोर, पृ० ११६६।
८. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, पृ० ६८६।

(इ) कालियमर्दन—नाग-संस्कृति के दमन का प्रतीक

कृष्ण की बाल-लीलाओं के अन्तर्गत कालियमर्दन कथा का भी समावेश हुआ है। इस कथा का विस्तृत वर्णन विष्णु-पुराण और भागवत में मिलता है। भागवत में कथा इस प्रकार है—'कालिय काद्रवेय-कुलोत्पन्न एक नाग था। पहले वह रमणक द्वीप में रहा करता था। गरुड़ उस द्वीप में आकर नागों को बार-बार खाया करता था। इसलिए सब नागों ने मिलकर तय किया कि वे गरुड़ को नियमित रूप से भक्ष्य सामग्री देते रहेंगे। उन्होंने अपना निर्णय गरुड़ को कह सुनाया तथा गरुड़ ने उसे स्वीकार कर लिया और नाग सुखी हुए। एक बार गरुड़ का भक्ष्य उसे न देकर कालिय स्वयं खा गया। परिणामस्वरूप गरुड़ ने उससे युद्ध किया और कालिय भागकर यमुना में जा छिपा। उसे यमुना में छिपा हुआ देखकर गरुड़ लौट गया क्योंकि सौभरि ऋषि के शाप के कारण वह स्थान गरुड़ के लिए अगम्य था और यह रहस्य कालिय जानता था इसीलिए वहाँ जाकर वह निर्भयता से छिपा था। उसका विष इतना भयानक था कि पक्षी भी वहाँ की जलवायु के स्पर्श से मर जाया करते थे। कालिय के कारण यमुना का जल विषमय हो गया था। कृष्ण के साथी गोपाल एक बार भूल से वहाँ जा पहुँचे तथा वहाँ का जल पीकर मर गए। इस बात का पता चलते ही कृष्ण तत्काल वहाँ जा पहुँचे और एक ऊँचे वृक्ष पर चढ़कर पानी में कूद पड़े। तत्पश्चात् कालिय के पास पहुँचकर उन्होंने अपनी अद्भुत शक्ति से उसे पकड़ लिया और उसका इतना मर्दन किया कि उसकी जान निकलने-सी लगी। कालिय को मरणासन्न देखकर उसकी पत्नियों ने कृष्ण से प्रार्थना की कि वे उसे प्राणदान दे दें। कृष्ण ने उसे प्राणदान दे दिया और यमुना का जल शुद्ध करके बाल-गोपालों को जिलाकर उन्होंने कालिय को फिर से रमणक द्वीप की ओर भगा दिया।[1]

भागवत की इस कथा से स्पष्ट होता है कि कृष्ण भक्त कवियों ने कालिय को परम्परानुसार एक विषैला साँप समझकर कृष्ण द्वारा उसके मर्दन की कथा कही है पर वस्तुतः कालिय कोई साँप न होकर नाग-संस्कृति का नेता है और कृष्ण द्वारा उसका मर्दन तथा समुद्र में जाने के लिए उसे विवश करना नाग-संस्कृति पर यादवों की विजय का प्रतीक है। हमने पहले कहा है कि पुराणों के रचना-काल में कई ऐतिहासिक घटनाएँ पौराणिक कथाओं से घुल-मिल गई हैं। हमारी इस धारणा का समर्थन इस बात से भी होता है कि द्वापर युग में नाग जाति विद्यमान थी। नागों के कई उल्लेख महाभारत में मिलते हैं। उदाहरणार्थ वैशाली के शासक करन्धम-पौत्र मरुत्त से नागों का युद्ध हुआ था। दूसरी बार उन्होंने तक्षशिला जीतकर अपने वैभव की वृद्धि की थी। हस्तिनापुर में आक्रमण करके परीक्षित द्वितीय को मार डाला था। शिशुनाग मगध के शासक थे। वे सुन्दर और बहुरूप थे तथा मणिमय कुंडल पहनते थे। उनके राजा वासुकी और शेष प्रसिद्ध थे।[2] नागों ने उत्तर-पश्चिम भारत से मगध तक आर्यों से युद्ध किया था। उन्होंने पुरुकुत्स से प्रार्थना की थी कि वह उन्हें मौनेय गन्धर्वों से बचावे जिन्होंने उन्हें उत्तर-पश्चिम भारत में दबा लिया था।[3] नाग

भागवत, दशम स्कन्ध अध्याय १६।
मथुरा परिचय पृ० ६७।
वही।

गोमती से सिन्धु, सिन्धु से मध्य प्रदेश और फिर वहाँ से दक्षिण की ओर गये थे। कुन्ती के पिता शूरसेन का मामा सुमुख नामक नाग का पितामह तथा चिकुर नामक नाग का पिता था।[1] इन्द्र के सारथी मातलि ने अपनी पुत्री गुणकेशी के लिए सुमुख नाग को चुना था। महाभारत में नारद ने सुमुख का परिचय यह कहकर दिया है कि वह ऐरावत नाग के कुल में उत्पन्न हुआ है। उसका नाम सुमुख है, पिता का नाम चिकुर और पितामह का आर्यक तथा माता का नाम वामन है। कुछ दिन पहले विनता के पुत्र गरुड़ ने चिकुर को मार डाला था।[2] समस्त नाग जल के वासी थे।[3] नागलोक का केन्द्र पाताल था। वहाँ जल बहुत था।[4] अर्जुन के पुत्र बभ्रुवाहन की माता नागकन्या ही थी। नागवंश का उल्लेख करते हुए राय चौधरी लिखते हैं कि पद्मपति नाग नागसेन और नन्दी नाग-राजपुत्र थे। पद्मपति तो स्पष्ट ही नागराज थे। मथुरा में पाई हुई मुद्राओं से भी इसका समर्थन होता है।[5] वे आगे कहते हैं कि गरुड़ गुप्त राजाओं का राज-चिह्न था जिन्होंने नागों का दमन किया था। गुप्त वंश के राजाओं के आराध्य-देव कृष्ण थे और पुराणों में कृष्ण द्वारा कालिय नाग का मस्तक कुचलने की कथा है।[6] ध्यान देने की बात है कि पुराणों में ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी में यमुना के मैदान में और मध्य प्रदेश में नागों के राज्य का उल्लेख है। विष्णु-पुराण से पता लगता है कि पद्मावती और मथुरा में नाग-वंश का राज्य था।[7] कदाचित् विदिशा में भी नागों के ही किसी वंश का राज्य था।[8] वैदिक साहित्य में कालिय का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता यद्यपि नागों के अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं। वैदिक साहित्य के ये उल्लेख नाग जाति के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहना अधिक युक्तियुक्त होगा कि कृष्ण ने यमुना में रहने वाले किसी सर्प को न नाथकर यमुना के मैदान के अधिपति कालिय नामक किसी नाग सामन्त को पराभूत करके वहाँ से भगा दिया था। कालान्तर में यह ऐतिहासिक घटना सूक्ष्म रूप से कालिय-मर्दन लीला में परिवर्तित हो गई, जिसका वर्णन हिन्दी और मराठी कवियों ने लीला के रूप में किया है।

(ई) वैष्णव धर्म और सम्प्रदाय

सम्प्रदाय

महाभारत से पूर्व वैदिक साहित्य में 'सम्प्रदाय' का उल्लेख नहीं मिलता। महाभारत में भी केवल पाँच सम्प्रदायों की चर्चा की गई है—सांख्य, योग पांचरात्र, वेद और पाशुपत। पांचरात्र मत वैष्णव भक्ति मत का प्रतिपादक था और पाशुपत शैव भक्ति का,[9] तथापि ये 'सम्प्रदाय' की

---

१ इंडिका पृ० ६८५, १०७१, १०७७।
२ महाभारत, उद्योगपर्व अध्याय १०३।
३ वैदिक माइथोलोजी पृ० ९९।
४ वही।
५ पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ एन्शेंट इंडिया, डॉ० राय चौधरी पृ० ५१२-१३।
६ वही पृ० ५३३।
७ वही, पृ० ५३५।
८ भक्ति पंथ, एलिसटेरी, पृ० ४१।
९ हिन्दुत्व, रामदास गौड़, पृ० ५६१।

सम्प्रदाय अपेक्षा 'मत' के ही रूप में विद्यमान थे।

पौराणिक युग से पूर्व मूल वैदिक धर्म नारायणीय भागवत पांचरात्र आदि विभिन्न रूपों में निरूपित हो चुका था। इन निरूपणों में अन्तिम तत्त्व-विषयक एकता होते हुए भी उपासना-पद्धति और तत्त्व निरूपण में कतिपय भेद होने के कारण शैव-मत जैसे अनार्य और बौद्ध जैन जैसे निरीश्वरवादी धर्मों के विरोध के लिए आवश्यक था कि वैदिक धर्म सुसंगठित रूप धारण करता। यह सम्भवतः वह काल था जब वैदिक धर्म दो प्रमुख अंगों में बँट चुका था। एक था ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड जिसके उपास्य देवता 'यज्ञोदेव' विष्णु' थे तथा जिसके अन्तर्गत यज्ञ मे हिंसा को प्रश्रय मिला हुआ था और दूसरा था वासुदेव द्वारा चलाया हुआ प्राचीन अब्राह्मण अथवा क्षत्रिय उपासना-मार्ग जो भागवत-धर्म के नाम से प्रसिद्ध था तथा जिसमें हिंसा वर्ज्य समझी जाती थी। आर्येतर धर्मों के प्रचार की प्रतिक्रिया-स्वरूप आवश्यक था कि ये दोनों मुख्य वैदिक विचारधाराएँ एकसूत्र होकर व्यापक रूप धारण करतीं। यह प्रयत्न महाभारत के नारायणीय उपाख्यान की कल्पना में स्पष्ट रूप से अभिलक्षित होता है। महाभारत के शान्ति-पर्व के नारायणीय उपाख्यान में इस धर्म को जो भागवत-धर्म का ही पर्यायवाची माना जाने लगा था वैष्णव यज्ञ कहा गया है तथा प्रधान वैदिक कर्मकाण्ड के प्रवृत्ति-मार्ग के विपरीत इसे निवृत्ति-मार्ग कहकर इन दोनों प्रमुख विचारधाराओं का गठबन्धन सम्पन्न किया गया है। इस अभेद का अनुमोदन करने के लिए ही वासुदेव को वैदिक देवता विष्णु से अभिन्न माना गया[1] तथा विष्णु परमेश्वर पद पर अधिष्ठित हुए। इस समन्वय के फलस्वरूप पारस्परिक आदान प्रदान में अनायास ही ऐसे सभी तत्कालीन लोक-विश्वासों का समावेश हुआ जो किसी-न-किसी रूप में वैदिक धरातल पर अवलम्बित थे। पहले कहा गया है कि लौकिक विश्वासों के इस समावेश में ही विष्णु के दशावतार के बीज अन्तर्निहित हैं। इस प्रकार पौराणिक युग में आकर प्राचीन वैदिक धर्म ने सुसम्बद्ध होकर एक नया रूप धारण किया जिसके अधिष्ठाता विष्णु माने जाने लगे। विष्णु के एकमात्र आराध्य तथा सर्वश्रेष्ठ वैदिक देवता निर्धारित होते ही विष्णु-पथगामी आचार-धर्म ने सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया और वह वैष्णव-धर्म अथवा सम्प्रदाय कहलाने लगा। आगे चलकर इसी मूल सम्प्रदाय अथवा धर्म से उसकी अनेक शाखा-उपशाखाओं का प्रादुर्भाव हुआ।

शैव-मत का वैष्णवों द्वारा विरोध

सम्प्रदाय के रूप में वैष्णव-धर्म के प्रादुर्भाव के समय भारत में शिव-शक्ति-उपासना व्यापक रूप धारण कर चुकी थी। यह धर्म भारत की प्राचीन प्रात्य जातियों का धर्म था[2] और प्रात्य जन थे आर्यों के शत्रु। अतः स्वाभाविक था कि आर्य उनके धर्म को अनार्य अथवा हीन समझकर उसका प्रतिकार करते।[3] वैदिक धर्म आरम्भ से ही यज्ञ-प्रधान धर्म था। उसकी आस्था इंद्र, अग्नि सूर्य उषा आदि अनेक देवताओं पर थी तथा उसमें आयु वीर्य एवं दान को विशेष महत्त्व मिला हुआ था। इसके विपरीत व्रात्यों के शैव-शक्ति-धर्म में शिव आत्मा और पुरुष नामक विशेषों की स्थापना थी और शक्ति से युक्त केवल शिव

---

१ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ६९०।

२ रिलिजन्स ऑफ इंडिया, डॉ० ए० पी० करमरकर, पृ० ६६।

३ इंडियन फिलासफी, डॉ० राधाकृष्णन, पहला भाग, पृ० ३११।

को ही परमेश्वर माना जाता था जिसकी उपासना में गई जुगुप्सा-विधियों का प्रचलन था।[1] शिवेश की ऐसी ही कल्पना सुमेर की प्राचीन मान्यताओं में मिलती है तथा शिव-शक्ति की प्राचीनता को सिद्ध करती है।[2] प्राचीन शैव-धर्म के अन्तर्गत लिंगोपासना का अत्यधिक प्रच लन यह मुख्य कारण था जिसे आर्य आरम्भ में स्वीकार नहीं कर सके। महाभारत में स्पष्ट उल्लेख है कि शिवलिंग के रूप में शिव की जननेन्द्रिय की ही उपासना होती थी। इसीलिए शिव को अद्वितीय और अन्य वैदिक देवताओं से अलग माना गया था।[3] यद्यपि जननेन्द्रियों का प्राचीन सभ्य संसार में काफ़ी प्रचार था[4] फिर भी आर्यों के लिए यह उपासना अग्राह्य थी। ऐसी दशा में विरोध स्वाभाविक था तथा यह सर्वप्रथम ऋग्वेद में अभिलक्षित होता है।[5] तथापि लिंगोपासना संसार में अधिक व्यापक और प्राचीन होने के कारण आर्य उसका सर्वथा दमन करने में असमर्थ रहे। इतना ही नहीं आर्य-देवमाला में स्वयं रुद्र भी उर्वरता के ही देवता थे तथा उनके कर्मकाण्ड में उर्वरता-सम्बन्धी अपनी विधियाँ थीं। अतः लिंगोपासना का विरोध करते हुए भी आर्य उससे अछूते न रह सके तथा किंचित् परिवर्तित रूप में ही क्यों न हो, उन्हें उसे स्वीकार करना पड़ा। यह स्वीकृति सर्वप्रथम वैदिक 'रुद्र' और प्राचीन 'शिव' के एकीकरण में दृष्टिगोचर होती है। वैदिक देवता रुद्र वस्तुतः झंझावात के प्रतीक थे। मैकडोनल ने रुद्र को झंझावात के विनाशकारी विद्युत् के विध्वंसक स्वरूप का प्रतीक माना है।[6] भाण्डारकर भी रुद्र को प्रकृति की विध्वंसक शक्ति का ही प्रतीक मानते हैं[7] और यही मत कीथ का भी रहा है।[8] इस प्रकार रुद्र अन्य आर्य-देवताओं की भाँति एक प्राकृतिक तत्त्व के प्रतीक होने के कारण पूर्ण रूप से आर्य-देवता माने गए हैं तथा वे प्रकृति की भयावह शक्ति के रूप में ही ऋग्वेद के तीनों पूर्ण सूक्तों में प्रस्तुत किये गए हैं।[9] तथापि रुद्र की कल्पना में प्राचीन शिव की छाप स्पष्ट झलकती है तथा आर्य-देवमाला में रुद्र का समावेश आर्यों के प्राचीन शिव की कल्पना के समानान्तर प्रतीत होती है। यही कारण है कि झंझावात के आर्य-देवता पर्जन्य मृत्यु के देवता यम और वज्रधारी इन्द्र के होते हुए भी आर्यों को रुद्र की कल्पना करनी पड़ी। अतः इस कल्पना में प्राचीन शैव-धर्म का प्रभाव एवं विरोध स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है और यही कारण है कि कालान्तर में रुद्र और शिव का पूर्णरूप से अभेद स्थापित हो गया। ब्राह्मण-युग से आज तक शिव और विष्णु को लेकर मतभेद की परम्परा भी इसी तात्त्विक भेद पर आधारित है। निगूढ़ अतीत में प्रचलित इस भेद के कारण ही उसका निराकरण भारतीय साहित्य में एक क्रम से अभिलक्षित होता है। इस निराकरण की पराकाष्ठा पौराणिक युग में हुई है तथापि शैव मत में आर्येतर उपासना

१ रिलीजन्स ऑफ इंडिया, डॉ० ए० पी० करमरकर पृ० ९६।
२ वही, पृ० ६६।
३ शैव मत, डॉ० यदुवंशी, पृ० १५।
४ हिन्दुत्व, रामदास गौड़ पृ० ६८८-८९।
५ ऋ० ७ १०४ २४।
६ वैदिक माइथोलोजी मेकडोनल, पृ० ७८।
७ वैष्णविज्म शैविज्म भांडारकर, पृ० १०२।
८ रिलिजन एण्ड माइथोलोजी ऑफ ऋग्वेद कीथ, पृ० १४७।
९ ऋग्वेद, १,११४। २ ३३। ७,४६।

पद्धति की परम्परा प्रमाणित करती है कि शैव धर्म में कुछ ऐसे तत्त्व थे जो इस प्रयत्न के समक्ष भी निजी अस्तित्व बनाए रहे तथा आर्य उन्हें स्वीकार नहीं कर सके। वैष्णव और शैवों के पारस्परिक विरोध का यही रहस्य है। पुराणों में शैव-मत का व्यापक रूप में वर्णन है पर सम्प्रदाय के रूप में उसका वर्णन नहीं मिलता। 'शिव-पुराण' और 'स्कंद-पुराण' में भी शैव-सम्प्रदायों का कहीं उल्लेख नहीं है। यही बात 'लिंग-पुराण' में भी अभिलक्षित होती है। उसमें लिंग धारण और पूजा की महत्ता होते हुए भी सम्प्रदायों का वर्णन नहीं है। अनुमानतः पुराणों के रचना-काल तक शैव-सम्प्रदायों की स्थापना नहीं हो पाई थी तथा शिवोपासक केवल लिंग ही धारण किया करते थे।[1] महाभारत में माहेश्वरों के चार मत बतलाये गए हैं—शैव, पाशुपत, कालदमन और कापालिक। इनमें से कुछ वैदिक हैं और कुछ अवैदिक। इनमें से कालदमन और कापालिक वाममार्गी हैं तथा उनकी साधना में कई बीभत्स तत्त्व समाविष्ट हैं। पांचरात्र का विकास हो जाने के पश्चात् तथा शंकराचार्य के अद्वैतवाद से प्रभावित होकर नवीं शताब्दी में कश्मीर शैव मत का आविर्भाव हुआ तथा शिव रूप को प्रधानता मिलकर 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का सामंजस्य स्थापित हुआ। कश्मीर शैव मत अद्वैतवाद ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि अद्वैतवाद के ब्रह्म में कर्तृत्व का सर्वथा अभाव है पर कश्मीर शैव मत के परमेश्वर में कर्तृत्व माना गया है। इसी प्रकार अद्वैतवाद कोरा ज्ञान मार्ग है जबकि कश्मीर शैव मत में ज्ञान और भक्ति का समन्वय है। कश्मीर शैव मत विवर्तवाद और परिणामवाद को नहीं मानता अपितु स्वातन्त्र्यवाद या आभासवाद को मानता है।[2] अतः काश्मीर शैव मत पाशुपत शैव-सिद्धान्त और वीर-शैव-मत की अपेक्षा वैष्णव धर्म के अधिक निकट है तथा शिव और विष्णु के एकीकरण की एक निश्चित अवस्था को प्रमाणित करता है।

अतः हम देखते हैं कि प्राचीन अनार्य शिव और वैदिक-विष्णु का समन्वय क्रमशः तीन अवस्थाओं में सम्पन्न हुआ है—आर्यों की रुद्र-विषयक कल्पना तथा उसमें लिंगोपासना का समावेश, रुद्र और शिव का एकीकरण तथा शिव में कल्याणकारी गुणों की स्थापना और पौराणिक काल में समान धरातल पर ब्रह्मा, विष्णु और महेश को लेकर त्रिमूर्ति की कल्पना। इस प्रकार अनार्य और आर्यों के देवताओं को लेकर जो विरोध ऋग्वेद से भी पहले से चल रहा था, पौराणिक काल में आकर एक सौम्य रूप धारण कर लेता है तथा यही सौम्यता सहिष्णु रूप धारण करके हरिहर की कल्पना में प्रतिष्ठित होती है।

हरिहर मूर्ति

हरिहर मूर्ति विष्णु और शिव के एकत्व का प्रतीक है। इस कल्पना का आविर्भाव भी पौराणिक-युग में हुआ। ब्राह्मण-ग्रन्थों अथवा वेदों में 'हरिहर' का कहीं भी उल्लेख नहीं है तथापि उसका आभास महाभारत और पुराणों में होता है जहाँ ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य आदि आर्य-देवताओं के नामों का प्रयोग शिव के लिए हुआ है,[3] तथा शिव को विष्णु रूप माना गया है।[4] पुराणों

१ त्रिशूल, रामदास गौड़, पृ० ११ ।
२ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ८८२ ।
३ रिलीजन्स ऑफ इंडिया डॉ० भण्डारकर, पृ० ८७ ।
४ महाभारत, शान्ति पर्व, अ० ३२ ।

में वर्णित हरिहर-विषयक सभी कथाएँ विष्णु और शिव के एकीकरण की द्योतक हैं तथा इस कल्पना का मुख्य स्रोत हैं।

हरिहर का सर्वप्रथम उल्लेख 'हरिवंश' में मिलता है।[1] 'स्कन्द-पुराण' में कहा गया है कि रुद्र और गौरी का विवाह होते ही हरि और हर में युद्ध छिड़ जाता है। ब्रह्मा बीच-बचाव करते हैं तथा दोनों को एकरूप होकर 'हरिहर' के रूप में विख्यात होने के लिए कहते हैं। इसीलिए रैवतक पर्वत पर दोनों की स्थापना हुई है।[2] 'लिंग-पुराण' के विष्णु के स्त्री रूप धारण करके एकरूप हो जाने की कथा है।[3] 'नारदीय-पुराण' में विष्णु के स्थान पर कृष्ण और शिव 'हरिहर' का रूप धारण करते हैं। यहीं शिव के पाँच और कृष्ण के केवल चार मुख बताए गए हैं।[4] आगे चलकर कहा गया है कि 'हरिहर पुत्र' नामक पुत्र की उत्पत्ति शिव और विष्णु से हुई है। तमिल के अयनार या अय्यप्पन देवता की उत्पत्ति भी इसी प्रकार शिव और विष्णु से मानी जाती है।[5] कथा है कि अमृतमंथन के समय विष्णु के मोहिनी रूप धारण करते ही शिव कामासक्त होकर उनके पीछे भागने लगे तथा मोहिनी और शिव से जो पुत्र हुआ वही अयनार या अय्यप्पन कहलाया। इसी कथा से शिवजी के ज्योतिर्लिंग का भी उद्भव माना गया है। कहा जाता है कि विष्णु के मोहिनी रूप को देखकर जब शिव उस पर आसक्त हुए, तब मोहिनी दूर-दूर भागने लगी और कामासक्त होकर उसका पीछा करने वाले शिव का रेत जहाँ-जहाँ स्खलित हुआ वहीं ज्योतिर्लिंग का निर्माण हुआ।[6] अवश्य ही यह कथा विष्णु से समन्वय हो जाने के बाद शिवोपासना के व्यापक प्रचार की ओर इंगित करती है।

पहले कहा गया है कि शिव और विष्णु का ऐक्य व्यावहारिक क्षेत्र में पौराणिक काल में सम्पन्न हुआ है तथा यह स्पष्ट रूप से दो संस्कृतियों के दार्शनिक मिलन का प्रतीक है। उपर्युक्त कथाओं में यही ऐतिहासिक सत्य ध्वनित होता है। ध्यान देने की बात यह है कि हरिहर की कल्पना जितनी दक्षिण भारत में प्रचलित हुई उतनी उत्तरी-भारत में नहीं। सत्य तो यह है कि प्रारम्भिक काल में उसका आविर्भाव दक्षिण ही में हुआ। कारण यह है कि विष्णु और शिव के इस ऐक्य के समय दक्षिण भारत में द्रविड़ और आर्य दो विभिन्न सभ्यताएँ विद्यमान थीं तथा उनके निरन्तर सम्पर्क से ही समन्वय के तौर पर हरिहर की कल्पना उद्भूत हुई। हरिहर की उत्पत्ति-विषयक पौराणिक कल्पनाएँ वस्तुतः देवोत्पत्ति की ओर निर्देश करती हैं तथा इस प्रकार क्राइस्ट की उत्पत्ति-विषयक कल्पना के समानान्तर हैं। अवश्य ही वे तत्कालीन आचार-विचारों की विषमताओं में सामंजस्य स्थापित करके एक नवीन विचारधारा को प्रवाहित करती हैं। वस्तुतः 'हरिहर' का प्रादुर्भाव शैव और वैष्णव मत में सामंजस्य से होने के कारण ही पुराणों में मोहिनी और शिव के समागम की कल्पना करके इस सत्य को लौकिक स्थूल रूप का प्रदान कर दिया। वैष्णवों और शैवों की

---

१ हरिवंश-पुराण २ १२६ ।
२ स्कन्द-पुराण, ७-२ १२६ ।
३ लिंग-पुराण पूर्वार्ध, अध्याय ११ ।
४ नारदीय महापुराण अध्याय ८१ ।
५ तमिल [illegible], [illegible], दूसरा खण्ड पृ० १११ ।
६ शिवलिंगोपासना, डॉ० रा० कृ० [illegible], पृ० ६२ ।

धार्मिक कटुता का विरोध मराठी संतों की वाणी में प्रमुखता से दृष्टिगोचर होता है। ज्ञानेश्वर के कृष्ण शंकर की स्तुति को आत्म-स्तुति कहते हैं।[1] एकनाथ ने भी शिव को राम का परम भक्त दिखाया है[2] तथा इसी भावना को आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी पुनीत वाणी में व्यक्त किया है।

त्रिमूर्ति

विष्णु और शिव का यह ऐक्य अथवा हरिहर की पौराणिक कल्पना आगे चलकर त्रिमूर्ति की कल्पना में प्रतिफलित हुई जिससे ई० सन् की चौदहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में 'दत्तात्रेय सम्प्रदाय' का उदय हुआ।

त्रिमूर्ति की कल्पना की पार्श्वभूमि ऋग्वेद में देखी जा सकती है जहाँ अग्नि का आकाश में सूर्य अन्तरिक्ष में विद्युत् तथा पृथ्वी पर अग्नि आदि तीन रूपों में उल्लेख है।[3] 'मैत्रेयणी संहिता' में अग्नि वायु और सूर्य को एक ही प्रजापति के पुत्र कहा गया है। 'मैत्रेयणी उपनिषद्'[4] में ब्रह्मा विष्णु और रुद्र को परमेश्वर का ही अन्य रूप कहा है तथा यहीं उन्हें राजस तामस और सात्विक गुणों का प्रतीक भी माना गया है।[5] ऐसी कई कल्पनाएँ उपनिषदों में उपलब्ध हैं। त्रिमूर्ति की ऐसी ही कल्पना आर्यों से पहले यहाँ की प्राचीन आग्नेय या द्राविड़ जातियों में विद्यमान थी।[6] देवता त्रयी-विवेक अथवा त्रिमूर्ति की कल्पना अत्यन्त प्राचीन होती हुई भी पौराणिक युग में ही वह एक निश्चित स्वरूप धारण करती हुई दिखाई देती है और यह रूप-धारण दत्तात्रेय में ब्रह्मा विष्णु और रुद्र के समन्वय से सम्पन्न होता है। इस समन्वयवादी दृष्टि के कारण ही दत्तात्रेय के तीन मुख और छः हाथ दिखाए जाते हैं, यद्यपि नेपाल आदि देशों में दत्तात्रेय एकमुखी ही है[7] तथा महाराष्ट्र में भी एकमुखी और त्रिमुखी—दोनों प्रकार की मूर्तियों की उपासना का विभिन्न सम्प्रदायों में प्रचलन है। त्रिमुखी दत्तात्रेय की कल्पना मूलतः भविष्य-पुराण में उद्धृत कथा पर आधारित है।[8] तथा इसी की पुष्टि 'गुरु-चरित्र' से भी होती है।[9] पर अन्य पुराणों में यह कथा न होकर ब्रह्मा विष्णु और महेश के अंशों से अत्रि ऋषि के यहाँ ब्रह्म-रूप सोम विष्णु रूप दत्तात्रेय तथा शिवरूप दुर्वासा आदि तीन बालकों की उत्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[10]

शांडिल्योपनिषद् में 'दत्तात्रेय' शब्द की सुन्दर व्याख्या हुई है।[11] 'विष्णु-पुराण' दत्तात्रेय को विष्णु का अवतार मानता है[12] और 'वायु-पुराण' सोम तथा दुर्वासा को दत्तात्रेय के

---

१ ज्ञानेश्वरी ११ म २१६ १।
२ एकनाथ गाथा भागवत, १ २२ १७।
३ ई० भार० ई० १२वां खंड, पृ ४६७।
४ मैत्रेयणी संहिता ४।१२।१२।
५ मैत्रेयणी उपनिषद् ४।५,६।
६ रिलिजन्स ऑफ इंडिया, डॉ० भरस्कर, पृ० ६२।
७ हिन्दू विश्वकोश, प्रसाद प्रकाशन, तीसरा भाग, पृ० ११६४।
८ भविष्य-पुराण प्र प० खण्ड ४ अ १७।
९ गुरु चरित्र ४।१७।
१० प्राचीन चरित्र कोश पृ २६१।
११ शांडिल्योपनिषद्, अध्याय ३।
१२ विष्णु-पुराण ४।११।१२।

अंश ।[1] 'भागवत-पुराण' में उन्हें विष्णु का एकमुखी अंश माना गया है ।[2] महाभारत में दत्तात्रेय की जन्म-कथा का सर्वथा अभाव है । अतः हम देखते हैं कि दत्तात्रेय के त्रिमूर्ति-रूप के विषय में पुराण सहमत नहीं हैं । पर उनके गुणों के बारे में सभी एकमत हैं । लगभग सभी पुराणों में उन्हें क्षमाशील तथा ब्रह्मज्ञानी कहा गया है तथा अपने शिष्यों को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हुए दिखाया गया है ।[3] इसी प्रकार उन्हें संन्यास-मार्ग का प्रचारक माना गया है ।[4] 'मार्कण्डेय-पुराण' में दत्तात्रेय द्वारा मांस भक्षण, मदिरा-पान तथा स्त्रियों के साथ विलास आदि का भी उल्लेख है जो निश्चित रूप से वैष्णव-धर्म की कल्पनाओं का अविरोधी नहीं है ।[5] पुराणकर्ताओं के इस मत-मतान्तर से स्पष्ट विदित होता है कि दत्तात्रेय में विष्णु का आरोपण तथा त्रिदेवों का समन्वय काफ़ी परवर्ती कल्पना है । ब्रह्मा विष्णु और शिव को लेकर बढ़ते हुए वैषम्य को निःशेष करके हिन्दू धर्म को व्यापक स्वरूप प्रदान करने के लिए ही त्रिमूर्ति की कल्पना की गई ।

त्रिमूर्ति अथवा दत्तात्रेय में ब्रह्मा विष्णु और महेश के समन्वय से ई० सन् की चौदहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में दत्तात्रेय-सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ, जिसके मुख्य प्रवर्तक नृसिंह सरस्वती थे, जो दत्तात्रेय का अवतार भी माने जाते हैं ।[6] इस सम्प्रदाय का पूज्य ग्रन्थ 'गुरु-चरित्र' है जिसमें आचार-धर्म-विषयक उपदेश के साथ-साथ स्वाध्याय महिमा भस्म, रुद्राक्ष तथा काशी की महत्ता का भी विशद वर्णन है । दत्त-सम्प्रदाय की विशेषता है शिव और विष्णु की उपासना की एकरूपता ।[7] इसी प्रकार इस सम्प्रदाय में जगदम्बा, गणेश आदि का समावेश करके उन्हें भी परमेश्वर का रूप माना गया है तथा उसका अरब धर्म से भी कहीं विरोध नहीं है ।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि शैव और वैष्णव मतों के पारस्परिक विरोध के निराकरण के हेतु तथा इन दोनों का समन्वय करके हिन्दू धर्म को व्यापक रूप प्रदान करने के लिए ही दत्त-सम्प्रदाय का उदय हुआ । इस समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण दत्तात्रेय-सम्प्रदाय का प्रचार जितना महाराष्ट्र में हुआ है, उतना न तो उत्तर भारत में और न दक्षिण भारत में । कारण यह है कि महाराष्ट्र दो विभिन्न सभ्यताओं की सीमा पर होने के कारण उनके आचार-विचारों एवं धार्मिक मान्यताओं से बराबर प्रभावित होता रहा तथा दत्तात्रेय सम्प्रदाय के रूप में ये दो विरोधी धर्म धाराएँ एकप्राण होकर वैदिक धर्म को व्यापक और सहिष्णु रूप प्रदान करने में सफल हुईं ।

भक्ति की उत्पत्ति भज् धातु से हुई है, जिसका अर्थ है भजना। और भाग है दो तत्वों

---

१ वायु-पुराण ९।११७-७७ ।

२ भागवत, ४।१।१४ ।

३ मराठी चरित्र कोश पृ० ११२ ।

४ हिन्दू विश्व कोश, प्रसाद प्रकाशन दसवाँ भाग पृ० ११४४ ।

५ वही ।

६ मराठी वाङ्मयाचा इतिहास, पांगारकर, दूसरा खंड, पृ० ११३ ।

७ मानसपूजा करोनी, श्री गुरु स्मरण करोनी ।
मग ध्याना मूर्ति तीन्ही, ब्रह्मा विष्णु महेश्वर ॥११२—'गुरुचरित्र'
अर्थात्, ब्राह्म मुहूर्त में उठ कर गुरु का स्मरण करके ब्रह्मा विष्णु और महेश का ध्यान करना चाहिए ।'

का तादात्म्य अथवा जीव और ब्रह्म की सामयिक तद्रूपता। अतः भक्तियोग का अर्थ है जीव की परमेश्वर के साथ एकता की वह मानसिक अवस्था जो निरन्तर भजन से प्राप्त होती है। शांडिल्य-सूत्र में 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' को भक्ति का लक्षण माना गया है।[1] पर रक्ति या प्रेम अनु' अथवा आराध्य के रूप-गुणों के ज्ञान के बाद का मनोभाव है।[2] अत भक्ति-साधना में परमेश्वर के रूप की कल्पना तथा उससे निष्काम प्रेम का समावेश अनिवार्य है। भावना की दृष्टि से

सगुण भक्ति-योग

भक्ति की मीमांसा नारद सूत्र में हुई है। यहाँ परमेश्वर के विषय में परम प्रेम को ही भक्ति कहा गया है[3] तथा भक्ति को कर्म और ज्ञान से श्रेष्ठ बताया है।[4] कहा गया है कि भक्ति के क्षेत्र में जाति विद्या क्रिया इत्यादि द्वारा निर्मित भेद लोप हो जाते हैं।[5] शांडिल्य ने भक्ति को ही सर्वस्व माना है। उनका सिद्धान्त है कि जीवों को भासमान होने वाला प्रपंच अविद्याजन्य है तथा वह अभक्तिमूलक है। अनन्य भक्ति से ही जीव-ब्रह्मैक्य की अनुभूति होती है। भक्ति के क्षेत्र में ऊँच-नीच छोटे-बड़े सबको समान अधिकार है।[6] भागवत ने भी भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ धर्म माना है।[7] अतः वैष्णव सम्प्रदायों ने साधना पक्ष में इसी उपासना मार्ग को प्रश्रय दिया।

कुछ विद्वानों का कहना है कि वैष्णव धर्म में भक्ति का समावेश ईसाई धर्म के कारण हुआ[8] पर यह मत नितांत भ्रामक है। सूत्र-साहित्य में वर्णित 'अनुराग' में भक्ति का ही पूर्ण रूप दृष्टिगोचर होता है।[9] इसके भी पहले ऋग्वेद के वरुण सूक्त तथा उसकी अन्य ऋचाओं में भक्ति का पूर्वाभास स्पष्ट रूप से विद्यमान है। यद्यपि ऋग्वेद में भक्ति शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है तथापि उसमें गीता में उल्लिखित चतुर्विध[10] भक्तों के लक्षण मिलते हैं।[11] इतना ही नहीं, वरुण की प्रार्थना में दास्य-भाव प्रेम तथा दया की याचना का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया है।[12] भक्ति-भाव से गद्गद वसिष्ठ कहते हैं मैं स्वयं ही बोल रहा हूँ। वरुण के अन्तरतम में (हृदय में) कब प्रविष्ट हूँगा? मेरा हवन क्या वह प्रसन्नचित्त से ग्रहण करेगा? क्या वह उसे रुचिकर होगा? कब मुझ पर उसकी कृपा होगी?[13] ब्राह्मण काल में कर्मकाण्ड की प्रबलता के कारण वैदिक भक्ति-मार्ग कुण्ठित-सा हो गया था। उपनिषद् युग में भी निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति के लिए सूर्य आकाश तथा आदि सगुण प्रतीकों की

१ शांडिल्य सूत्र, १ २।
२ हि० भार० इ० दूसरा खंड पृ० २११।
३ नारद भक्ति सूत्र १, २ ३।
४ नारद भक्ति सूत्र, २५।
५ शांडिल्य सूत्र ३ २-८, ३-२-४ २-२-१।
६ वही।
७ भागवत १ २-६, ६ ३-२२।
८ हि० भार० इ०, दूसरा खंड, पृ० २११।
९ भक्ति सूत्र ३।१।४।१६, ३।४।२८।
१० गीता : ७:१६।
११ नवनीत : नवम्बर १९५४ में डॉ० वि० म० भांडे का ऋग्वेदातील भक्तितत्त्व नामक लेख।
१२ ऋग्वेद ७।८६।२, ७।८६।३, ७।८६।६।
१३ ऋग्वेद, ७।८६।४।

उपासना की गई, पर यह उपासना ज्ञानपरक होती हुई भी भक्ति के रूप में ही विकसित हुई थी।[1] महाभारत की भक्ति प्रवृत्तिमयी भक्ति थी।[2] वैदिक साहित्य की ही भाँति प्राचीन तामिल-धर्म में भी शिवोपासना के रूप में भक्ति का अस्तित्व था।

भक्ति-योग का सर्वप्रथम उल्लेख गीता में हुआ है[3] तथा उपासना-पद्धति के रूप में उसका प्रचलन वासुदेव सम्प्रदाय में विद्यमान था। अतः भक्ति-मार्ग में वासुदेव भक्ति का प्रथम स्थान सिद्ध होता है। इस प्रकार भक्ति किसी पाश्चात्य धर्म का प्रभाव न होकर यह भारत की प्राचीन परम्परा है। इतना अवश्य है कि ऋग्वेद में उसका बाद-जैसा निरूपण नहीं मिलता। कारण यह है कि ऋग्वेद में प्रसंगानुसार विभिन्न देवताओं की स्तुति हुई है। उस काल की धार्मिक व्यवस्था में सम्प्रदाय की कल्पना दृष्टिगोचर नहीं होती और भक्ति की कल्पना एवं उसके विशद निरूपण के लिए सम्प्रदाय तथा उसके एकमात्र देवता की स्थापना अनिवार्य है। यही कारण है कि बुद्धोत्तर-काल में सम्प्रदाय के रूप में भिन्न-भिन्न देवताओं और विभूतियों की उपासना प्रारम्भ हो जाने के कारण भक्ति का स्वरूप विस्तृत होने लगा।[4] भक्ति अनिर्वाचित नामरूपात्मक उपासना-पद्धति होने के कारण ही विभिन्न देवताओं में सगुण ब्रह्म की कल्पना का विकास हुआ। भागवत-धर्म में इन दोनों तत्त्वों का संयुक्त विकास परिलक्षित होता है।

भगवान् के सगुण रूप की कल्पना करते ही उस सगुण आराध्य के विषय में उपासक के हृदय में परम प्रेम के उद्रेक एवं स्थिति के लिए आवश्यक है कि आराधक अथवा जीव परमेश्वर के सम्मुख सम्पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण कर दे। मन की इसी अवस्था को शास्त्रकारों ने प्रपत्ति कहा है। प्रपत्ति का अर्थ है भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण। आत्म-समर्पण प्रेम का अनिवार्य अंग है। भगवान् के प्रति भक्त की पूज्य भावना में श्रद्धा, प्रेम, प्रीति इत्यादि चित्त-वृत्तियों का संयोग होता है। पर प्रेम को छोड़कर इन सभी चित्त-वृत्तियों का प्राथमिक स्थान है, क्योंकि प्रेम इन वृत्तियों के परिणाम के रूप में ही उत्पन्न होता है। प्रेम का स्थायी भाव है रति। वैष्णव शास्त्रकारों ने इसके पाँच भेद करके पाँच ही रस माने हैं—शान्ति प्रीति, सख्य वात्सल्य और प्रियता या माधुर्य आदि। पाँच स्थायीभावों से शान्ति प्रीति सख्य वात्सल्य मधुर या उज्ज्वल रस उत्पन्न होते हैं।[5] भगवान् के साथ व्यक्तिगत प्रिय सम्बन्ध स्थापित होते ही वह प्रेम भक्ति कहलाती है। इसीको 'दास्य रस' भी कहते हैं।[6] इसी दास्य भाव की चरम अभिव्यक्ति 'विनयपत्रिका' में हुई है। इसीलिए भगवान् और भक्त के एकनिष्ठ सम्बन्ध के लिए आत्म-समर्पण को शास्त्रकारों ने भक्ति के अन्तर्गत एक अत्यन्त आवश्यक तत्त्व माना है।

वैष्णव साहित्य को प्रपत्ति-सिद्धान्त की देन यथार्थ में दक्षिण के आलवारों की देन है। आलवार साहित्य में निम्नांकित प्रपत्ति के अन्तर्गत छ तत्त्व माने गए हैं—अनुकूल्यस्य

१ इंडियन फिलोसोफी डॉ० राधाकृष्णन्, प्रथम भाग पृ० ११६।
२ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ५४४।
३ गीता १४।२६।
४ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ५११।
५ वही, ० ५९६।
६ भागवत धर्म, हरिभाऊ उपाध्याय, पृ० १६४।

संकल्प, प्रतिकूल्यस्यवर्जनं रक्षिष्यतीति विश्वासः गोप्तृत्ववरणं आत्मनिक्षेप तथा कार्पण्यम्।[1] प्राचीन शास्त्रकारों के मतानुसार जो प्रपत्ति मार्ग का **प्रपत्ति** अनुसरण करता है वह उपर्युक्त तत्त्वों में से किसी भी एक तत्त्व का पालन कर सकता है क्योंकि प्रपत्ति मार्गानुगामी भक्त कामनाविहीन होता है। अर्वाचीन मत आत्म भाव के अस्तित्व की सतत अनुभूति के कारण भक्त की मानसिक स्थिति को सर्वथा निष्काम न मानकर उपर्युक्त छहों तत्त्वों के पालन पर जोर देता है। इसी प्रकार प्राचीन मत मुक्ति का कारण प्रपत्ति को न मानकर केवल ब्रह्म को मानता है, जबकि अर्वाचीन मत प्रपत्ति को मुक्ति का द्वितीय कारण स्वीकार करता है क्योंकि प्रपत्ति के ही कारण भगवान् की कृपा का लाभ होता है। प्राचीन मत में पापशमन के लिए भगवान् की कृपा पर्याप्त है उसके लिए प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं। अर्वाचीन मत भक्त की शारीरिक अवस्थानुसार प्रायश्चित्त को आवश्यक समझता है। प्राचीन मत के अनुसार अष्टविध भक्ति करने वाला भक्त ब्राह्मण से श्रेष्ठ है पर अर्वाचीन मत में वह ब्राह्मण से श्रेष्ठ न होकर केवल आदरणीय है। इसी प्रकार प्राचीन मत आत्मानुभूति को ही कैवल्य मानता है, जबकि अर्वाचीन मत वैकुंठ की प्राप्ति को।[2] प्रपत्ति को लेकर प्राचीन और अर्वाचीन मान्यताओं के कारण ही दक्षिण और उत्तर भारत में भगवान् की कृपा विषयक दो अलग अलग धारणाएँ चल पड़ी जिनका विवेचन आगामी पृष्ठों में किया गया है।

भक्ति और भगवान् के सगुण रूप का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होने के कारण ही सगुणोपासना और भक्ति का सुन्दर समन्वय एवं निरूपण भागवत में हुआ है। वस्तुतः भागवत की यह विशेषता ही वह उद्गम है जिससे भक्ति की मधुर धारा प्रवाहित हुई तथा दक्षिण के आलवारों की कण्ठ-मधुरिमा से मण्डित होकर समस्त भारत में फैल गई।

वैष्णव-धर्म की सगुणोपासना का यह भक्ति-प्रवाह ईस्वी सन् की आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य के अद्वैतवाद के आविर्भाव से सहसा रुक-सा हो गया। शंकराचार्य ने ब्रह्म को एक अखण्ड, अद्वितीय, त्रिविध भेदरहित तथा एकमात्र सत्ता के रूप **अद्वैतवाद** में माना। उनके मतानुसार ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी तत्त्व की सत्ता नहीं है। उनका ब्रह्म निर्गुण शुद्ध चैतन्य है और जगत् मिथ्या एवं मायामय। माया ब्रह्म की ही शक्ति होने के कारण अनिर्वचनीय तुच्छ पदार्थ है। शांकर मत के अनुसार जीव ब्रह्म का आभास या प्रतिबिम्ब मात्र है। ब्रह्म नित्य मुक्त और स्वयं प्रकाश है। बुद्धि रूपी उपाधि के नष्ट होते ही जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है यही मुक्ति है। मुक्ति का साधन है ज्ञान।

शंकराचार्य का अद्वैतवाद सगुणोपासना के लिए वह चुनौती थी जिसका उत्तर देना आवश्यक था। रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत में इसी आवश्यकता की पूर्ति हुई। शांकर-मत के ठीक विपरीत रामानुजाचार्य ने तीन पदार्थ माने—चित्, **विशिष्टाद्वैत** अचित् तथा ईश्वर। परम तत्त्व ईश्वर की ही भाँति चित् और अचित् अथवा जीव और जगत् भी नित्य और स्वतः स्वतन्त्र हैं

---

१ हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, डॉ॰ दासगुप्त तीसरा भाग पृ॰ ९१।
२. हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, डॉ॰ दासगुप्त, तीसरा भाग, पृ॰ [illegible]

तथापि उनके भीतर ईश्वर अन्तर्यामी रूप में विद्यमान रहने के कारण वे ईश्वर के अधीन रहते हैं। उनका ईश्वर सर्वदा निर्गुण ही रहता है। निर्गुण ब्रह्म का अर्थ केवल यही है कि ईश्वर प्राकृत तथा लौकिक गुणों से रहित है। चित् तथा अचित् उसके शरीर हैं पर चित् अचित् बंध से भिन्न है। रामानुजाचार्य की सृष्टि भगवान् की लीला है तथा संहृति विशिष्ट लीला। सृष्टि-निर्माण और उसके संहार में ईश्वर आनन्द का अनुभव करता है पर सृष्टि को नित्य मानने के कारण उन्होंने ईश्वर को दो प्रकार का माना है—(१) कारणावस्थ ब्रह्म तथा (२) कार्यस्थ ब्रह्म। प्रलय-काल में जीव और जगत् के सूक्ष्म रूप में अवस्थित होने के कारण तत्संबद्ध ईश्वर 'कारण ब्रह्म' कहलाता है तथा सृष्टिकाल में स्थूल रूप हो जाने के कारण वही कार्य ब्रह्म कहलाता है। यही जीव जगत् और ईश्वर का अद्वैत है। यही सगुण ईश्वर भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए पर व्यूह विभव अन्तर्यामी तथा अर्चावतार आदि पाँच रूप धारण करता है।[1]

रामानुजाचार्य ने चित् अथवा जीव को देह-इन्द्रिय-मन प्राण-बुद्धि से विलक्षण चेतन आनन्दरूप नित्य अणु, अव्यक्त अचिन्त्य निरवयव निर्विकार तथा ज्ञानाश्रय माना है तथा उसमें शेषत्व या अधीनत्व नामक एक विशेष गुण की मान्यता दी है। इस गुण-विशेष के कारण ही जीव अपने समस्त कार्यकलापों के लिए ईश्वर पर आश्रित रहता है इसीलिए वह शेष है तथा ईश्वर शेषी। जीव को रामानुजाचार्य ने ब्रह्म का ही अंश माना है।

अचित् वस्तु अथवा जगत् के तीन भेद हैं—शुद्ध-तत्त्व मिश्र-तत्त्व और सत्त्व-शून्य। तम तथा रज से मिश्रित मिश्र-तत्त्व प्राकृत सृष्टि का उपादान है जो माया अविद्या अथवा प्रकृति कहलाता है। शुद्ध-सत्त्व अमिश्रित होने के कारण शुद्ध-सत्त्व है अत वह नित्य ज्ञान मय का जनक निरवधिक तथा तेज रूप। इसी शुद्ध-सत्त्व से मुक्त पुरुषों के शरीर तथा स्वर्गादिक स्थानों की रचना होती है। इसी शुद्ध-सत्त्व से परमेश्वर के व्यूहात्मक रूप बनते हैं। रामानुजाचार्य शरीर के अभाव में आत्मा की स्थिति को स्वीकार नहीं करते तथा मुक्त दशा में भी जीवों के शरीर प्राप्त करने की मान्यता देते हैं जो शुद्ध-सत्त्व का बना हुआ अप्राकृत शरीर होता है।

इस प्रकार शांकर-मत में निरूपित कोरे ज्ञान-मार्ग का खण्डन करके रामानुजाचार्य ने ब्रह्म जीव और जगत् का स्वतन्त्र रूप से निरूपण करके सगुणोपासना एवं भक्ति की पुन स्थापना करके परवर्तीकाल में भक्ति-साहित्य की अजस्र धारा को प्रवाहित किया।

पहले कहा गया है कि रामानुजाचार्य ने चित्, अचित् और ईश्वर ये तीन पदार्थ माने हैं तथा जीव और जगत् को भी ईश्वर की भाँति ही नित्य और स्वत स्वतन्त्र बताया है। साथ ही ईश्वर और चिताचित् अथवा जीव-जगत् का सम्बन्ध उन्होंने आत्मा और शरीर का सम्बन्ध माना है। शरीर वह है जिसे आत्मा नियमत धारण करके कार्य-सिद्धि के लिए कार्य में प्रवृत्त करता है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर भी जीव-जगत् को आश्रित करके उनका नियमन करता है तथा धर्म में प्रवृत्त करता है। नियामक होने के नाते ईश्वर प्रधान तथा विशेष्य है और नियम्य तथा अप्रधान होने के कारण जीव-जगत् विशेषण। विशेष्य की पृथक सत्ता है पर विशेषण उसके साथ सम्बद्ध होने के कारण पृथक नहीं है। विशेष्य और

१ भागवत धर्म बलदेव उपाध्याय, पृ० २१०।

विशेषण के इस सम्बन्ध के कारण ही तीन पृथक् तत्त्व मानते हुए भी रामानुजाचार्य का सिद्धान्त अद्वैतवादी है पर तत्त्व-निरूपण की विशिष्टता के कारण वह विशिष्टाद्वैतवाद है।

रामानुजाचार्य का ईश्वर सगुण और सविशेष है। वह चिदचिद्विशेष रूप में जगत् का उपादान है। वह सृष्टिकर्ता कर्म-फलदाता नियन्ता तथा सर्वान्तर्यामी है। उसकी शक्ति माया है। वह शंख चक्र गदा पद्मधारी चतुर्भुज है। श्री भू और लीला-सहित है तथा किरीटादि भूषणों से अलंकृत है। जगत् ब्रह्म का शरीर है। वस्तुतः ब्रह्म ही जगत् रूप में परिणत हुआ है, फिर भी वह निराकार है। जगत् सत्य है मिथ्या नहीं। जीव भी ब्रह्म का शरीर है। जीव और ब्रह्म दोनों चेतन हैं पर ब्रह्म पूर्ण है और जीव अंश। ब्रह्म स्वामी है जीव दास। मुक्तावस्था में भी जीव ईश्वर का दास है। रामानुजाचार्य के मतानुसार भगवान् के दासत्व की प्राप्ति ही मुक्ति है। मुक्ति का श्रेष्ठ साधन है उपासनात्मक भक्ति। भक्ति और ध्यान से प्रसन्न होने पर ही भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं। भक्ति में प्रपत्ति का विशेष स्थान है। प्रपत्ति है भगवान् के चरणों में आत्म-समर्पण जिसका स्वरूप निम्नलिखित श्लोक में अंकित हुआ है—

पितरम् मातरम् दारान् पुत्रान् बन्धून् सखीन् गुरून्।
रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च॥
सर्वधर्मांश्च सन्त्यज्य सर्व कामांश्च साक्षरान्।
लोक विक्रान्तचरणौ शरणम् तेऽव्रजम् विभो॥[1]

रामानुजाचार्य ने विष्णु के दशावतार को मान्यता दी है तथा अवतार का प्रयोजन माना है दुष्कृत्यों का विनाश और साधुओं का परित्राण। उनके मतानुसार ईश्वर जीव के संचित पापों का नाश करता है पर जीव अपने वर्तमान जन्म में सदाचारादि अच्छे कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। इसीलिए प्रपत्ति श्रेय है।[2] इस प्रकार जहाँ एक ओर उन्होंने सम्पूर्ण आत्म समर्पण पर जोर दिया है वहाँ दूसरी ओर मुक्ति के लिए सदाचार और सत्कर्मों की आवश्यकता को भी महत्त्व दिया है। रामानुजाचार्य द्वारा निरूपित कर्म की इस महत्ता तथा आत्म-समर्पण की आवश्यकता के परस्पर भेद के कारण ही विशिष्टाद्वैतवाद के अन्तर्गत दो विभिन्न शाखाओं का आविर्भाव हुआ जो उत्तरी और दक्षिणी शाखाएँ कही जाती हैं।[3] उत्तरी शाखा के अनुसार ईश्वर की कृपा प्रयत्न करने से ही प्राप्त हो सकती है। इस शाखा के अनुसार मुक्तावस्था स्तर-रहित होती है। कर्म-ज्ञान मुक्ति का सीधा साधन न होकर केवल भक्ति का पूरक तत्त्व है। मोक्ष भक्ति से ही प्राप्त होता है। श्री में उनकी आस्था स्वरूप-व्याप्ति के रूप में है तथा वह मोक्ष प्रदान करने में पूर्णरूपेण समर्थ है। उत्तरी शाखा के मतानुसार जीव-विषयक ईश्वर का प्रेम अन्धा होता है वह जीव के दोषों की ओर नहीं देखता। प्रपत्ति का उद्रेक भक्ति की ही भाँति जीव द्वारा प्रयत्न करने पर होता है तथा मोक्ष-प्राप्ति के साधनों में से वह एक साधन है।

उत्तर और दक्षिण का भेद

उत्तरी शाखा के ठीक विपरीत दक्षिणी शाखा ईश्वर की कृपा को अप्रयत्नज मानती

१ हिन्दुत्व में उद्धृत पृ० १२६।
२ हिन्दू कन्सेप्शन ऑफ डीटी, भरतन् कुमारप्पा पृ० ११।
३ ई० आर० ई० भा० १११ पृ० ११ १।

है। उसका विश्वास है कि मुक्तावस्था में स्तर भेद विद्यमान रहते हैं पर ये भेद मुक्त जीव को प्रवत्त विभिन्न कर्तव्यों के ही कारण रहते हैं। वडकिली शाखा के अनुयायी कर्म, ज्ञान और भक्ति में से किसी एक को मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानते हैं क्योंकि इन तीनों का सम्बन्ध मानसिक संकल्प और हृदय की एकाग्रता से है। वे श्री को विभु व्याप्ति के रूप में स्वीकार करते हैं तथा उसे जीव की माता अथवा पुरुष के प्रकृति-तत्त्व के रूप में मानते हैं। उनके मतानुसार मोक्ष प्रदान करने की शक्ति नारायण में ही है। श्री केवल एक सहायक तत्त्व है। जीव-विषयक ईश्वर का प्रेम केवल अन्धा ही नहीं होता वरन् वह इतना प्रबल होता है कि पापी जीव अनायास ही उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। दक्षिणी शाखा प्रपत्ति को ही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन मानती है। जीव और ईश्वर के परस्पर सम्बन्ध तथा ईश्वर की कृपा विषयक मतों में भेद होने के कारण ही ये शाखाएं क्रमशः वडकले तथा तेंकले शाखाएं कहलाईं।[1]

तमिल भाषा में वडकले मर्कट को कहते हैं और तेंकले मार्जार को। शाखाओं का यह नामकरण ईश्वर और जीव के परस्पर सम्बन्ध का प्रतीक है। मर्कट-न्याय के अनुसार ईश्वर-प्राप्ति के लिए जीव को प्रयत्न करना आवश्यक है। जीव का यह प्रेम मर्कट बच्चे के समान है। जिस प्रकार मर्कटी में अपने बच्चे के प्रति वात्सल्य विद्यमान होते हुए भी उसके बच्चे को स्वरक्षा के लिए स्वयं उसका आश्रय लेना पड़ता है अथवा उसके पेट से दृढ़ता से चिपक जाना पड़ता है ठीक उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिए जीव को भी वात्सल्य के असीम आगार ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना आवश्यक है। उत्तर भारत के सन्त कवियों ने इसी न्याय को स्वीकार किया है। कबीर सूर, तुलसी मीरा तथा अष्टछाप के कवियों की वाणी में सर्वत्र इसी भावना का दर्शन होता है।

तेंकले शाखा ने मार्जार न्याय को स्वीकार किया तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिए ईश्वर की असीम कृपा को प्राप्त करने का साधन केवल प्रपत्ति मानकर प्रयत्न का खण्डन किया। इस न्याय के अनुसार जिस प्रकार मार्जारी स्वयं ही अपने बच्चे को उठाकर सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देती है उसी प्रकार ईश्वर जीव के प्रयत्न किए बिना ही अपनी कृपा-शक्ति से उसे मोक्ष प्रदान करता है। दक्षिण के आलवार पूर्णरूपेण मार्जार-न्यायवादी कवि थे तथा इसी न्याय को महाराष्ट्र में भी मान्यता मिली। सन्त तुकाराम कहते हैं—

तुका म्हणे माझी विट्ठल माउली,
आणि कांचे बोली चाड नाहीं।[2]
× × ×
केले माझे हित होईल तो उपाय
करिसील माय आर्मोनियां ॥[3]
× × ×

---

[1] जे॰ आर॰ ए॰ एस॰ १९१ ,२ ११०१।
[2] श्री देवनिधर-कृत तुकाराम महाराज की गाथा, अभंग, १०५७।
[3] वही, अभंग १०६१।

विशेषण के इस सम्बन्ध के कारण ही तीन पृथक तत्त्व मानते हुए भी रामानुजाचार्य का सिद्धान्त अद्वैतवादी है पर तत्त्व-निरूपण की विशिष्टता के कारण वह विशिष्टाद्वैतवाद है।

रामानुजाचार्य का ईश्वर सगुण और सविशेष है। वह चिद्विशेष रूप में जगत् का उपादान है। वह सृष्टिकर्ता कर्म-फलदाता नियन्ता तथा सर्वान्तर्यामी है। उसकी शक्ति माया है। वह शंख चक्र गदा पद्मधारी चतुर्भुज है। श्री भू और लीला-सहित है तथा किरीटादि भूषणों से अलंकृत है। जगत् ब्रह्म का शरीर है। वस्तुत ब्रह्म ही जगत् रूप में परिणत हुआ है फिर भी वह निराकार है। जगत सत्य है मिथ्या नहीं। जीव भी ब्रह्म का शरीर है। जीव और ब्रह्म दोनों चेतन हैं, पर ब्रह्म पूर्ण है और जीव अंश। ब्रह्म स्वामी है, जीव दास। मुक्तावस्था में भी जीव ईश्वर का दास है। रामानुजाचार्य के मतानुसार भगवान् के दासत्व की प्राप्ति ही मुक्ति है। मुक्ति का श्रेष्ठ साधन है उपासनात्मक भक्ति। भक्ति और ध्यान से प्रसन्न होने पर ही भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं। भक्ति में प्रपत्ति का विशेष स्थान है। प्रपत्ति है भगवान् के चरणों में आत्म-समर्पण जिसका स्वरूप निम्नलिखित श्लोक में अंकित हुआ है—

> पितरम् मातरम् दारान् पुत्रान् बन्धून् सखीन् गुरून् ।
> रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च ।।
> सर्वधर्मांश्च सन्त्यज्य सर्व कामांश्च साक्षरान् ।
> लोक विक्रान्तचरणौ शरणम् तेऽव्रजम् विभो ।।[1]

उत्तर और दक्षिण का भेद

रामानुजाचार्य ने विष्णु के दशावतार को मान्यता दी है तथा अवतार का प्रयोजन माना है दुष्कर्मों का विनाश और साधुओं का परित्राण। उनके मतानुसार ईश्वर जीव के संचित पापों का नाश करता है पर जीव अपने वर्तमान जन्म में सदाचारादि अच्छे कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। इसीलिए प्रपत्ति श्रेय है।[2] इस प्रकार जहाँ एक ओर उन्होंने सम्पूर्ण आत्म समर्पण पर जोर दिया है वहाँ दूसरी ओर मुक्ति के लिए सदाचार और सत्कर्मों की आवश्यकता को भी महत्त्व दिया है। रामानुजाचार्य द्वारा निरूपित कर्म की इस महत्ता तथा आत्म-समर्पण की आवश्यकता के परस्पर भेद के कारण ही विशिष्टाद्वैतवाद के अन्तर्गत दो विभिन्न शाखाओं का आविर्भाव हुआ जो उत्तरी और दक्षिणी शाखाएँ कह लाईं।[3] उत्तरी शाखा के अनुसार ईश्वर की कृपा प्रयत्न करने से ही प्राप्त हो सकती है। इस शाखा के अनुसार मुक्तावस्था स्तर रहित होती है। कर्म ज्ञान मुक्ति का सीधा साधन न होकर केवल भक्ति का पूरक तत्त्व है। मोक्ष भक्ति से ही प्राप्त होता है। श्री में उनकी आस्था स्वरूप-प्राप्ति के रूप में है तथा वह मोक्ष प्रदान करने में पूर्णरूपेण समर्थ है। उत्तरी शाखा के मतानुसार जीव-विषयक ईश्वर का प्रेम अन्धा होता है, वह जीव के दोषों की ओर नहीं देखता। प्रपत्ति का उद्रेक भक्ति की ही भाँति जीव द्वारा प्रयत्न करने पर होता है तथा मोक्ष प्राप्ति के साधनों में से वह एक साधन है।

उत्तरी शाखा के ठीक विपरीत दक्षिणी शाखा ईश्वर की कृपा को अप्रयत्नज मानती

१ हिन्दुत्व से उद्धृत पृ० ११६।
२ हिन्दू कन्सेप्शन ऑफ डीटी, भरतन् कुमारप्पा पृ० ३१।
३ ई० आर० ई० खंड १२१, पृ० ११०२।

है। उनका विश्वास है कि मुक्तावस्था में स्तर भेद विद्यमान रहते हैं, पर ये भेद मुक्त जीव को प्राप्त विभिन्न कर्तव्यों के ही कारण रहते हैं। दक्षिणी शाखा के अनुयायी कर्म, ज्ञान और भक्ति में से किसी एक को मोक्ष प्राप्ति का साधन मानते हैं क्योंकि इन तीनों का सम्बन्ध मानसिक संकल्प और हृदय की एकाग्रता से है। वे श्री को विभु व्याप्ति के रूप में स्वीकार करते हैं तथा उसे जीव की माता अथवा पुरुष के प्रकृति-तत्त्व के रूप में मानते हैं। उनके मतानुसार मोक्ष प्रदान करने की शक्ति नारायण में ही है। श्री केवल एक सहायक तत्त्व है। जीव-विषयक ईश्वर का प्रेम केवल अन्धा ही नहीं होता, वरन् वह इतना प्रबल होता है कि पापी जीव अनायास ही उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। दक्षिणी शाखा प्रपत्ति को ही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन मानती है। जीव और ईश्वर के परस्पर सम्बन्ध तथा ईश्वर की कृपा विषयक मतों में भेद होने के कारण ही ये शाखाएं क्रमशः वडकले तथा तेंकले शाखाएं कहलाईं।[1]

तमिल भाषा में वडकले मर्कट को कहते हैं और तेंकले मार्जार को। शाखाओं का यह नामकरण ईश्वर और जीव के परस्पर सम्बन्ध का प्रतीक है। मर्कट-न्याय के अनुसार ईश्वर प्राप्ति के लिए जीव को प्रयत्न करना आवश्यक है। जीव का यह प्रेम मर्कट बच्चे के समान है। जिस प्रकार मर्कटी में अपने बच्चे के प्रति वात्सल्य विद्यमान होते हुए भी उसके बच्चे को स्वरक्षा के लिए स्वयं उसका आश्रय लेना पड़ता है अथवा उसके पेट से दृढ़ता से चिपक जाना पड़ता है ठीक उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिए जीव को भी वात्सल्य के असीम आधार ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना आवश्यक है। उत्तर भारत के सन्त कवियों ने इसी न्याय को स्वीकार किया है। कबीर सूर, तुलसी मीरा तथा अष्टछाप के कवियों की वाणी में सर्वत्र इसी भावना का दर्शन होता है।

तेंकले शाखा ने 'मार्जार न्याय' को स्वीकार किया तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिए ईश्वर की असीम कृपा को प्राप्त करने का साधन केवल प्रपत्ति मानकर प्रयत्न का खण्डन किया। इस न्याय के अनुसार जिस प्रकार मार्जारी स्वयं ही अपने बच्चे को उठाकर सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देती है उसी प्रकार ईश्वर जीव के प्रयत्न किए बिना ही अपनी कृपा-शक्ति से उसे मोक्ष प्रदान करता है। दक्षिण के आलवार पूर्णरूपेण मार्जार-न्यायवादी थे। तुका, इसी न्याय को महाराष्ट्र में भी मान्यता मिली। सन्त तुकाराम कहते हैं—

तुका म्हणे माझी विठ्ठल माउली
आणि काही दोन्ही चाड नाहीं।[2]
× × ×
जैसे माझे हित होईल तो उपाय,
करिशील माय जाणोनियां ॥[3]
× × ×

---

१ के० भारत० ए० एस १११, पृ० ११०३।
२. श्री देहूसंस्थान-कृत तुकाराम महाराज की गाथा, अभंग १०२०।
३ वही, अभंग १०११।

व्यापिले हे शरीर कोणाचिये सत्ते,
कोण बोलविते हरीविण ।[1]
हरिविण असता नाही जग जिता
दुजा निवारिता नारायण ॥[2]

पौराणिक-काल में वैष्णव-दर्शन के अन्तर्गत वायु को विशिष्ट महत्त्व मिला है। प्राचीन वैदिक-दर्शन में, सृष्टि रचना में आकाश अथवा शब्द-तत्त्व से स्पर्श अथवा वायु-तत्त्व की उत्पत्ति मानी गई है।[3] वस्तुतः वायु व्यापकत्व का प्रतीक है और वायु विष्णु का प्रतिनिधि विष्णु की व्युत्पत्ति भी विष् धातु से होने के कारण स्वयं विष्णु का गुण धर्म भी सक्रिय होना अथवा व्यापक होना है। गुण-धर्म की इस प्राचीन समानता के कारण ही पौराणिक-काल में वायु को विशेष महत्त्व मिला तथा वायु-पुराण की रचना हुई जो अठारह महापुराणों में से एक माना जाता है।[4] विष्णु-पुराण में अंकित पुराणों की सूची में वायु-पुराण के स्थान पर शिव-पुराण का उल्लेख[5] इस बात की ओर संकेत करता है कि वायु विष्णु का ही प्रतिनिधि होने के कारण पुराणों की सूची से वायु-पुराण को हटाकर शिव-पुराण को स्थान देकर एक अन्य प्रचलित संप्रदाय को स्थान दिया गया।

दक्षिण में वैष्णव भक्ति के द्वितीय उत्थान-काल में वायु की विष्णु के प्रतिनिधि रूप में कल्पना एवं महत्ता में कई विद्वान् पाश्चात्य प्रभाव देखते हैं।[6] उनका अनुमान है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भारत में ईसाई धर्म के आगमन के कारण ईसाइयों का होली घोस्ट ईसाई धर्म-शास्त्र में 'होली घोस्ट' की कल्पना का प्रभाव वैष्णव दर्शन पर पड़ा। वस्तुत 'होली घोस्ट-विषयक' ईसाई धर्म-शास्त्र तथा वैष्णव-दर्शन के अन्तर्गत वायु के व्यापकत्व आदि के आकस्मिक साम्य के कारण ही विद्वानों ने ऐसा अनुमान लगाया है। ईसाई धर्म-शास्त्र में 'होली घोस्ट' अथवा 'होली स्पिरिट' का स्थान देवतात्रयी में माना जाता है[7] तथा मनुष्यों में उसका अस्तित्व जीवन्त सक्रिय शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।[8] वस्तुत 'स्पिरिट' शब्द, जो 'रूह' का पर्याय है हिब्रू धातु 'रुह' से बना है तथा उसका अर्थ है 'सांस लेना' अथवा 'बहना'।[9] शब्दार्थ के इसी आधार पर प्राचीन काल में वायु को ईश्वर का श्वास कहा गया है।[10] वायु-रूप रूह अथवा 'स्पिरिट' की यही कल्पना कालान्तर में विकसित होकर पवित्रात्मा का रूप धारण करती है तथा उसी से समस्त संसार व्याप्त माना गया है। यही 'रूह' मनुष्य को पवित्र कर्मों

१ श्री देहूकर प्रत तुकाराम महाराज की गाथा अभंग १०६६।
२ वही, अभंग १०५८।
३ हिस्टरी ऑफ इंडियन फिलोसोफी, दासगुप्त, खण्ड १ पृ० ५१०।
४ हिन्दुत्व, रामदास गौड़, पृ० २५७।
५ हिस्ट्री ऑफ धर्म-शास्त्र, वॉल्यूम ५, पी० वी० काणे, पृ० ८२४ ८२५।
६ दि हेरिटेज ऑफ इंडिया, हुमायूँ कबीर, पृ ८६-८८।
७. ई० आर ई, वॉल्यूम ५ पृ० ८०४।
८. वही, पृ ८०८।
९ वही।
१० वही पृ० ८०६।

की ओर अग्रसर करती है तथा सृष्टि रचना के समय परमेश्वर ने अपने इसी अंश को मनुष्य को प्रदान किया था।[1]

ईसाई धर्म-शास्त्र में निरूपित 'होली घोस्ट' की कल्पना से एक स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है और वह है ईश्वर और जीव के बीच 'होली घोस्ट' रूपी तत्त्व जो ईश्वर रूप भी है और मनुष्य में विद्यमान भी। इस प्रकार ईश्वर और जीव में द्वैताद्वैत होते हुए भी अद्वैत का आभास सरलता से देखा जा सकता है तथा आभास के कारण कुछ विद्वान् वैष्णव-दर्शन में ईसाई धर्म का प्रभाव देखते हैं तथा अपने मत की पुष्टि के लिए दक्षिण में वैष्णव-धर्म के विशिष्टाद्वैत के समन्वयवादी दृष्टिकोण पर जोर देते हैं। पर वस्तुतः यह धारणा अत्यन्त भ्रांत है। विष्णु के प्रतिनिधि के रूप में वायु की कल्पना ईसाई धर्म का प्रभाव न होकर पूर्ण रूप से भारतीय है तथा उसके कई उल्लेख वैदिक साहित्य से लेकर पौराणिक साहित्य तक यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। रामायण में राम के सेवक पवन-सुत हनुमान की कल्पना वायु की महत्ता-विषयक प्राचीन मान्यता को सिद्ध करती है। महाभारत के वन-पर्व में प्राचीन पुराण की अभिव्यक्ति वायु से ही मानी गई।[2] बाणभट्ट के 'हर्षचरित' में वायु-पुराण के पठन का उल्लेख मिलता है।[3] कुमारिल भट्ट के 'तंत्रवार्तिक' में पुराणों के विषयन्यास की चर्चा में भी वायु-पुराण का उल्लेख हुआ है।[4] अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ईसा की छठी शताब्दी से बहुत पहले वायु-पुराण अस्तित्व में था तथा वायु-विषयक दार्शनिक कल्पनाएं तब तक पूर्ण रूप से निश्चित हो चुकी थीं।

यही बात वैष्णव-धर्म के अन्तर्गत मोक्ष के निरूपण पर भी लागू होती है। शांकर-मत के अनुसार बुद्धि-रूपी उपाधि नष्ट होते ही जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है क्योंकि वह अपने मूल रूप में ब्रह्म का ही अंश है अज्ञान के कारण ही वह उससे पृथक भासमान होता है। सांसारिक दशा में जीव उपाधि से अविच्छिन्न रहता है और मुक्तावस्था में वह ब्रह्म में लीन हो जाता है। पर रामानुजाचार्य को शंकराचार्य का यह मत मान्य नहीं है। उनके मतानुसार जीव अणु और अल्पज्ञ होने के कारण ब्रह्म के साथ उसका एकीकरण सम्भव नहीं है तथा जिस प्रकार वह सांसारिक दशा में ब्रह्म से पृथक रहता है, उसी प्रकार मुक्त दशा में भी। इतना अवश्य है कि मुक्त दशा में वह निरन्तर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता रहता है। यही मुक्ति का वैशिष्ट्य है। शंकराचार्य की भाँति रामानुजाचार्य माया और अविद्या को अभिन्न नहीं मानते तथा माया का आश्रय भगवद्-शक्ति और ब्रह्म में मानते हैं। ज्ञान की अनुपस्थिति में जीव अज्ञान से परिपूर्ण रहता है तथा इसी अज्ञान के कारण वह संसार से बद्ध है। यह अज्ञान भक्ति-जन्य भगवद् प्रसाद से अपने-आप तिरोहित हो जाता है। भगवद् प्रसाद से अज्ञान का तिरोहित हो जाना ही मुक्ति है।[5] पर मुक्ति पाने के लिए भगवद् प्रसाद अत्यन्त आवश्यक है। भगवान् की कृपा से ही जीव समस्त पापों से मुक्त हो सकता है।

मोक्ष पाप से मुक्ति

१ ई० आर० ई० खण्ड-२, पृ ७८८।
२ हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खण्ड ५, पृ ८१८-१९।
३ वही।
४ जे० बी० आर० ए० एस०, १९२५, पृ० १०२।
५ भागवत सम्प्रदाय, डॉ० बलदेव उपाध्याय, पृ० २१४-१५।

पापों से मुक्त होने के लिए शरणागति आवश्यक है।[1]

ईसाइयों का डाक्टरिन ऑफ़ इटर्नल डैमनेशन तथा ईश्वर और आत्मा में भेद

ईसाइयों के डाक्टरिन ऑफ़ इटर्नल डैमनेशन के अनुसार भी स्वर्ग प्राप्ति के लिए पापों का नाश आवश्यक है। पापों का नाश सदाचार से ही सम्भव है। सदाचार-विहीन पापी जीव अनादि काल तक नरक भोगता रहता है। ईसाई धर्म में जीव की सत्ता ईश्वर से पृथक मानी गई है। यद्यपि जीव सम्पूर्ण रूप से ईश्वर की ही कृति है। तथापि उसमें कर्म की स्वतन्त्रता होने के कारण वह अपने कर्मों द्वारा ही स्वर्ग या नरक का अधिकारी है। जीव कर्म करने के लिए स्वतन्त्र होते भी कृपालु ईश्वर उसे निरन्तर सत्कर्मों की ओर प्रेरित करता रहता है। मुक्तावस्था में भी जीव ईश्वर के साथ एकाकार नहीं होता अपितु अपने पवित्र आचरण से उसके निकट स्थान पाता है। इस दृष्टि से वैष्णव-दर्शन और ईसाई-दर्शन में पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है यद्यपि यह साम्य केवल ऊपरी और आकस्मिक है।[1] उलटे देखा जाए तो ईसाइयों का भक्तिवाद ही महायानियों के सम्पर्क का परिणाम हो सकता है, क्योंकि अब यह निश्चित रूप से सिद्ध हो चुका है कि ईसा के जन्म से पूर्व पश्चिमी एशिया में बौद्धों का अस्तित्व था।[2] वस्तुतः शंकराचार्य के पीछे वैष्णव-धर्म के चारों प्रधान सम्प्रदाय श्रुति और दर्शन-वेदान्त पर ही आधारित हैं। इतना अवश्य है कि व्याख्या और बाह्याचार में परस्पर अन्तर होने के कारण सम्प्रदाय-भेद अवश्य उत्पन्न हो गया है[3] पर इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि वैष्णव दर्शन पर ईसाई धर्म का प्रभाव पड़ा है।

(च) स्मार्त तथा वैष्णव

स्मार्त

स्मार्त वैदिक धर्म की ही एक प्राचीन शाखा है। 'स्मार्त' का अर्थ है स्मृतिकारों द्वारा प्रतिपादित मार्ग। यह मार्ग वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित है तथा इस मार्ग की प्राचीन कल्पना में वैदिक प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग—दोनों का समन्वय सम्पन्न हुआ है।[4] इस प्रकार स्मार्त धर्म अपने पूर्व रूप में समन्वयवादी सिद्ध होता है। इस समन्वयवादी रूप के कारण ही इस मार्ग में किसी एक देवता-विशेष की उपासना के स्थान पर सभी देवताओं की समान रूप से उपासना स्वीकार की गई है। विद्वानों का कथन है कि स्मार्त-धर्म का प्रचलन शंकराचार्य की पंचायतन-उपासना पर आधारित है।[5] शिव सूर्य शक्ति विष्णु और गणेश—इन पाँच

---

१ "अन्येषामपि पापानामन्यत्र प्रायश्चित्त मानव्
एवम् मामनन्यभावेन सर्वपापेभ्यो मां विमुक्तये—
धरत्यात्मानं इत्थं निश्चयात् मदीयमात्मानं समर्पयेत् करोमि : धमरत।'—हिन्दुत्व, पृ० ६६६
"त्वत्पादपद्मयोरपि प्रपत्ति रता यदि कामरत्न शरणं"—हिन्दुत्व, पृ ६६६।

२ सूर साहित्य डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ ५६–६०।

३ दर्शन-काव्य की वैदिकासिक पृष्ठभूमि प्रो० आनन्द नारायण शर्मा, सतीश सक्सेना जबलपुर, १९५८।

३ हिन्दुत्व, रामदास गौड़, पृ० ६४०।

४ गीता रहस्य, लो बाल गंगाधर तिलक, पृ ११७।

५ वही, पृ ६४०।

देवताओं की प्रतिमाओं का समुदाय 'पंचायतन' कहलाता है।[1] पर वस्तुतः यह मत ठीक नहीं है क्योंकि महाभारत के अध्ययन से विदित होता है कि महाभारत के रचना-काल में भी किसी-न-किसी रूप में विष्णु, शिव दत्तात्रेय दुर्गा और स्कन्द आदि देवताओं की उपासना प्रचलित थी। इन देवताओं की उपासना के साथ-साथ उस समय भी आह्निक-सन्ध्या होम तप-उपवास, जप, अहिंसा-व्रत, आतिथ्य-पूजन शौचाचार, प्रायश्चित्त और श्राद्ध-बलिदान आदि वैदिक कर्मों का प्रचलन था।[2]

अतः शंकराचार्य से बहुत पहले स्मार्त-धर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। इतना अवश्य है कि बौद्ध और जैन जैसे निरीश्वरवादी धर्मों के प्रचलन से यह धर्म कुण्ठित-सा होने लगा था। शंकराचार्य ने काल की आवश्यकता को समझकर इसकी पुनः स्थापना की तथा विष्णु, शिव, सूर्य गणेश और शक्ति को परमात्मा के ही पाँच रूप स्वीकार कर के इनमें से किसी एक रूप को प्रधान मानकर तथा अन्य रूपों को उसीका अंग मानकर उपासना की प्रथा चलाई। शंकरदेव की यही उपासना स्मार्त-धर्म या स्मार्त-मत कहलाई।[3]

पहले कहा गया है कि अपने मूल रूप में स्मार्त और भागवत अथवा वैष्णव-धर्म भिन्न-भिन्न नहीं थे अपितु वे वैदिक धर्म की ही दो शाखाएँ थीं—एक की आस्था निवृत्ति मार्ग में थी, दूसरी की प्रवृत्ति-मार्ग में। परवर्ती-काल में जब शिव

भागवत सर्व-देववादी

और विष्णु को लेकर धार्मिक ववण्डर उठ खड़ा हुआ, तब स्मार्त और भागवत 'शैव' और 'वैष्णव' के पर्याय बन गए[4] तथा उनमें वेदान्त की ही भाँति ज्योतिष यानी एकादशी व्रत मनाने की पद्धति आदि भिन्न हो गई।[5] उपास्य देव-विषयक इस भेद का निराकरण इस बात से भी होता है कि शांकर-भाष्य में जहाँ कहीं भी प्रतिमा-पूजन का उल्लेख हुआ है, वहाँ शिव-लिंग का निर्देश न होकर शालग्राम यानी विष्णु-प्रतिमा का ही उल्लेख किया गया है।[6] स्मार्त और वैष्णव-धर्म में सैद्धान्तिक दृष्टि से भेद न होने के कारण ही दक्षिण में इन दोनों मतों की उपासना पद्धति में एक-दूसरे के आराध्य देवों को प्रश्रय मिला।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दक्षिण में स्मार्त-धर्म के पुनरुत्थान में एक प्रकार से भागवत धर्म की ही पुनः स्थापना हुई। इतना अवश्य है कि इस स्थापना में सभी देवताओं को समान स्थान मिला तथा एक प्रकार से धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार हुआ। महाराष्ट्र में स्मार्त और वैष्णव इन दोनों का प्रचार है। स्मार्तों की एक उपशाखा भागवत कहलाती है तथा वह सभी देवताओं को समान मानती है। स्मार्त शिव विष्णु, देवी गणेश सूर्य इत्यादि देवताओं को पंचायतन की पूजा करते हैं। स्मार्त-मत मुख्यतः महाराष्ट्र और मध्य-प्रदेश में प्रचलित है तथा उसके अनुयायी रुद्राक्ष और भस्म धारण करते हैं और पहली

---

१ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ८२७।
२ हिन्दुत्व पृ० ३०६।
३ हिन्दुत्व, रामदास गौड़, पृ० ६६०।
४ गीता-रहस्य, लो० बा० गं० तिलक, पृ० ६६६।
५ वही।
६ वे० सू० शां० भा० १ २ ७ | १ ३ १४ | ४ १ ३ | छां० शां० भा० ८ १ १।

एकादशी व्रत करते हैं।[1] स्मार्तों के ठीक विपरीत वैष्णव केवल विष्णु को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। वे विष्णु के सभी अवतारों और अवतार-रूप देवों तथा भक्तों की उपासना करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग भवानी, खण्डोबा काली, मस्हारी आदि कुछ देवताओं को भी पूजते हैं। कर्नाटक-निवासी वैष्णव इसी प्रकार के वैष्णव हैं तथा उनके मुख्य चिह्न गोपी चन्दन और कमलाक्ष-माला हैं। वे दूसरी एकादशी का व्रत पालन करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईसा की आठवीं शताब्दी के लगभग दक्षिण में भक्ति के पुनरुत्थान के समय महाराष्ट्र में वैष्णव धर्म विभिन्न संप्रदायों एवं दार्शनिक विचारधाराओं को आत्मसात करके व्यापक रूप धारण कर चुका था। स्मार्त धर्म के रूप में जहाँ उसमें एक ओर सर्वदेववाद को मान्यता मिली वहाँ दूसरी ओर विष्णु के दशावतारों की शक्तियों के रूप में शक्ति तत्त्व की उपासना को भी प्रश्रय मिला। फिर भी आचार के क्षेत्र में निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग के समन्वय का ही अनुशीलन होता रहा तथा वर्णाश्रम धर्म की महत्ता अक्षुण्ण रूप से बनी रही। धर्म की व्याख्या विद्वानों द्वारा शास्त्रीय ढंग से होने के कारण इस व्यापक स्वरूप के बावजूद भी धर्म पूर्ण रूप से विद्वानों की सम्पत्ति थी तथा छीआछूत, जाति भेद और अस्पृश्यता के कारण यह जनसाधारण से दूर रही। यह स्थिति न्यूनाधिक रूप में लगभग चौदहवीं शताब्दी तक बनी रही। इस सामाजिक एवं धार्मिक विषमता का निराकरण सर्व प्रथम महानुभाव एवं तत्पश्चात् वारकरी पंथ ने किया तथा धर्म को समाज के श्रेष्ठ वर्ग की कारा से छुड़ाकर जनसाधारण की वस्तु बनाया।

महाराष्ट्र में वारकरी पंथ की स्थापना अत्यन्त प्राचीन मानी जाती है यद्यपि उसका विकास चौदहवीं शताब्दी में ही दृष्टिगोचर होता है। वारकरी का अर्थ है यात्रा करने वाला। धार्मिक दृष्टि से जो पंढरपुर में स्थित विट्ठल अथवा विठोबा का उपासक है और आषाढ़ तथा कार्तिक शुक्ल एकादशी को नियमित रूप से पंढरपुर की यात्रा करता है वही वारकरी कहलाता है। यात्रा के दिन पांडुरंग को तुलसी की माला पहनाने के कारण यह 'मालकरी' पंथ भी कहलाता है।[3] वारकरी पंथ पूर्ण रूप से वैदिक धर्मान्तर्गत है तथा कृष्ण-भक्ति-प्रधान होने के कारण उसे भागवत संप्रदाय भी कहते हैं।[4]

महाराष्ट्र में वारकरी पंथ के संस्थापक पुण्डरीक मुनि माने जाते हैं। उन्हींकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् पंढरपुर में प्रकट हुए थे।[5] पंढरी के विठोबा बाल-रूप हैं। महाराष्ट्र की प्रसिद्ध सन्त बहिणाबाई ने ज्ञानेश्वर को इस पंथ का संस्थापक माना है[6] पर ज्ञानेश्वर के समकालीन नामदेव के 'पुंडरीक अनन्त काळे' पद से बहिणाबाई की धारणा निराधार एवं भावना-मात्र सिद्ध होती है। वारकरी कीर्तन के आरम्भ में 'पुण्डलीक वरदे हरि विट्ठल' की जाति-घोषणा की प्राचीन परम्परा भी पुण्डरीक पंथ का संस्थापक होना सिद्ध करती है। विट्ठल मन्दिर के एक शिलालेख से भी इसका समर्थन होता है जिसमें 'पुण्डलीक मुनि का

१ महाराष्ट्र परिचय पृ० ३७४।
२ महाराष्ट्र परिचय, पृ० ३७४।
३ हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, आचार्य विनय मोहन शर्मा, पृ० ६८।
४ महाराष्ट्र परिचय, पृ० ३७८।
५ धर्मसदर पृ० १३४।
६ मराठी साहित्य का इतिहास ना० मा० गोडबोले पृ० ९०।

शिलालेख है।[1] यह शिलालेख १२२० ई० का माना जाता है।[2]

वारकरी पंथ के उपास्य देव विट्ठल माने जाते हैं। विट्ठल को बालकृष्ण माना जाता है। भक्त पुण्डरीक को वर देने के लिए ही बाल-कृष्ण पंढरपुर आये थे तथा भक्त के संकेत करने पर ईंट पर खड़े हो गए और अब तक खड़े हैं—

"पाऊलें विटेवरी समदीप, पुरातन पुरुष व्यापक।
भक्ताचिया काजा, उभा पंढरीचा राजा।"[3]

(पुरातन पुरुष विट्ठल भक्त के लिए ईंट पर खड़े हो गए।)

विट्ठल की कल्पना के बारे में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कई स्थलों पर विट्ठल-मूर्ति को कन्नड़ देश से आई हुई कहा गया है।[4] कई विद्वान् विट्ठल की उत्पत्ति विट्टि से मानते हैं। विट्टि विष्णु का कन्नड़ रूप है।[5] राजवाड़े के मतानुसार विट्ठल शब्द 'विष्ठल' से बना है जिसका अर्थ है दूर अर्थात् जो दूर रहता है, वह विट्ठल है।[6] नामदेव ने भी पंढरी के विट्ठल को कानडा कहा है—

"कानडा विठ्ठल पंढरीसि।"

अर्थात्

पंढरी का विट्ठल कानडी है।

एकनाथ कहते हैं —

"कानडा विठ्ठल, कानडा विठ्ठल,
कानडा विठ्ठल विटेवरी॥
कानडा विठ्ठल, कानडा बोले,
कानड्या विठ्ठले मन वेधियले।

(ईंट पर खड़ा विट्ठल कानडी है और कन्नड़ ही बोलता है। इस कानडी विट्ठल ने मेरे मन को वेध दिया है।)

उपर्युक्त आधारों पर कहा जा सकता है कि विट्ठल पंढरपुर में कहीं दूर से आये थे। विट्ठल मूर्ति का गोप वेष—

रुक्मिणी रुसली ती दिंडिरवना गेली॥
मागें गोपाळांचा मेळा, गोपाळपुरी सोडिला॥
धाकुटें गोपवेषधारी। एकाजनार्दनी श्रीहरी।[7]

(रुक्मिणी रूठकर दिंडिरवन में आ गई और हरि ने गौओं-गोपालों को वृन्दावन में ही छोड़कर गोप वेष धारण कर लिया है।)

विट्ठल की प्राचीनता का सूचक है क्योंकि श्रीकृष्ण का पुण्डरीक के लिए पंढरी में बाल-रूप

---

१ श्री विट्ठल आणि पंढरपुर, पृ० ६०।
२ हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ० ७१।
३ पंचामृत, पृ० १५२।
४ हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ० ७०।
५ वही।
६ वही।
७ पंचामृत, पृ० ३३१।

में आना इस बात को प्रमाणित करता है कि पुण्डरीक के उपास्य देव महाभारत के कृष्ण न होकर गोप-वेषधारी बाल-कृष्ण थे। पहले कहा गया है कि गोपाल-कृष्ण की कल्पना डा० भांडारकर के मतानुसार ई० स० की पहली शताब्दी की न होकर निश्चित रूप से उससे बहुत प्राचीन है। विट्ठल मूर्ति के मस्तक पर शिवलिंग—[1]

"समचरणी मस्तकी हर" विष्णु और शिव के ऐक्य का प्रतीक है। इस दृष्टि से भी विट्ठल की कल्पना नामकालीन न होकर अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होती है तथा पूर्ण रूप से वैदिक धर्मान्तर्गत सिद्ध होती है क्योंकि वारकरी पंथ की आस्था विशेष रूप से भागवत गीता तथा ज्ञानेश्वरी में है। दक्षिण में प्राचीन विट्ठल भक्ति का स्वरूप कैसा रहा होगा यह नहीं कहा जा सकता पर महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर द्वारा वारकरी पंथ के पुनरुद्धार के समय तथा उसके अनन्तर यह पंथ अत्यन्त उदार-मतवादी रहा है। इसकी आस्था न तो जाति भेद में है, और न वर्ण-भेद में। वारकरी सम्प्रदाय सभी ईश्वर भक्तों को स्वीकार करता है तथा "विष्णुमय जग वैष्णवांचा धर्म" की भावना से ही अन्य धर्मावलम्बियों की ओर देखता है। इसी कारण कुछ मुसलमान भी इस पंथ में शामिल हो सके। पंढरी में सभी को समान अधिकार है और संत किसी भी जाति का क्यों न हो पूज्य एवं वन्दनीय समझा जाता है।[2] वारकरी पंथ के इस समतावादी दृष्टिकोण तथा ऐक्य भावना ने महाराष्ट्र में वैष्णव धर्म को अत्यन्त व्यापक और समन्वयवादी बनाकर धर्म को पंडितों एवं विद्वानों के चंगुल से छुड़ाकर जनसाधारण के लिए सुलभ बना दिया।

वारकरी विट्ठल के उपासक हैं तथा गले में तुलसी की माला पहनते हैं क्योंकि तुलसी विष्णु को प्रिय है और कृष्ण उनकी दृष्टि में विष्णु के ही अवतार हैं। इस प्रकार वे कृष्णोपासक हैं यद्यपि वे राम के भी उतने ही एकनिष्ठ उपासक हैं। इस पंथ में हरि और हर दोनों को एक माना जाता है। यह ऐक्य स्वयं विट्ठल की मूर्ति से निर्देशित होता है जिसके मस्तक पर शिवलिंग विराजमान है।[3] इसीलिए एकादशी के साथ सोमवार, शिवरात्रि और राम नवमी व्रत मान्य हैं। इसके आचार धर्म में वैष्णव मुद्रा-धारण-भजन संकीर्तन, विट्ठल का नाम-स्मरण तथा पंढरी की यात्रा का विशेष महत्व है। वारकरी लोग आषाढ़ी-कार्तिकी एकादशी रामनवमी तथा गोकुलाष्टमी को व्रत रखते हैं तथा संसार-त्याग का उपदेश न देकर विरक्त भाव से गृहस्थाश्रम में ही परमार्थ लाभ करने में विश्वास रखते हैं। तुकाराम कहते हैं—

पंधरा दिवसां एक एकादशी
कां रे न करिसी व्रतवार।
काय तुझा जीव जातो एकादिसें।[4]

(पन्द्रह दिन के बाद आकर वही एकादशी आती है। क्यों तू उस दिन व्रत नहीं

---

१ भांडारकर पृ० ३४१।
२. तुकाराम, गा० क० दर्शे पृ ११८।
३ सम चरणं वोळखूं सुन्दर साजरं गोल्तेचु ॥
महिमा वर्णितां मोनु, देखें मस्तकी शिवलिंगा ॥ —श्री ज्ञानेश्वर
४ देखिए … तुकारामाची गाथा पृ १९४ अभंग १०६।

रखता ? एक दिन व्रत रखने से क्या तेरी जान जाती है ?)

× × ×

"नाम संकीर्तन साधन पैं सोपें जळतील पापें जन्मांतरिचीं ।
न लागती सायास जावें वनांतरा, सुखे येतो घरा नारायणा ।
ठायींच बैसोनी करा एकचित्त, आवडी अनंत आळवावा ।
'रामकृष्ण हरी विठ्ठल केसवा, मंत्र हा सोपा जपा सर्वकाळ ॥'[1]

(नाम और संकीर्तन, ये साधन अत्यन्त सरल हैं तथा इनसे जन्म-जन्मान्तर के पाप जल जाते हैं । न वन जाना पड़ता है और न प्रयत्न करना पड़ता है, नारायण स्वयं ही घर आ जाता है । अपने घर बैठे-बैठे एकचित्त होकर अनन्त का ध्यान कीजिए और सर्वदा 'राम कृष्ण-हरि' इस सरल मंत्र का जप करते रहिए ।)

हरी हरांभेद, नाहीं करूं नये वाद ।
एक एकाचे हृदयी, गोडी साखरेच्या ठायीं ।
भेदकासी नाड, एक वेलांटीच आड ।
उजवे वाम भाग तुका म्हणे एकचि अंग ॥[2]

(हरि और हर में भेद मानकर विवाद नहीं करना चाहिए । वे दोनों एक-दूसरे के हृदय में ठीक उसी प्रकार निवास करते हैं जिस प्रकार चीनी में मिठास । भेद के नाम केवल एकमात्र की बात है, परन्तु उससे क्या होता है । बायाँ और दाहिना दोनों शरीर के ही अंग होते हैं ।)

× × ×

तुका म्हणे भक्ति साठी हरिहर ।
हरिहरा भेद नाहीं, नका करूं वाद ।

—तुकाराम

(तुकाराम कहते हैं कि भक्ति करने के लिए ही हरिहर हैं । उनमें परस्पर कुछ भी भेद नहीं है व्यर्थ ही विवाद में न पड़ो ।)

१ देहूमिरज प्रत तुकारामाची गाथा पृ० २७५ अभंग ०११६ ।
२ वही, पृ० १६, अभंग ९९ ।

अध्याय—२

मराठी कृष्ण-काव्य की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

किसी भी युग का साहित्य तत्कालीन सामाजिक धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों से बनता है तथा उन्हींको प्रतिबिम्बित करता है। साहित्य-सर्जना-विषयक यह सत्य प्राचीन मराठी काव्य के विकास में उसी प्रकार अभिलक्षित होता है जिस प्रकार अन्य भाषाओं के विकास में। अन्य भाषाओं की भाँति मराठी का प्रारम्भिक साहित्य भी काव्यमय था। वस्तुतः मराठी भाषा वर्तमान महाराष्ट्र की ही भाषा न होकर प्राचीन काल में दक्षिण भारत के अन्य भागों में भी बोली जाने वाली भाषा थी। 'महाराष्ट्री' नाम से विदित होता है कि इस भाषा का नामकरण किसी विशेष भौगोलिक प्रदेश के कारण न होकर अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक विस्तृत प्रदेश में बोली जाने के कारण ही हुआ होगा।[1] ऐसी दशा में वर्तमान महाराष्ट्रेतर प्रदेशों के आचार-विचारों तथा धार्मिक विचार धाराओं का प्रभाव मराठी भाषा पर पड़ना स्वाभाविक ही है। यद्यपि मराठी भाषा की परम्परा प्राचीन है, तथापि हालसातवाहन की सप्तशती में मराठी भाषा प्राकृत या अपभ्रंश का मूल मानी जाती है।[2]

मराठी के उत्पत्ति-काल के विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं। इतिहासाचार्य राजवाड़े मंगळवेढे के ताम्रपट के आधार पर मराठी भाषा की उत्पत्ति ईसा की पाँचवीं शताब्दी के लगभग मानते हैं।[3] साहित्याचार्य चिं० वि० वैद्य उसकी उत्पत्ति सातवीं शताब्दी में मानते हैं।[4] पर सत्य यह है कि प्राचीन ताम्रपटों में यत्र-तत्र मराठी स्वरूप के प्रयोग उपलब्ध होने पर भी उनमें मराठी वाक्यों का प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता। मराठी का प्रथम वाक्य-रूप आविष्कार 'श्री चावुण्डराये करवियले' मैसूर राज्य में श्रवणबेळ-गोळा के शिलालेख से हुआ है। इस शिलालेख का समय सर्वसम्मति से सन् १०१२ के आसपास माना जाता है।[5] इस प्रकार मराठी भाषा का महाराष्ट्र में दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग रूढ़ होना माना जा सकता है। यादव वंश-पूर्व चालुक्य राजवंश के शिलालेखों में संस्कृत के

---

१ हिन्दी साहित्य कोश पृ० २७० ।
२ वही, पृ० २७१ ।
३ राजवाड़े द्वारा सम्पादित ज्ञानेश्वरी की प्रस्तावना, पृ० १८ ।
४ मराठी भाषेचा कालनिर्णय चिं० वि० वैद्य विविध ज्ञान विस्तार, १९२२ ।
५ महाराष्ट्र सारस्वत, पृ० ७०२ ।

साथ-साथ देशी भाषा के रूप में कन्नड़ का प्रयोग इसी सत्य की ओर निर्देश करता है।[1] बारहवीं शताब्दी में लिखित मराठी के निश्चित प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इस काल में मराठी काव्य पूर्ण रूप से धार्मिक है अतः प्रश्न उठता है कि बारहवीं शताब्दी में इस आकस्मिक धार्मिक काव्य की सर्जना के पूर्व महाराष्ट्र में धार्मिक आचार-विचारों का स्वरूप कैसा रहा होगा। इसका संक्षिप्त विवेचन करना आवश्यक है।

इतिहासाचार्य राजवाड़े के मतानुसार ईसा-पूर्व एक हजार वर्ष के लगभग उत्तर की नाग जातियाँ दक्षिण की ओर बढ़ने लगी थीं।[2] इस समय दक्षिण की प्रमुख जातियाँ द्राविड़-भाषी थीं। राजवाड़े ने इन्हीं नाग लोगों के साहचर्य से महाराष्ट्री का अपभ्रंश में रूपान्तर माना है[3] पर यह मत साधार नहीं प्रतीत होता। अवश्य ही इस काल तक महाराष्ट्र में शिव नागादि भारत की आदिवासियों के उपास्य देवों की उपासना की प्रथा प्रचलित रही होगी। पाणिनीय सूत्रों में दक्षिणापथ के उल्लेख के अभाव से यह सिद्ध होता है कि पाणिनि काल तक आर्य दक्षिण में नहीं पहुँचे थे। कात्यायन की वार्तिकाओं में अवश्य ऐसे उल्लेख मिलते हैं, पर वे पाणिनीय सूत्रों के पूरक के रूप में ही हुए हैं।[4]

इन उल्लेखों से इतना अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि कात्यायन के पूर्व आर्य लोग दक्षिण में जाकर बसने लगे थे। यह काल बौद्ध-युग का आरम्भ-काल था तथा इस काल में बौद्धधर्म की स्थापना के रूप में घटित धार्मिक क्रान्ति के कारण ही सम्भवतः आर्य लोग चारों ओर फैल गए थे।[5] महाराष्ट्र सारस्वतकार के मतानुसार इस विभाजन के कारण ही दक्षिण में आर्यों का कोई एक राज्य न होकर गोपराष्ट्र, मल्लराष्ट्र, पांडुराष्ट्र, अपरान्त, विदर्भ, अश्मक आदि छः राष्ट्रों की स्थापना हुई थी जो आगे चलकर महाराष्ट्र कहलाए।[6] कुछ भी हो इतना तो मानना ही पड़ेगा कि प्राचीन काल में महाराष्ट्र की धार्मिक विचार धारा द्राविड़ तथा आर्य संस्कृति से पूर्ण रूप से प्रभावित रही होगी तथा उसकी उपासना पद्धति में इन दोनों संस्कृतियों की देवमालाओं का समावेश हुआ होगा। इसके पश्चात् जब उत्तर-भारत में अहिंसा के समर्थक, पर निरीश्वरवादी, बौद्ध तथा जैन धर्मों का आविर्भाव हुआ तब उनका प्रचार भी महाराष्ट्र में हुआ होगा। ऐतिहासिक प्रमाणों को देखते हुए कहा जा सकता है कि ईसा से पूर्व ही सातवाहन सम्राटों के शासन-काल में महाराष्ट्र में बौद्ध धर्म की महायान शाखा का प्रचार होने लगा था।[7] महायान शाखा में अवतारवाद की कल्पना, पौराणिक देवताओं का समावेश, ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का महत्त्व आदि तत्त्वों के कारण महाराष्ट्र में जैन धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म का ही अधिक प्रचार हो सका। इस धर्म-प्रचार के लिए अवश्य ही प्रचारकों को अपभ्रंश भाषा का प्रयोग करना पड़ा होगा जो तत्कालीन लोक-भाषा थी। लिखित मराठी को अवश्य ही पूर्वकालीन अपभ्रंश भाषा का मार्ग

---

१ महाराष्ट्र परिचय, पृ० ११०।
२ महाराष्ट्राचा वसाहतकाल (ऐतिहासिक विविध विषय खण्ड १)।
३ राधामाधव विलास चम्पू, प्रस्तावना, भाग १।
४ महाराष्ट्र सारस्वत, पृ० ८२१।
५ वही।
६ महाराष्ट्र सारस्वत, पृ० ८१२।
७ हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ० ११।

दर्शन एवं सहयोग मिला होगा।[1] तेरहवीं शताब्दी की ग्रन्थ रचना में ओवी-अभंग-आरती आदि अपभ्रंश के मात्रावृत्तानुरूप[2] छन्दों का प्रमुखता से प्रयोग अपभ्रंश भाषा में इन छन्दों की लोकप्रियता को सूचित करता है।

मराठी आदि-काव्य के आध्यात्मिक रूप के परीक्षण से प्रतीत होता है कि ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व महाराष्ट्र में विभिन्न धार्मिक विचारधाराओं का प्रचार, चातुर्वर्ण्य तन्त्र ग्रामदेवताओं की उपासना आदि के सम्मिलन से लोक में धार्मिक विषमताएँ तथा पाखंड प्रबल हो उठे थे तथा आचार-विचारों के अवडंबर में जनता सच्चे धर्म से विमुख होने लगी थी। दक्षिण में वैष्णव और शैवों का परस्पर विरोध नाथों के गोरख-धन्धे महानुभाव-सम्प्रदाय की मठ-व्यवस्था ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड शाक्तों का बलिविधान, शैवों का तन्त्र, हठयोग आदि व्यवस्थाएँ जनसाधारण को गलत मार्ग की ओर अग्रसर कर रही थीं। इसीकी प्रतिक्रियास्वरूप जनसाधारण की धर्म-भावना को उच्च स्तर पर उठाने के लिए मराठी के आदि काव्य का प्रादुर्भाव हुआ और वह नाथ महानुभाव वारकरी दत्त समर्थ आदि धर्म-पन्थों के आश्रय में अंकुरित एवं पल्लवित हुआ। वस्तुतः महाराष्ट्र के महानुभाव तथा वारकरी दोनों पन्थों का प्रादुर्भाव जनसाधारण के उत्थान के लिए ही हुआ था। इन दोनों पन्थों ने मोक्ष-मार्ग का ही प्रचार किया यद्यपि वारकरी पन्थ का झुकाव प्रवृत्तिपरक भक्ति की ही ओर अधिक रहा। प्राथमिक आवश्यकता की दृष्टि से इन दोनों पंथों के निवृत्ति-मार्ग की ओर झुकाव का कारण तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति ही थी। यह काल धर्म-ग्लानि का काल था। विदेशी आक्रमण तथा विविध उपासना-पद्धतियों के कारण वैदिक परम्परा विभ्रम-सी हो गई थी तथा परिवर्तनशील परिस्थिति में समाज को नई प्रेरणा देने की सामर्थ्य इस धर्म संस्था में नहीं रही थी। धर्म केवल यज्ञयाग व्रत-वैकल्य जप-जाप तक ही सीमित हो गया था। उच्च वर्ग में भोग-विलास का बोलबाला था। ब्राह्मण और क्षत्रिय कर्तव्यच्युत हो गए थे। जैन और लिंगायत पन्थ शूद्रों को धर्मदान देने का प्रयत्न कर रहे थे इसका स्पष्ट चित्र रामदेव राव द्वारा पंढरपुर के मन्दिर के जीर्णोद्धार तथा हेमाद्रि जैसे पंडितों द्वारा स्मृति-ग्रन्थों पर रचित टीकाओं में देखा जा सकता है। निश्चय ही ये प्रयत्न वैदिक धर्म के पुनरुज्जीवन की दिशा में हुए थे। तुकाराम के वचन— धर्मे लोपली पुराणें 'नाश केला शब्द ज्ञानें' विषय लोभी मनें 'साधनें बुडविली'[3] कुछ शताब्दियों बाद ही क्यों न हो ऐसी ही परिस्थिति के अस्तित्व को व्यक्त करते हैं। इस धार्मिक पुनरुज्जीवन का मुख्य उद्देश्य जन साधारण का उत्थान होने के कारण ही महानुभाव पन्थ के आचार्यों ने ग्रन्थ-रचना संस्कृत में न कर के लोक-भाषा मराठी में करने पर जोर दिया—'न को पा केवल दया येथे मातीया महाराष्ट्रीया नामवतिक' यही दृष्टि ज्ञानेश्वर की भी थी।[4]

तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार महानुभाव तथा वारकरी

१ महाराष्ट्र परिचय पृ० ३३० ।

२. अपभ्रंश आणि मराठी छंद, प्रो० वेलणकर-तुळपुळे, कमल १९४० ।

३ तुकाराम गाथा, पृ० ५२० ।
पुराणों के धर्म का लोप हो गया। शब्दज्ञान ने तर्कना कर डाला विषयों ने मन को भ्रमा दिया और इस प्रकार सारे साधन डूब गए।

४ मराठी साहित्य का इतिहास भा० पा० बोकीलो पृ०१ ।

पन्थों का झुकाव निवृत्ति-मार्ग की ओर होने के कारण ही भगवद्गीता को प्रमाण मानकर महाराष्ट्र में कृष्ण भक्ति का विकास हुआ। परिस्थितियों की इस पार्श्वभूमि को समझने के लिए मराठी कृष्ण-काव्य के उत्थान तथा क्रमिक विकास पर विहंगम दृष्टि डाल लेना उपयोगी होगा।

मराठी के आद्य कवि मुकुन्दराज माने जाते हैं। इनके निश्चित काल के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। इनकी भाषा-शैली भी इतनी प्राचीन नहीं जान पड़ती जितनी ज्ञानेश्वर की है, तथापि ये ज्ञानेश्वर से लगभग एक शताब्दी पूर्व के कवि माने जाते हैं। मुकुन्दराज नाथ-सम्प्रदाय के कवि थे और उन्होंने 'ओवी' नामक मराठी अक्षर-छन्द में 'विवेक-सिन्धु' और 'परमामृत' नामक दो ग्रन्थों की अद्वैत वेदान्त पर रचना की है। इस समय महाराष्ट्र में ही नहीं अपितु समस्त भारत में वेदान्त का प्रचार था। वेदान्त चातुर्वर्ण्य पर आधारित होने के कारण समाज के दैनिक व्यवहार में भी जाति भेद की विषमता फैली हुई थी। समस्त मराठी समाज चार वर्णों में विभक्त हो गया था तथा ब्राह्मण और क्षत्रिय निम्न वर्णों को हीनता की दृष्टि से देखते थे। इतना ही नहीं उन्हें वैदिक मार्ग से वंचित भी रखा जाता था। वैदिक धर्म के अन्तर्गत अनेक देवताओं की उपासना की प्रथा थी। शंकराचार्य के 'केवलाद्वैत सिद्धान्त' तथा 'पंचायतन' की स्थापना से सभी देवताओं की उपासना का प्रचलन महाराष्ट्र में रूढ़ हो गया था। हेमाद्रि पंडित के 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' में भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना करने के लिए वर्ष में लगभग दो हजार व्रतों का आयोजन किया गया था। इस वर्ण-विभाग के कारण समाज का निम्न वर्ग बुरी तरह से पिस रहा था। चातुर्वर्ण्य की इस विषमता से बचने के लिए गौतम बुद्ध ने वेदों की प्रामाणिकता पर आक्रमण करके चातुर्वर्ण्य मिटा डालने का प्रयत्न किया था पर वे इस प्रयत्न में सफल नहीं हो सके। ठीक ऐसा ही प्रयत्न महावीर ने भी किया था, पर वे भी इस प्रयत्न में असफल रहे। चातुर्वर्ण्य से टक्कर लेने के कारण बौद्ध धर्म की जड़ें हिल गईं और जैन धर्म को तो अन्त में वर्ण-व्यवस्था का ही आश्रय लेना पड़ा। महाराष्ट्र के दक्षिण में कन्नड़ प्रदेशवासी बसव ने लिंगायत सम्प्रदाय की स्थापना करके वैदिक धर्म को ललकारा था। इस सम्प्रदाय ने बाल-विवाह की प्रथा की उपेक्षा करके प्रौढ़-विवाह तथा विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा चलाई थी। लगभग इसी काल में महानुभाव पंथ धर्म-जागृति का कार्य कर रहा था। महानुभाव पंथ के प्रवर्तक स्वामी चक्रधर ने तत्कालीन महाराष्ट्र की इन विषम परिस्थितियों को समझा था। इसीलिए बहुदेववाद और कर्मकाण्ड की उपेक्षा करके उन्होंने एकेश्वरवाद और निवृत्ति-मार्ग को महत्त्व दिया। सभी उपासनाओं का अन्तिम साध्य मोक्ष होने के कारण उन्होंने जनता को मोक्ष का मार्ग दिखाया। बहुदेववाद के निर्मूलन के लिए उन्हें द्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन करना पड़ा। इसी प्रकार गीता के आधार पर उन्होंने मोक्ष का मार्ग स्त्री और शूद्रों के लिए भी खोल दिया। इतना ही नहीं, चातुर्वर्ण्य का खण्डन करने के लिए उन्होंने पंथ के आचार-धर्म में चारों वर्णों के घरों से भिक्षा स्वीकार करने का आदेश दिया है।

'चातुर्वर्ण्य चरेत् भैक्षम्'[1]

---

१ सूत्रपाठ, सं० ह० ना० नेने, आचार, ८१।

स्वामी चक्रधर के पूर्व दक्षिण के आलवार भक्तों ने और रामानुजाचार्य ने वैष्ण भक्ति का प्रचार करके कृष्ण और विष्णु के अभेद को प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार कर लिया था। प्राचीन परम्परा के आधार पर स्वामी चक्रधर के लिए यह कल्पना जनता को भ्रम में डालने वाली लगी। अतः सबसे पहले उन्होंने श्रीकृष्ण को परमेश्वर का अवतार मानकर उन्हें विष्णु से भिन्न प्रमाणित किया। स्वामी चक्रधर ने एक-दो स्थानों पर स्वयं अपने को भी कृष्ण का अवतार माना है। शंकराचार्य के केवलाद्वैत सिद्धान्त का खण्डन करके सच्चे धर्म की प्रतिष्ठापना को ही उन्होंने अपना अवतार कार्य समझा।

यादवकालीन महाराष्ट्र की इन सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के कारण ही महानुभाव पन्थ के आचार और तत्त्वज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ। स्पष्ट ही तत्कालीन महाराष्ट्रीय जनता में धर्म भावना की कमी नहीं थी अपितु उसकी धर्म-भावना इतनी प्रबल थी कि वह अनेक देवताओं की उपासना के आडंबर में सात्वत धर्म से विमुख होने लगी थी। इसीलिए महानुभाव कृष्ण-काव्य में तत्त्व-निरूपण और आचार को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। ब्राह्मण धर्म का घोर विरोधी होने के कारण इस पन्थ के ग्रन्थों की रचना सकल सुन्दरी अंक पञ्च सुभद्रा सिंह, मोडस्य आदि लिपियों में हुई। महानुभाव पन्थ के ग्रन्थ लिपि-बद्ध होने के कारण तथा इस पन्थ में निवृत्ति-मार्ग का ही स्वीकार होने के कारण इस पन्थ का तत्त्वज्ञान उच्च आदर्शों पर आधारित होते हुए भी साधारण गार्हस्थ्य जीवन तक नहीं पहुँच सका। इस पन्थ को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते हुए भी बहुत ही कम लोग उसका अनुसरण कर सके। आश्चर्य की बात तो यह है कि लिपि-बद्ध होने के कारण महानुभाव ग्रन्थ कई शताब्दियों तक अप्रकाशित ही पड़े रहे। १९२१ में य॰ खु॰ देशपाण्डे ने महानुभावीय मराठी वाङ्मय की रचना करके इस पंथ पर कुछ प्रकाश डाला था। बाद में वि॰ भि॰ कोलते ने अपने प्रबन्ध 'महानुभाव तत्त्वज्ञान' में इस पन्थ के तत्त्वज्ञान का सूक्ष्म विवेचन करके मराठी जनता को उसका महत्त्व समझाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। महानुभाव पन्थ की अलिपिबद्ध कविता की सर्जना मराठी की आद्य कवयित्री महदम्बा ने की। महदम्बा महानुभाव पन्थ के प्रवर्तक स्वामी चक्रधर के मुख्य शिष्य नागदेवाचार्य की चचेरी बहन थीं। इस कवयित्री ने विवाह प्रसंग पर गाने योग्य कृष्ण भक्ति रस से परिपूर्ण धवले लिखे हैं, जो अभंग छन्द की ही भाँति चार समान चरणों वाला अनियमित अक्षर-संख्या का छन्द है। महदम्बा के 'धवलों' द्वारा मराठी की मधुकाव्य कविता का आरम्भ माना जाता है। स्वामी चक्रधर के दूसरे प्रसिद्ध शिष्य म्हाइंभट ने 'लीळाचरित्र' ग्रन्थ की रचना की जिसमें श्री चक्रधर का जीवन चरित्र दिया गया है।

महानुभाव पन्थ निवृत्ति-निष्ठ वेद विरोधी और सामान्य जनता से दूर होने के कारण ही महाराष्ट्र में वैदिक धर्म की सुरक्षा के लिए सन्त ज्ञानेश्वर का प्रादुर्भाव हुआ। सन्त ज्ञानेश्वर ब्राह्मण होते हुए भी शूद्र-धर्म में धकेल दिये गए थे। शूद्र-वर्ग और स्त्री-जाति के लिए वैदिक परम्परा ने आध्यात्मिक उन्नति के द्वार बन्द कर रखे थे। केवल गीता ने ही उन्हें आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग बताया था। शूद्रों तथा स्त्रियों को धर्म का अधिकार देने के लिए स्वामी चक्रधर पहले ही गीता को प्रमाण मान चुके थे। सन्त ज्ञानेश्वर ने भी गीता का ही आश्रय लिया। १२९० ई॰ में उन्होंने ज्ञानेश्वरी की रचना की। 'ज्ञानेश्वरी

भगवद्गीता के अठारह अध्यायों पर नौ हजार ओवियों की पद्यात्मक टीका है तथा मराठी साहित्य में उसका अपूर्व स्थान है। 'ज्ञानेश्वरी' में वे लिखते हैं—

वेद सम्पन्नु होय ठाईं। परी कृपणु ऐसा आनु नाहीं।
जे कानीं लागला तिहीं। वर्णांचिया॥
येरां भवव्यथा ठेलिया। स्त्री शूद्रादिकां प्राणियां
अनवसरु मांडूनियां। राहिला आहे॥
तरी मज पाहतां तें मागील उणें। फेडावया गीतापणें
वेदु वेठला भलतेणें। सेव्य होआवया॥[1]

(वेद सम्पन्न अवश्य है पर उन जैसा कोई कृपण भी नहीं है क्योंकि वे केवल तीनों वर्णों को ही श्रुति-गोचर हैं। उन्होंने स्त्री और शूद्रों को वंचित रखा है। मेरे विचार में इस कमी को दूर करने के लिए ही वेद पुनः गीता के रूप में प्रकट हुए हैं।)

वस्तुतः शूद्र और स्त्री-वर्ग के उद्धार के लिए ही ज्ञानेश्वर ने गीता पर टीका लिखी है। उनके इस कार्य का जनता पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। परम्परावादी होने के कारण सन्त ज्ञानेश्वर ने चातुर्वर्ण्य को बनाए रखने में ही योग दिया तथा अद्वैत का समर्थन किया। बौद्ध और जैन धर्मों की ही भाँति महानुभाव पन्थ ने भी संन्यास को आध्यात्मिक दृष्टि से प्रधानता दे रखी थी। स्वामी चक्रधर ने कहा था—

कर्म-धर्म-विधि विषोस्वहूनि परमेश्वरांचरण रिघावे।

(कर्म, धर्म विषय आदि सब-कुछ छोड़कर ईश्वर की शरण जाओ।)

कर्म और विषय-त्याग के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता। केवलाद्वैतवादी शंकराचार्य ने भी संन्यास को आवश्यक माना था परन्तु संसार के सब लोगों को संन्यास ग्रहण करना सम्भव नहीं था। इसीलिए ज्ञानेश्वर ने संन्यास-मार्ग को स्वीकार नहीं किया। वे गृहस्थाश्रम में रहकर ही ईश्वर प्राप्ति का मार्ग जनता को देना चाहते थे। अतः ज्ञानेश्वरी में उन्होंने निष्काम कर्मवाद का समर्थन किया। निष्काम-बुद्धि से अपने कर्म करते हुए ईश्वर-पूजा करने से ही परमेश्वर सन्तुष्ट होता है। इसीलिए वे कहते हैं—

तया सर्वात्मका ईश्वरा। स्वकर्म कुसुमांची वीरा।
पूजा केली होय अपारा। तोषालागीं ।[2]

(सर्वात्म ईश्वर की अपने कर्म-रूपी पुष्पों से पूजा करने से ही वह सन्तुष्ट होता है।)

आध्यात्मिक क्षेत्र में सब वर्णों को तथा पापियों को समान अधिकार देते हुए गीतोक्ति को प्रमाण मानकर सन्त ज्ञानेश्वर कहते हैं—

आणि पापयोनी ही अर्जुना। का वैश्य शूद्र अंगना।
मातें भजतां सदना। जाति माझिया ।[3]

(स्त्री, वैश्य शूद्र पापी, सब मेरा भजन करने से मुझे प्राप्त होते हैं।)

---

१ ज्ञानेश्वरी, अ० १८, १४६१-६८।
२ वही, १८-९१७।
३ वहीं ९.४४१।

ज्ञानेश्वरी की रचना में सामाजिक विषमता और चातुर्वर्ण्य का विरोध ही मुख्य रूप से प्रेरक रहा है। ज्ञानेश्वरी के द्वारा कर्म मोक्ष और भक्ति का सुन्दर समन्वय करके सन्त ज्ञानेश्वर ने जनसाधारण को उपासना का एक सुगम मार्ग दिखाया।

'ज्ञानेश्वरी' के अतिरिक्त सन्त ज्ञानेश्वर ने 'अमृतानुभव' तथा कुछ स्फुट अभंगों की भी रचना की है। ज्ञानेश्वर के समकालीन कई अन्य सन्त-कवि हो गए हैं जिनमें से अधिकांश नीची जाति के थे। नामदेव, जनाबाई, गोरा कुम्हार सावता माली विसोबा खेचर नरहरि सुनार, चोखा महार चोखा मेळा परसा भागवत कान्होपात्रा चतुरिया सेना नाई, सजन कसाई आदि इसी कोटि में आते हैं। ये सब वारकरी-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वारकरी सम्प्रदाय कृष्ण-भक्ति-परक था।

ज्ञानेश्वरी के ही समान वारकरी-काव्य भी कृष्ण-भक्ति-परक था तथा जाति भेद की विषमता की पार्श्वभूमि पर ही उभरा था। काव्य के इतिहास की दृष्टि से इन सन्तों में नामदेव तथा एकनाथ उल्लेखनीय हैं। सन्त नामदेव जाति के दर्जी थे। उनका काल १२७० १३५० ई० माना जाता है। अपनी जाति के कारण ही उन्हें अनेक उपेक्षाओं और अपमानों का सामना करना पड़ा। ब्राह्मणों ने उन्हें बुरी तरह से दुत्कारा था और उन्हें अपने साथ न बिठाकर मन्दिर के एक कोने में बिठाया था। इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए नामदेव कहते हैं—

जाति नाहीं म्हणोनी कापसी पंगती।
बैसविली एकांती वेगळीकें ॥[1]

(जातिहीन होने के कारण अपनी पंक्ति में न बिठाकर ब्राह्मणों ने उन्हें एक कोने में बिठाया।)

जाति भेद पर प्रहार करते हुए वे आगे कहते हैं—

कुश्चळ भूमीवरी उगवली तुळसी,
अपवित्र तिजसी म्हणों नये।
नामा म्हणे तैसा जातीचा मी शिंपी,
उपमा जातीची देऊं नये।[2]

(अपवित्र स्थान पर यदि तुलसी का पौधा उग आए तो उसे अपवित्र नहीं कहना चाहिए। उसी तरह, नामदेव कहते हैं मैं भी जाति का दर्जी हूँ अतः जाति की उपमा न दीजिये।)

इसी प्रकार एक हिन्दी-पद में वे कहते हैं—

हीन दीन जात मोरी पंढरी के रामा।
ऐसा तुमने नामा दरजी कायकू बनाया ॥
टाल बिना लेकर नामा राउल में आया
पूजा करते ब्राह्मन उन्हें बाहेर ढकाया।[3]

---

१ नामदेव गाथा, अ० १५ २।
२ वही अ० ६७०।
३ वही अ० १८६९।

इन उल्लेखों से दिखाई देता है कि निम्न जाति में उत्पन्न होने के कारण उस समय सन्त भी ब्राह्मणों द्वारा उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते थे। इसी वर्ण-व्यवस्था से त्रस्त होकर सेना नाई कहता है—

मी तो याती हीन, माझा राखा अभिमान ॥[1]

(मैं जातिहीन हूँ। मेरी प्रतिष्ठा आपके हाथ में है। आप ही उसे बचाए रख सकते हैं।)

चोखा महार के अभंगों में भी यही दैन्य व्यक्त हुआ है। चोखा मेळा के निम्नलिखित अभंग से शूद्रों की तत्कालीन स्थिति का सही-सही वर्णन होता है।

जोहार मायबाप जोहार। तुमच्या महाराचा मी महार।
बहु भुकेला जाहलों। तुमच्या उष्ट्यासाठी आलों।
बहु केली आस तुमच्या दासाचा मी दास।
चोखा म्हणे पाटी। आणिली तुमच्या उष्ट्या साठी।[2]

प्रणाम माय बाप प्रणाम। मैं तुम्हारे चमार का भी चमार हूँ। बहुत भूखा हो गया था। इसीलिए आपके जूठन के लिए बड़ी आशा से आ पहुँचा हूँ। मैं आपके दासों का भी दास हूँ। चोखा कहता है आपका जूठन ले जाने के लिए टोकरी लाया हूँ।

जाति भेद के कठोर नियंत्रण के कारण ही धर्माचारादि से वंचित शूद्र जाति में उत्पन्न वारकरी संतों ने विट्ठल-भक्ति का मार्ग अपनाया और भक्तिपूर्ण अभंगों की रचना की। वारकरी सम्प्रदाय के प्रवर्तक सन्त नामदेव माने जाते हैं। इनकी रचना सूर की तरह मुक्तक पदों में हुई है तथा उनमें बाल-तरुण कृष्ण की रासलीलाओं से सम्बन्धित शृंगार-प्रधान पद भी समाविष्ट हैं। परन्तु ऐसे पद उत्तान शृंगार की मादक झाँकी प्रस्तुत न करके भाव-वर्णन और परम्परा को ही चरितार्थ करते हैं।

संत ज्ञानेश्वर और नामदेव के पूर्व ही उत्तर भारत में यवन राजाओं ने मूर्तियों को तोड़ना आरम्भ कर दिया था। ज्ञानेश्वर के समाधिस्थ होने के एक वर्ष पूर्व १२९५ में अलाउद्दीन खिल्जी का दक्षिण हिन्दुस्तान पर आक्रमण आरम्भ हो गया था। इस आक्रमण में अलाउद्दीन ने देवगिरि पर अधिकार जमाकर अपार धन-सम्पत्ति लूटी और यादव राजाओं को अपना माण्डलिक बना लिया। सन् १३०६ में मलिक काफूर द्वारा रामदेवराव यादव पकड़ लिया गया और बाद में मुक्त कर दिया गया। उसकी मृत्यु के बाद उसका दामाद हरपालदेव सिंहासन पर बैठा, परन्तु मुसलमानों से मुक्ति पाने का प्रयत्न करने के कारण अलाउद्दीन की आज्ञा से मलिक काफूर ने खाल खींचकर उसकी हत्या कर डाली। हरपालदेव की मृत्यु के साथ ही सन् १३१२ में महाराष्ट्र का स्वातन्त्र्य-दीप बुझ गया और परतन्त्रता का अँधेरा चारों ओर छा गया। सामंतों और क्षत्रियों ने मुसलमान शासकों की दासता स्वीकार कर ली। मुसलमान शासक एक हाथ में कुरान और दूसरे हाथ में कृपाण लिये हुए आगे बढ़ रहे थे तब वे हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बना रहे थे। कई ब्राह्मणों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। 'पवार के पाचरी गाँव के भैरव कुलकर्णी तथा उसके बेटे

---

१ श्री सन्त गाथा सेनानाई, १९७
२ श्री सन्त गाथा, चोखामेळा, ६६० ।

तिमामट ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। इस तिमामट ने ही आगे चलकर अहमद-नगर में निजामशाही की स्थापना की। एलिचपुर (बरार) की इमादशाही का स्थापक फतेहुल्ला भी ब्राह्मण ही था।[1]

मुसलमानों के सम्पर्क एवं आधिपत्य के कारण ब्राह्मणों के आचार में अब इस्लाम को भी महत्त्व मिलने लगा था तथा हिन्दू सन्तों के समान फकीरों और पीरों की पूजा भी चल पड़ी थी। इन्हीं परिस्थितियों में दत्त-सम्प्रदाय तथा सन्त एकनाथ का प्रादुर्भाव हुआ।

चौदहवीं शताब्दी में दत्त-सम्प्रदाय के प्रणेता नृसिंह सरस्वती तथा जनार्दन स्वामी का अवतरण हुआ। दत्त-सम्प्रदाय की स्थापना में भी दत्तात्रेय के रूप में अनेक देवताओं का एकीकरण हुआ तथा आचार पर जोर देकर मुसलमानी सत्ता एवं धर्म से हिन्दू धर्म की रक्षा की गई। इस दृष्टि से दत्त-सम्प्रदाय पूर्ण रूप से समन्वयवादी रहा है। उपर्युक्त सन्तों के शिष्य गंगाधर सरस्वती 'गुरु-चरित्र' के रचयिता माने जाते हैं। 'गुरु-चरित्र' दत्तात्रेय सम्प्रदाय का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है तथा उसका मुख्य विषय है कर्मकाण्ड। महाराष्ट्र में यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है तथा आज भी हजारों लोग नियमपूर्वक उसका पठन-पाठन करते हैं। वस्तुतः मुसलमानी राज-सत्ता तथा इस्लाम धर्म के सम्मुख अपने आचरण के बल पर ही स्वामी नृसिंह सरस्वती ने वैदिक चातुर्वर्ण्य की स्थापना करके स्त्री-पुरुषों को आचार-धर्म का मार्ग दिखाया। संक्षेप में नृसिंह सरस्वती तथा 'गुरु-चरित्र' का सिद्धान्त है—

समस्त सृष्टी ईश्वराची। स्थावर जंगम रचिली साची।
सर्वत्र देव असे साची। तर्क भेद अशक्य॥

(जड़ और चेतन समस्त विश्व की सृष्टि ईश्वर ने ही की है। हर वस्तु में भगवान् विद्यमान है। परन्तु तर्क और भेद असंभव है।) 'गुरु-चरित्र' का रचना-काल सन् १५५७ माना जाता है।[2]

सन्त एकनाथ का काल १५३३-१५९९ ईस्वी माना जाता है। एकनाथ ने 'भागवत', 'भावार्थ रामायण', 'रुक्मिणी स्वयंवर' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे हैं। अन्य वारकरी सन्तों की भाँति एकनाथ का दृष्टिकोण भी समन्वयवादी रहा है तथा जाति भेद का उन्होंने जोर विरोध किया है। 'ज्ञानेश्वरी' के पश्चात् प्राचीन मराठी काव्य में एकनाथ की भागवती टीका अत्यन्त लोकप्रिय हुई है तथा साहित्यिक गुणों में किसी भी तरह 'ज्ञानेश्वरी' से कम नहीं है। भागवती टीका के माध्यम से एकनाथ ने संस्कृत भागवत को सर्वसाधारण तक पहुँचाकर उसे लोकानु-रंजिनी तथा लोकोपयोगी बना दिया। एकनाथ का काव्य तुलसीदास के समान सरल साधारणी करण-युक्त तथा अर्थ-सुलभ है इसीलिए वह अधिक प्रभावपूर्ण एवं लोकप्रिय हुआ।

सन्त एकनाथ ने अहंकार रहित सौजन्य सबके प्रति समान दृष्टि, दीनों की सहायता तथा कीर्तन-प्रवचन और सदाचार का उपदेश जनता को दिया और हिन्दू धर्म में एक नई चेतना उत्पन्न की। पीर-पूजा का निषेध करते हुए वे कहते हैं—

पैठणी यहा अवतार। करिती दुष्टांचा संहार।
पुढें कलीचा प्रथम चरण। देखतें राहिली लक्षून॥

---

१ मराठी सन्तों का सामाजिक कार्य, डॉ॰ वि॰ भि॰ कोलते, पृ॰ ६५।
२. मराठी वाङ्मयाचा इतिहास दूसरा खण्ड पांगारकर, पृ॰ १११।

तीर्थे सांडोनी पळाली, अठरा वर्ण एक झाले ।
म्लेच्छें गांजिलें देवभक्तां, महिमा उच्छेदिला सर्वथा ।
न चले जपतप तत्त्वता, एक रूप सर्व झाले ।
बया दार लाव ।[1]

(बयावतार धारण करके तुमने दुष्टों का संहार किया। अब कलियुग का प्रथम चरण आया है। तीर्थ छोड़कर देवता छिप रहे हैं। अठारह वर्ण एक हो गए हैं। म्लेच्छों ने देव भक्तों को विकल कर दिया है। उनकी महिमा का उच्छेद कर दिया है। जप-तप काम नहीं देता। सब लोग एकरूप हो गए हैं। हे देवी अब तो दरवाजा बन्द करो!)

एकनाथ की परम्परा के मुख्य कवि दासोपंत (१५५१—१६१५ ई०) त्र्यम्बकराय (१५८० ई० के लगभग), शिवकल्याण (१५९८—१६१८ ई०) तथा रमावल्लभदास आदि हैं। इनके काव्य में सर्वत्र कृष्ण प्रेम की ही अभिव्यंजना हुई है। त्र्यम्बकराय का ग्रन्थ 'बालबोध वेदान्त' तथा ओंकारोपासनापरक है। शिवकल्याण ने 'नित्यानन्दैक्य दीपिका', 'रास पंचाध्यायी' 'ब्रह्मस्तुति' आदि ग्रन्थ लिखे हैं, जिनका मुख्य विषय श्रीकृष्ण-चरित्र-गायन ही है। रमावल्लभदास की गीता पर 'चमत्कारी टीका' प्रसिद्ध है। 'चमत्कारी टीका' में गीता के अध्यात्म को और भी सुबोध एवं ग्राह्य बनाया गया है तथा समस्त ग्रन्थ कृष्ण-भक्ति रस से ओत प्रोत है।

प्राचीन मराठी काव्य की अन्तिम कड़ी के रूप में मुक्तेश्वर का नाम आता है। इनके काल के विषय में अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता पर अधिकतर विद्वान् इन्हें सन्त एकनाथ का नाती मानते हैं तथा इनका समय १६०० से १६५० के आसपास निश्चित करते हैं। मुक्तेश्वर की सबसे प्रसिद्ध रचना 'महाभारत' है पर वह सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है। उसके आदि सभा वन विराट तथा सौप्तिक पाँच ही पर्व आज उपलब्ध हैं। मुक्तेश्वर की कविता में लोकोत्तर प्रसाद, दिव्य ओजस्विता तथा सृष्टि-सौन्दर्य की अनुपम शोभा संग्रहीत है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता है आख्यान कविता की सर्जना जिसके सर्वप्रथम प्रवर्तक मुक्तेश्वर रहे हैं। सन्त ज्ञानेश्वर को यदि सन्त-साहित्य का भित्ति-स्थापक[2] कहा जा सकता है तो मुक्तेश्वर को लौकिक साहित्य की नींव डालने वालों में अग्रगण्य माना जा सकता है। महाभारत के अतिरिक्त मुक्तेश्वर ने कुछ स्फुट प्रकरणों तथा आरतियों की भी रचना की है जिनमें कई गीति-पद भी हैं।

प्रस्तुत विषय की सीमाओं के अन्तर्गत कृष्ण भक्ति-परम्परा के अन्तिम मुख्य सन्त कवि के रूप में तुकाराम उल्लेखनीय हैं। तुकाराम का जन्म-काल १६०८ ई० माना जाता है। तुकाराम ने अपने काव्य की रचना अभंगों में की है। उनके सभी अभंग भजनोपयोगी हैं। संकीर्तन उनके आचार का प्रधान अंग होने के कारण उनके सभी अभंग हृदय से प्रस्फुटित हुए हैं। इसीलिए उनमें दैन्यता के साथ-साथ हृदयगत भावों के आरोह-अवरोह का सुन्दर चित्र अंकित हुआ है। तुकाराम के अभंग परमेश्वर-विषयक, अनुभव-विनय, उपालंभ दास्य,

---

१ एकनाथ गाथा, क्र० ३३१५।

२ कहा जाता है कि चांगदेव नामक योगी से भेंट के अवसर पर श्री ज्ञानेश्वर ने उस दीवार को चलाया था जिस पर वे उस समय बैठे हुए थे।

प्रेम, वात्सल्य भावों से ओत-प्रोत हैं तथा उनका काव्य स्वानुभूत एवं हृदय से स्फुरित होने के कारण महाराष्ट्र में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है। तुकाराम ने कृष्ण-गोपी-लीलाओं को लेकर भी कुछ अभंगों की रचना की है पर वे संख्या में बहुत कम और परम्परानुरूप होने के कारण उनमें सन्त तुकाराम की स्वाभाविक भावुकता तथा विह्वलता के, जो अन्य अभंगों में कूट-कूटकर भरी हुई है, दर्शन नहीं होते। कबीर की भाँति सन्त तुकाराम ने भी अव्यावहारिक दम्भ और पाखण्ड को आड़े हाथों लिया है तथा कबीर की ही भाँति उनकी रचनाएँ भी लोकोक्ति-रूप बन गई हैं।

तुकाराम के खण्डनात्मक एवं ओजस्वी अभंगों ने भौतिक उत्कर्ष के लिए आवश्यक नैतिक-बल-संवर्धन का कार्य किया है। इस खण्डन के साथ-ही-साथ धर्माभिमान स्वामिनिष्ठा शरीर-सुख की उपेक्षा धर्म-नीति का श्रेष्ठत्व धर्म-कर्म की अपेक्षा चित्त शुद्धि तथा सदाचार का महत्त्व आदि उच्चतर जीवन-मूल्यों का परिचय सन्त तुकाराम ने सर्वसाधारण जनता को कराया। उनके इस विधायक कार्य ने ही शिवाजी के कार्य के लिए उपयोगी ध्येयनिष्ठ सुसंगठित तथा कार्यक्षम मराठा समाज तैयार किया।[1]

सन् १६४६ में महाराष्ट्र में स्वराज्य-स्थापना के बाद यवन संस्कारों को उखाड़ फेंकने और भारतीय संस्कृति की पुन स्थापना करने का भरसक प्रयत्न होने लगा। शान्ति के इस युग में संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन हुआ और साथ ही पौराणिक और संस्कृत ग्रन्थों का मराठी में अनुवाद भी होने लगा। संस्कृत शब्दों का मराठी में अधिकाधिक प्रयोग होने लगा और भाषा भी संस्कृत के ढंग पर लिखी जाने लगी। शान्ति और समृद्धि के इस युग ने मराठी के पंडित कवियों को जन्म दिया। पंडित कवियों की प्रवृत्ति काव्य-गुणों और शृंगारिक-वर्णनों की ओर अधिक थी। यह प्रवृत्ति कृष्ण-लीला-वर्णनों में अधिक प्रकट हुई है। परन्तु, प्राचीन परम्परा सन्त-काव्य और स्वराज्य-काल के नैतिक बन्धनों के कारण उनके शृंगार में हिन्दी-उद्दाम-शृंगार का रंग अधिक नहीं चढ़ सका। पेशवा-काल में जब महाराष्ट्र की स्वतन्त्रता का दीप डगमग होने लगा और विलासिता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। तब यही शृंगारिक प्रवृत्ति अश्लील लावणियों में मुखरित हो उठी।

उपर्युक्त परिस्थितियों से स्पष्ट हो जाता है कि महाराष्ट्रीय सन्तों ने गीता और महाभारत के कृष्ण को ही अपने काव्य का विषय क्यों बनाया। वास्तव में कृष्ण के इन रूपों का गुणगान करके पथभ्रष्ट समाज में धर्म की पुनःस्थापना करना ही इन सन्तों को अभीष्ट था। इसीलिए भागवत-पुराण का पर्याप्त प्रचार होते हुए भी इन्होंने कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं को अपने काव्य में अधिक महत्त्व नहीं दिया वरन् परम्परा से ज्ञात कृष्ण के योगेश्वर रूप का ही मुख्यत वर्णन किया है। शृंगारिक और बाल-लीलाओं का वर्णन प्रासंगिक मात्र है। इस दृष्टि से मराठी कृष्ण-कविता बहुविध है। उसमें हिन्दी की भाँति एकरसता दृष्टिगत नहीं होती।

मराठी कृष्ण-काव्य के स्वरूप-निर्धारण में महाराष्ट्र की भौगोलिक स्थिति ने भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। महाराष्ट्र पहाड़ी प्रदेश है। उत्तर भारत की भाँति यहाँ की भूमि उपजाऊ नहीं है। बिना कठिन परिश्रम के फसल नहीं होती। अत यहाँ की जनता उत्तर

१ महाराष्ट्र परिचय, पृ ४२९।

भारत की अपेक्षा धनहीन है। बिना एड़ी-चोटी का पसीना एक किये पेट भरना जनता के लिए असम्भव है। इसीलिए महाराष्ट्र के लोग स्वभाव से ही परिश्रमी हैं। वे बुद्धिजीवी और श्रमजीवी एक साथ हैं। जीवन का सारा समय जीवन-यापन में व्यतीत होने के कारण विलासिता की ओर प्रवृत्त होने के लिए न तो उनके पास समय है और न साधन। जनता की इस स्वाभाविक और प्रदेश की भौगोलिक विशेषताओं का भी मराठी के कृष्ण-काव्य पर प्रचुर मात्रा में प्रभाव पड़ा है और इसीलिए मराठी कवियों की प्रवृत्ति कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं की ओर उतनी नहीं रही जितनी अन्य प्रदेशों के कृष्ण-भक्त कवियों की रही है। मराठी कृष्ण-काव्य पर राष्ट्रीयता का अनूठा रंग चढ़ा हुआ दृष्टिगत होता है।

दक्षिण में आचार्यों द्वारा कृष्ण भक्ति की स्थापना और महाराष्ट्र में कृष्ण-भक्ति की स्थापना लगभग एक ही काल तथा एक-सी ही परिस्थितियों में सम्पन्न हुई-सी प्रतीत होती है। दक्षिण की ही भाँति महाराष्ट्र में भी कृष्ण-भक्ति मार्ग पर कर्नाटक का प्रभाव तथा आलवारों का विशेष प्रभाव अभिलक्षित होता है। आलवारों की विट्ठल की कल्पना भाव विह्वलता तथा रसशिक्त भजनों की लोकप्रियता ही वह कारण प्रतीत होती है जिससे विष्णु के अन्य अवतारों की अपेक्षा कृष्णावतार को लेकर ही भक्ति-काव्य की सर्जना हुई। इतना अवश्य है कि कृष्ण-भक्ति में कृष्ण को पुराणों की परम्परानुसार विष्णु का ही पूर्णावतार मानकर उपासना को प्रश्रय मिला। कृष्ण और विष्णु के अभेद की इस कल्पना के लिए जिस प्रकार पुराणों का समन्वयवादी दृष्टिकोण उत्तरदायी रहा है, उसी प्रकार न्यूनाधिक मात्रा में महाराष्ट्र पर कर्नाटक का प्रभाव भी उत्तरदायी रहा है। महानुभाव पन्थ द्वारा निवृत्ति मार्ग का स्वीकार तथा वारकरी पन्थ में विट्ठल की कल्पना इस दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं।

पहले कहा गया है कि विट्ठल कर्नाटक की कल्पना है। पांडुरंग मन्दिर के शिला लेख में संस्कृत तथा कन्नड़ भाषा का प्रयोग[1] भी विट्ठल का कर्नाटक से नाता निर्धारित करता है। विट्ठल मूर्ति की प्राचीनता भी इसी बात को सूचित करती है। मैसूर राज्य के एक शिलालेख के अनुसार पुण्डलीक का समय शालिवाहन शक के प्रथम शतक के लगभग निश्चित होता है। विट्ठल अथवा पांडुरंग की प्राचीनता प्राचीन संत-वाणी में भी व्यक्त हुई है। आद्य शंकराचार्य कहते हैं —

परब्रह्मलिंगं भजे पांडुरंगम्।[2]

नामदेव उन्हें अट्ठाइस युग से ईंट पर खड़ा हुआ पाते हैं—

'युगे अट्ठावीस विटेवरी उभा।'[3]

(अट्ठाइस युगों से ईंट पर खड़े हैं।)

ज्ञानदेव नामदेव के मत की पुष्टि करते हुए कहते हैं—

'हे मधे आदिमायिले युगे अट्ठावीसवि।'[4]

---

१ महाराष्ट्र के पाँच सम्प्रदाय पं० रा० बोलसरी, पृ० ७८।
२ प्रसाद, अभंग १६२४, पृ० ५८।
३ महाराष्ट्र के पाँच सम्प्रदाय पृ ८०।
४ वही, पृ० ८०।

(वे वास्तव में ही नहीं अट्ठाईस युगों से यों ही खड़े हैं।)

तुकाराम का कथन है—

'युगे झाली अट्ठावीस अजुनी न म्हणती बैस।'[1]

(अट्ठाईस युग हो गए, परन्तु अब भी बैठने की बात नहीं कहते।)

उपर्युक्त सभी उल्लेख विट्ठल की प्राचीनता की पुष्टि करते हैं। पर विट्ठल के प्राचीन होते हुए भी महाराष्ट्र में विट्ठल-भक्ति का प्रचार कई शताब्दियों के बाद होना इस बात को स्पष्ट रूप से सूचित करता है कि महाराष्ट्र में प्रविष्ट होने के पूर्व विट्ठल-भक्ति कर्नाटक देश में विद्यमान थी। मूर्ति के मस्तक पर शिवलिंग का अस्तित्व भी कर्नाटक में प्राचीन काल में विद्यमान शिव और विष्णु के भेद एवं तदनन्तर ऐक्य का द्योतक है। बदामी में विद्यमान चार प्राचीन मन्दिरों में से एक में हरिहर की मूर्ति इसी कथन की पुष्टि करती है।

दक्षिण की भाँति महाराष्ट्र में भी वैष्णव-शैव विरोध का सर्वथा अभाव रहा है। ऐसी दशा में विट्ठल-मूर्ति में शिव-विष्णु का ऐक्य महाराष्ट्र की किसी धार्मिक प्रवृत्ति-विशेष को सूचित नहीं करता।

कर्नाटक में विट्ठल-भक्ति का प्रचार अन्य कई बातों से भी प्रमाणित होता है। ई० स० १२८० के लगभग रुद्रभट नामक कन्नड़ कवि ने जगन्नाथ को ही विट्ठल कहा है।[2] तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में विद्यमान कन्नड़ कवि चौंडरस ने पंढरी क्षेत्र का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है।[3] कन्नड़ कवि हरिदास तो पक्के विट्ठल-भक्त ही थे। आन्ध्र देश में आज भी पांडुरंग के कई मन्दिर बने हुए हैं। इसी प्रकार तेलुगु लोकगीतों में पांडुरंग तथा पंढरी के कई वर्णन मिलते हैं।[4] कर्नाटक के हरिदासों का विट्ठल-भक्ति में विशेष हाथ रहा है।[5]

वारकरी पन्थ के आचारधर्म के अन्तर्गत विष्णु और शिव का ऐक्य अन्य धर्मों के प्रति उदारता जाति-भेद का खण्डन आदि में भी कर्नाटक का विशेष हाथ रहा है। कन्नड़ के प्राचीन साहित्य से पता चलता है कि अन्य धर्मों के प्रति कर्नाटक का दृष्टिकोण आरम्भ से ही अत्यन्त उदार रहा है।[6] पर आश्चर्य की बात यह है कि ईसा की सातवीं शताब्दी तक कर्नाटक में कृष्णोपासना का कोई भी स्पष्ट ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलता। द्वितीय विक्रमादित्य द्वारा निर्मित विरूपाक्ष तथा लोकेश्वर, काशी विश्वनाथ मल्लिकार्जुन आदि प्राचीन मन्दिरों के स्तम्भों पर श्रीकृष्ण-जीवन-विषयक कथाओं के चित्र[7] से इतना अवश्य विदित होता है कि सातवीं शताब्दी के पूर्व लोक में कृष्ण-कथाओं का बहुलता से प्रचार हो चुका था। यही स्थिति अत्याधिक मात्रा में गुजरात की भी रही है। ऐसी दशा में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि मराठी कृष्ण-काव्य को कर्नाटक की देन विट्ठल की कल्पना हरिहर

१ महाराष्ट्र के पाँच संप्रदाय पृ० ८०।
२ मार्गदर्शक पाण्डुरंग भक्त डॉ० श्रीधर कुलकर्णी, पृ० ११७।
३ वही।
४ वही।
५ कर्नाटक दर्शन, पृ० २१४।
६ कर्नाटक दर्शन पृ० १०८।
७ वही, पृ० १२१-२८।

वैष्णव तथा धार्मिक सहिष्णुता ही रही है पर ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में कृष्णोपासना के स्वतंत्र रूप से आरम्भ में विशेषतया गुजरात का ही हाथ रहा है जो महानुभाव पन्थ के उदय में अभिव्यक्त होता है।

मराठी काव्य पर गुजरात के प्रभाव का विवेचन करने के पूर्व प्राचीन गुजरात में कृष्ण-भक्ति के स्वरूप पर विहंगम दृष्टि डालना समीचीन होगा। गुजरात और काठियावाड़ के प्राचीन शिल्प के अवलोकन से प्रतीत होता है कि ईसा की गुजरात का प्रभाव और चौथी-पाँचवीं शताब्दी में गुप्त राजवंश के आगमन के पूर्व गुजरात महानुभावों के कृष्ण में वैष्णव उपासना का कोई भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता।[1] वस्तुतः ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में गुजरात में शैव धर्म का ही प्रचार था। तत्पश्चात् बौद्ध एवं जैन धर्मों के बढ़ते हुए प्रचार की प्रतिक्रिया-स्वरूप सातवीं शताब्दी के लगभग गुजरात में लकुलेश पाशुपत सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ तथा यह समस्त गुर्जर देश में लोकप्रिय हो गया। इस सम्प्रदाय का उल्लेख आदि शंकराचार्य ने भी किया है।[2]

इस वस्तुस्थिति का समर्थन गुजरात के प्राचीन मन्दिरों एवं शिलालेखों के अवलोकन से भी होता है। गुजरात के सभी प्राचीन मन्दिर या तो शिव के हैं या शिव-विष्णु के। विष्णु के स्वतंत्र मन्दिर के सम्बन्ध में केवल एक ही प्राचीन शिलालेख उपलब्ध है।[3] इसी प्रकार भीमदेव की देवपाटण प्रशस्ति से रोहिणी-स्वामी मन्दिर का पता चलता है।[4] यद्यपि मन्दिर में केशवादि की ही मूर्तियाँ थीं, तथापि उसके नामकरण से प्रतीत होता है कि उसका निर्माण बलभद्र तथा रोहिणी की पुण्य-स्मृति में हुआ था।[5] गुजरात में स्वतन्त्र रूप से कृष्ण भक्ति का सर्वप्रथम ऐतिहासिक प्रमाण अनावाड़ा का शिलालेख है जो सन् १२४८ का माना जाता है।[6] इस शिलालेख में कृष्ण-पूजा के लिए दान तथा उसमें गीतगोविन्द के आरम्भिक पदों के उद्धरण से प्रतीत होता है कि गुजरात में सर्वप्रथम कृष्ण-भक्ति का स्वतन्त्र रूप से प्रचार गीतगोविन्द की रचना के पश्चात् हुआ।[6] अतः आवश्यक था कि गुजरात की प्रारम्भिक कृष्ण भक्ति में भागवत पर आधारित जयदेव की शृंगार-प्रधान भक्ति तथा प्राचीन वासुदेव-सम्प्रदाय की कृष्ण-भक्ति दोनों का प्रभाव पड़ता। यह प्रभाव स्वामी चक्रधर द्वारा प्रवर्तित महानुभाव पन्थ के तत्त्व-निरूपण में दृष्टिगोचर होता है।

महाराष्ट्र के आदि धार्मिक सम्प्रदाय महानुभाव-पन्थ के प्रवर्तक स्वामी चक्रधर माने जाते हैं। स्वामी चक्रधर स्वयं महाराष्ट्रीय नहीं थे। वे भरवस (वर्तमान भड़ौंच) के गुजराती राजा विशालदेव के पुत्र थे तथा उनका पहले का नाम हरिपालदेव था। यही हरिपालदेव आगे चलकर महाराष्ट्र में 'चक्रधर' के नाम से प्रसिद्ध हुए तथा महानुभाव पन्थ के प्रवर्तक बने। जन्मतः गुजराती होते हुए भी महात्मा चक्रधर ने धार्मिक कार्य के लिए

१ आर्कियोलोजी ऑफ गुजरात एच० डी० संकालिया, पृ० ९९।
२ वही।
३ वही।
४ वही।
५ वही।
६ वही।

गुजरात को छोड़कर महाराष्ट्र को चुना तथा महानुभाव तत्त्वज्ञान का लोक-भाषा मराठी में प्रचार करके जनता को सच्चे धर्म की ओर अग्रसर किया। धर्म प्रचार के लिए महात्मा चक्रधर का गुजरात की अपेक्षा महाराष्ट्र को चुनना दो बातों पर प्रकाश डालता है। एक यह कि उस समय गुजरात में पाशुपत जैन तथा बौद्ध धर्मों के अत्यधिक प्रचार के कारण वहाँ किसी भी नूतन धार्मिक विचारधारा का उद्रेक असम्भव था तथा दूसरे, महाराष्ट्र में बहुदेववाद के अस्तित्व उसके प्रति जनता की असीम आस्था तथा सामाजिक दुर्दशा के कारण उसे पहले महाराष्ट्र को ही मार्ग-दर्शन की आवश्यकता थी। स्वयं महात्मा चक्रधर के वचन 'महाराष्ट्री असावें' (महाराष्ट्र में रहना चाहिए) इसी पार्श्वभूमि को सूचित करते हैं। अतः महानुभाव पन्थ के तत्त्वज्ञान तथा उसके अन्तर्गत कृष्ण के स्वरूप का विवेचन करने से पहले उन परिस्थितियों पर विचार करना अनिवार्य है जो इस पन्थ के आविर्भाव के कारण बनीं।

मराठी काव्य-ग्रन्थों का आरम्भ लगभग बारहवीं शताब्दी से होता है।[1] जिस समय महात्मा चक्रधर का महाराष्ट्र में आगमन हुआ तब से लेकर उनके प्रयाण-काल तक महाराष्ट्र पूरी तरह स्वाधीन था तथा परसत्ता के दुष्परिणामों का उसे तनिक भी अनुभव नहीं था। यह वह काल था जब महाराष्ट्र पर यादव राजाओं का राज्य था। यादव राजा स्वयं धर्मशील थे तथा वेदान्त में उनकी पूर्ण आस्था थी। ऐसी दशा में आवश्यक था कि अनेक विद्वान् पंडित राजाश्रय प्राप्त करते और वस्तुस्थिति भी यही थी। राजाओं की उदार एवं सहिष्णु प्रवृत्ति के कारण जैन लिंगायत जोगी, नाथ बौद्ध आदि संप्रदायों के अनुयायी भी अपने-अपने मतों का यत्र-तत्र प्रचार कर रहे थे। ई० स० ११८८ में मुकुन्दराज द्वारा रचित 'विवेक सिन्धु' से इसी वस्तुस्थिति का पता चलता है।[2] पर राजाश्रय के कारण मुख्यतः वैदिक धर्म का ही बोलबाला था। दूसरे शब्दों में महात्मा चक्रधर के आगमन के पूर्व महाराष्ट्र में चातुर्वर्ण्य अत्यन्त विषम रूप धारण किये हुए था तथा उसकी विषमता केवल आध्यात्मिक क्षेत्र तक ही सीमित न रहकर दैनिक व्यवहार में भी व्याप्त हो चुकी थी। इस विषमता के फलस्वरूप समाज का निम्न वर्ग तथा स्त्रियाँ धर्म से वंचित रह गई थीं। तत्कालीन हेमाद्रि पंडित की 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' के 'व्रतखण्ड' में विभिन्न देवताओं की उपासना के लिए वर्ष में लगभग दो हजार व्रतों के आयोजन से पता चलता है कि उस समय अनेक देवताओं की उपासना के साथ-साथ अनेक व्रतों का पालन करना धर्म का एक आवश्यक अंग बन चुका था जो स्पष्ट रूप से अन्य वर्णों पर ब्राह्मणों की सत्ता को सिद्ध करता है। अनेक देवताओं की उपासना के कारण ही आचार में भी अनेक तत्त्व समाविष्ट हो गए थे यथा गोकुल-अष्टमी गणेश-चतुर्थी के व्रत और नवरात्र में देवी की पूजा के साथ-साथ विजया दशमी को भैंसे का बलिदान। इस प्रकार एक ही ध्येय तक पहुँचने के लिए एक साथ अनेक मार्गों का अनुशीलन हो रहा था। महात्मा चक्रधर ने इसके परिणाम को समझा और बहुदेववाद के दुष्परिणाम को रोकने के लिए एकेश्वरवाद पर जोर दिया। अपने प्रतिपादन में ईश्वर-निर्मित एक सृष्टि में उन्होंने ८१ कोटि तथा लाख दस देवताओं की माया तथा उनके न्यूनाधिक सामर्थ्य के अनुसार उनके पदों को भी भिन्न-भिन्न बताया। उन्होंने इस बात पर

१ मराठी सन्तों का सामाजिक कार्य डॉ० वि० भि० कोलते पृ० १।
२ वही, पृ० ११।

ओर किया कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए अनेक छोटे-बड़े देवताओं की उपासना करना आवश्यक नहीं है क्योंकि वास्तव में ये सब देवता ईश्वर के अधीन हैं तथा मोक्ष देने में सर्वथा असमर्थ हैं। मोक्ष केवल ईश्वर ही दे सकता है, अतः अनन्य भाव से उसीकी उपासना करने से जीव उन्नति के फल को प्राप्त करता है। पुण्य का क्षय होते ही फिर से अपनी मूल अवस्था में पहुँच जाता है। एकेश्वरवाद के प्रतिपादन के लिए महात्मा चक्रधर ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खण्डन करके द्वैत को माना है तथा अनेक देवी-देवताओं की उपासना से जीव-मात्र को मुक्त करने के लिए उन्होंने वेदों को अयोग्य बतलाया क्योंकि उनके मतानुसार वेदों की दृष्टि केवल माया अथवा चैतन्य देवता तक ही सीमित है—

अन्यही एथु वेदु विभागु चैतन्यावेया प्रसिल्लयाचेयाने [1]

(वेदों की दृष्टि केवल चैतन्य देवता अथवा माया तक ही सीमित है।) और माया है परमेश्वर की दासी। वेद विषमता का मूल आधार होने के कारण उन्होंने उसकी अयोग्यता सिद्ध की तथा इस प्रकार चातुर्वर्ण्य की शृंखला से समाज को मुक्त करने का प्रयत्न किया। साथ ही अपने अनुयायियों को 'चातुर्वर्ण्य चरेत् भैक्ष्यम्'[2] का उपदेश देकर उन्होंने आहार सम्बन्धी भेदाभेद का खण्डन किया। उन्होंने शूद्र और स्त्री—दोनों को संन्यास का अधिकारी माना तथा आवश्यकता पड़ने पर अछूतों की बस्ती में जाकर भी धर्म का ज्ञान प्राप्त करना स्वीकार किया—

'महारवाडाघोनि धर्मु घ्यावा'[3]

इसी प्रकार उन्होंने छुआछूत का विरोध करके मद्य को निषिद्ध माना—'मद्य द्रव्य न सेवा गा'[4] तथा अहिंसा के साथ संन्यास को प्रधानता दी। अतः हम देखते हैं कि महात्मा चक्रधर ने उन सभी तत्त्वों को अंगीकार किया जो जनता को उन्नति की ओर ले जाने वाले थे। इन सभी तत्त्वों का बीज गीता में होने के कारण उन्होंने गीता को प्रमाण ग्रन्थ माना तथा कृष्ण को साक्षात् परमेश्वर का अवतार मानकर शंकराचार्य के पंचायतन को अस्वीकार करते हुए भी दत्तात्रेय (एकमुखी) श्रीकृष्ण, श्री चक्रपाणि, श्री गोविन्द प्रभु तथा श्री चक्रधर को साकार परमेश्वरावतार मानकर 'पंचकृष्ण' की उपासना को मान्यता दी।

महानुभाव तत्त्वज्ञान का मुख्य आधार गीता होने के कारण महानुभाव तत्त्वज्ञान के रूप में एक प्रकार से गीता के ही सिद्धान्तों की पुनरावृत्ति-सी प्रतीत होती है। जिस प्रकार गीता में प्राचीन ज्ञान कर्म और भक्ति को एकसूत्र करके विभिन्न साधना-पद्धतियों में सामंजस्य स्थापित किया गया है, उसी प्रकार महात्मा चक्रधर ने सभी प्रचलित धर्म-सम्प्रदायों के श्रेयस्कर तत्त्वों को एकसूत्र करके वास्तविक धर्म का स्वरूप निश्चित किया। उनका कथन—

सर्वग्राही शास्त्रें आ सारावासि मिळतिः परि हें सर्वग्राही न मिळे [5]

---

१ सूत्रपाठ सं० ह० ना नेने विचारमाला १४।
२ वही आचारमाला ८१।
३ वही, आचारमाला, १४६।
४ वही, उपोद्घात, पृ ८।
५ सूत्रपाठ, विचार, पृ० १११।

गुजरात को छोड़कर महाराष्ट्र को चुना तथा महानुभाव तत्त्वज्ञान का लोक भाषा मराठी में प्रचार करके जनता को सच्चे धर्म की ओर अग्रसर किया। धर्म प्रचार के लिए महात्मा चक्रधर का गुजरात की अपेक्षा महाराष्ट्र को चुनना दो बातों पर प्रकाश डालता है। एक यह कि उस समय गुजरात में पाशुपत जैन तथा बौद्ध धर्मों के अत्यधिक प्रचार के कारण वहाँ किसी भी नूतन धार्मिक विचारधारा का उद्रेक असम्भव था तथा दूसरे, महाराष्ट्र में बहु देववाद के अस्तित्व उसके प्रति जनता की असीम आस्था तथा सामाजिक दुर्दशा के कारण सबसे पहले महाराष्ट्र को ही मार्ग-दर्शन की आवश्यकता थी। स्वयं महात्मा चक्रधर के वचन 'महाराष्ट्री असावें' (महाराष्ट्र में रहना चाहिए) इसी पार्श्वभूमि को सूचित करते हैं। अत महानुभाव पन्थ क तत्त्वज्ञान तथा उसके अन्तर्गत कृष्ण के स्वरूप का विवेचन करने से पहले उन परिस्थितियों पर विचार करना अनिवार्य है जो इस पन्थ के आविर्भाव के कारण बनीं।

मराठी काव्य-ग्रन्थों का आरम्भ लगभग बारहवीं शताब्दी से होता है।[1] जिस समय महात्मा चक्रधर का महाराष्ट्र में आगमन हुआ तब से लेकर उनके प्रयाण-काल तक महाराष्ट्र पूरी तरह स्वाधीन था तथा परतन्त्रता के दुष्परिणामों का उसे तनिक भी अनुभव नहीं था। यह वह काल था जब महाराष्ट्र पर यादव राजाओं का राज्य था। यादव राजा स्वयं धर्मशील थे तथा वेदान्त में उनकी पूर्ण आस्था थी। ऐसी दशा में आवश्यक था कि अनेक विद्वान् पंडित राजाश्रय प्राप्त करते और वस्तुस्थिति भी यही थी। राजाओं की उदार एवं सहिष्णु प्रवृत्ति के कारण जैन लिंगायत जोगी नाथ बौद्ध आदि संप्रदायों के अनुयायी भी अपने-अपने मतों का मन-तन प्रचार कर रहे थे। ई० स० ११८८ में मुकुन्दराज द्वारा रचित 'विवेक सिन्धु' से इसी वस्तुस्थिति का पता चलता है।[2] पर राजाश्रय के कारण मुख्यत' वैदिक धर्म का ही बोलबाला था। दूसरे शब्दों में महात्मा चक्रधर के आगमन के पूर्व महाराष्ट्र में चातुर्वर्ण्य अत्यन्त विषम रूप धारण किये हुए था तथा उसकी विषमता केवल आध्यात्मिक क्षेत्र तक ही सीमित न रहकर दैनिक व्यवहार में भी व्याप्त हो चुकी थी। इस विषमता के फलस्वरूप समाज का निम्न वर्ग तथा स्त्रियाँ धर्म से वंचित रह गई थीं। तत्कालीन हेमाद्रि पंडित की 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' के 'व्रतखण्ड' में विभिन्न देवताओं की उपासना के लिए वर्ष में लगभग दो हजार व्रतों के आयोजन से पता चलता है कि इस समय अनेक देवताओं की उपासना के साथ-साथ अनेक व्रतों का पालन करना धर्म का एक आवश्यक अंग बन चुका था जो स्पष्ट रूप से अन्य वर्णों पर ब्राह्मणों की सत्ता को सिद्ध करता है। अनेक देवताओं की उपासना के कारण ही आचार में भी अनेक तत्त्व समाविष्ट हो गए थे तथा गोकुल-अष्टमी गणेश-चतुर्थी के व्रत और नवरात्र में देवी की पूजा के साथ-साथ विजया दशमी को भैंसे का बलिदान। इस प्रकार एक ही ध्येय तक पहुँचने के लिए एक साथ अनेक मार्गों का अनुशीलन हो रहा था। महात्मा चक्रधर ने इसके परिणाम को समझा और बहु देववाद के दुष्परिणाम को रोकने के लिए एकेश्वरवाद पर जोर दिया। अपने प्रतिपादन में ईश्वर-निर्मित एक सृष्टि में उन्होंने ८१ कोटि सवा लाख दस देवताओं को माना तथा उनके न्यूनाधिक सामर्थ्य के अनुसार उनके फलों को भी भिन्न-भिन्न बताया। उन्होंने इस बात पर

१ मराठी सन्तों का सामाजिक कार्य डॉ० दि० पि० कोलते पृ० १०।
२ वही, पृ ११।

अष्टांग साधनों की भी मुझे आवश्यकता नहीं, क्योंकि इनसे भव-बन्धन नहीं टूटता।)

इसी प्रकार सन्त तुकाराम भी वैकुण्ठ के सुख को नाशवान् मानते हैं—

"नको वैकुण्ठीचा वास। असे तया सुखा नाश।"[1]

(मुझे वैकुण्ठ का सुख नहीं चाहिए, ऐसे सुख का नाश होता है।)

श्रीकृष्ण को परमेश्वरावतार मानने के साथ-साथ महानुभाव पन्थ ने भागवत में वर्णित कृष्ण-लीलाओं को भी मान्यता दी है। कृष्ण और गोपियों का रास अलौकिक क्रीड़ा है तथा उसमें हिन्दी-कृष्ण-काव्य की भाँति लौकिकता का कहीं भी पुट नहीं है। इसी प्रकार महानुभाव पन्थ के सन्त-कवियों ने राधा और कृष्ण को लेकर भक्ति शृंगार के पदों से काव्य भण्डार को नहीं भरा है। अपने सिद्धान्त-निरूपण में उन्होंने प्रेमभाव को अवश्य स्वीकार किया है, पर यहाँ प्रेम का स्वरूप शुद्ध प्रेम-भाव है क्योंकि परमेश्वर स्वभावतः कृपालु है तथा वह अवतार भी भक्तों के उद्धार के लिए तथा उन्हें अपना सान्निध्य प्रदान करने के लिए ही धारण करता है। भक्तों को मोक्ष प्रदान करना उसे अत्यन्त प्रिय है जिसके लिए वह स्वयं बारम्बार साकार होता है।

"परमेश्वर निर्विकारु निराकारु असे, परिकृपावशें साकारु
साकारु होए, अवतरे, भावुकें सन्निधान दे।"[2]

(परमेश्वर निर्विकार, निराकार है, किन्तु कृपावश वह साकार होकर अवतार लेता है तथा भक्तों को अपना सान्निध्य प्रदान करता है।)

शंकराचार्य की भाँति केवल ज्ञान को ही मोक्ष का साधन न मानकर महानुभाव पन्थ के आचार्यों ने ज्ञान और भक्ति दोनों को मान्यता दी है। परमेश्वर की अनन्य-भक्ति के लिए ईश्वर, जीव देवता और प्रपंच का यथार्थ ज्ञान आवश्यक है। जो जैसा है, उसे वैसा जानना ही ज्ञान है—

"जे जैसे असे तें तैसें जाणिजे तें ज्ञान"

(जो जैसा है उसे वैसा समझना ही ज्ञान है और यही ज्ञान की सार्थकता है।)

इस प्रकार मराठी भक्ति-काव्य को महानुभाव आचार्यों की देन है—अनेक देवी देवताओं को छोड़कर केवल परमेश्वर की ही अनन्य भक्ति भाव से उपासना, विष्णु से भी श्रेष्ठ परमेश्वर के रूप कृष्ण का स्वीकार, परमेश्वर का मूल रूप में निराकार होना तथा कृपावश भक्तों के लिए साकार होना दलित और शोषित वर्ग को धर्म का अधिकार, हिंसा और मादक द्रव्यों का निषेध तथा संन्यास की आवश्यकता। इन सभी बातों का परवर्ती मराठी काव्य पर न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा है।

महानुभाव पन्थ के प्रमुख ग्रन्थ सात माने जाते हैं—१ 'वत्सहरण', २ 'शिशुपाल वध', ३ 'उद्धव गीता' ४ नरेन्द्र कवि कृत 'रुक्मिणी स्वयंवर', ५ ऋद्धपुर वर्णन, ६ सह्याद्रि वर्णन तथा ७ ज्ञान प्रबोध। इन ग्रन्थों के आधार-स्तम्भ श्रीमद्भगवद्गीता तथा भागवत होने के कारण 'वत्स हरण' 'शिशुपाल वध' तथा 'रुक्मिणी-स्वयंवर' में भक्ति शृंगार की ही बहुलता दृष्टिगोचर होती है। 'रुक्मिणी-स्वयंवर' में शृंगार रस की प्रधानता होने के कारण यह ग्रन्थ

---

१ तुकाराम गाथा नि. सा. प्रे. प्र., २१११।
२ सूत्रपाठ, हरि नारायण नेने, प्रथम सूत्र।

(सभी शास्त्र इसमें आ जाते हैं, परन्तु यह स्वयं सबसे भिन्न है।)
इसी सत्य की ओर निर्देश करता है।

महानुभाव पंथ श्रीकृष्ण का उपासक होते हुए भी वैष्णव पंथ नहीं है क्योंकि यह कृष्ण को अन्य वैष्णव-सम्प्रदायों की भाँति विष्णु का अवतार न मानकर साकार परमेश्वरावतार मानता है।

"आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन"[1]

के आधार पर ब्रह्मलोक सहित सभी लोक पुनर्जन्म लेने के लिए बाध्य हैं। तब भला विष्णु का वैकुण्ठ अविनाशी कैसे हो सकता है और विष्णु-उपासना का फल है वैकुण्ठ-प्राप्ति।

"तद्यथेह कर्मजित् लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितः लोकः क्षीयते"[2]

में भी पुण्य द्वारा प्राप्त किये हुए परलोक का क्षय माना गया है। इस प्रकार महानुभाव पन्थ के कृष्ण की कल्पना दक्षिण के वैष्णव सम्प्रदायों से प्रभावित न होकर कृष्ण-विषयक प्राचीन मान्यताओं पर आधारित है तथा उसका सीधा सम्बन्ध द्वारावती या द्वारका से है जहाँ ईसा-पूर्व लगभग दूसरी शताब्दी तक कृष्ण विष्णु के अवतार न समझे जाकर परमेश्वरावतार माने जाते थे। अतः इस मान्यता में प्राचीन परम्परा का ही निर्वाह लक्षित होता है जिसे परवर्ती सन्तों ने भी जब-तब स्वीकार किया है यद्यपि साधना के क्षेत्र में वे पूर्णरूपेण वैष्णव ही थे। सन्त रामदास के वचन—

"वैकुण्ठनाम विष्णु भुवनें। सत्य लोक नाम ब्रह्मभुवनें।
अमरावती इंद्राचें, स्थल जाणती ॥१३॥
येथें ज्या देवाचें भजन करावें। तेथें त्या देवलोकीं रहावें ॥२३॥
सुकृत आहे तवं भोगिजे सुकृत सरतांच ढकलून देती।
पतन देवते असती। जैसे तैसे ॥२६॥[3]

(विष्णुलोक का नाम वैकुण्ठ है और ब्रह्मलोक का सत्यलोक। इन्द्र का स्थान अमरावती उनसे नीचा है। यहाँ जिस देवता की भक्ति करोगे उसी के लोक में पहुँचोगे। जब तक पुण्य होगा सुखों का उपभोग करोगे। पुण्य समाप्त होते ही पुनः मृत्युलोक में आना पड़ता है परन्तु देवता जैसे थे वैसे ही रहते हैं।)

महानुभावपन्थी इसी मान्यता का समर्थन करते हैं।

सन्त एकनाथ कहते हैं—

'न लगे मुक्ति मुक्ति न लगे स्वर्गवास
मज वैकुण्ठवास देवराया।
न लगे मोक्ष याग यज्ञ साधन,
न लगे बन्धन देवें काहीं ॥[4]

(न मुझे मुक्ति चाहिए, न भुक्ति। न स्वर्ग-सुख। न वैकुण्ठ। मोक्ष-याग आदि

---

१ गीता ८-१६।
२ छांदोग्य उपनिषद्, ८-१ ६।
३ दासबोध ४ १।
४ एकनाथी गाथा, अभंग [illegible]।

अष्टांग साधनों की भी मुझे आवश्यकता नहीं, क्योंकि इनसे भव-बन्धन नहीं टूटता।)

इसी प्रकार सन्त तुकाराम भी वैकुण्ठ के सुख को नाशवान् मानते हैं—

"नको वैकुण्ठीचा वास। असे तया सुखा नाश।"[1]

(मुझे वैकुण्ठ का सुख नहीं चाहिए, ऐसे सुख का नाश होता है।)

श्रीकृष्ण को परमेश्वरावतार मानने के साथ-साथ महानुभाव पन्थ ने भागवत में वर्णित कृष्ण-लीलाओं को भी मान्यता दी है। कृष्ण और गोपियों का रास अलौकिक क्रीड़ा है तथा उसमें हिन्दी-कृष्ण-काव्य की भाँति लौकिकता का कहीं भी पुट नहीं है। इसी प्रकार महानुभाव पन्थ के सन्त-कवियों ने राधा और कृष्ण को लेकर भक्ति शृंगार के पदों से काव्य भण्डार को नहीं भरा है। अपने सिद्धान्त-निरूपण में उन्होंने प्रेमभाव को अवश्य स्वीकार किया है, पर वहाँ प्रेम का स्वरूप शुद्ध प्रेम-भाव है क्योंकि परमेश्वर स्वभावतः कृपालु है तथा वह अवतार भी भक्तों के उद्धार के लिए तथा उन्हें अपना सान्निध्य प्रदान करने के लिए ही धारण करता है। भक्तों को मोक्ष प्रदान करना उसे अत्यन्त प्रिय है जिसके लिए वह स्वयं बारम्बार साकार होता है।

"परमेश्वर निर्वेवो निराकार असे, परिकृपावशें सविवो
साकार होए, अवतरे, मानुषें सन्निधान दे।"[2]

(परमेश्वर निर्विकार निराकार है, किन्तु कृपावश वह साकार होकर अवतार लेता है तथा भक्तों को अपना सान्निध्य प्रदान करता है।)

शंकराचार्य की भाँति केवल ज्ञान को ही मोक्ष का साधन न मानकर महानुभाव पन्थ के आचार्यों ने ज्ञान और भक्ति दोनों को मान्यता दी है। परमेश्वर की अनन्य-भक्ति के लिए ईश्वर, जीव देवता और प्रपंच का यथार्थ ज्ञान आवश्यक है। जो जैसा है, उसे वैसा जानना ही ज्ञान है—

"जे जैसे असे ते तैसे जाणिजे तें ज्ञान'

(जो जैसा है उसे वैसा समझना ही ज्ञान है और यही ज्ञान की सार्थकता है।)

इस प्रकार मराठी भक्ति-काव्य को महानुभाव आचार्यों की देन है—अनेक देवी देवताओं को छोड़कर केवल परमेश्वर की ही अनन्य भक्ति भाव से उपासना, विष्णु से भी श्रेष्ठ परमेश्वर के रूप कृष्ण का स्वीकार, परमेश्वर का मूल रूप में निराकार होना तथा कृपावश भक्तों के लिए साकार होना, वर्जित और शोषित वर्ग का धर्म का अधिकार हिंसा और मादक द्रव्यों का निषेध तथा संन्यास की आवश्यकता। इन सभी बातों का परवर्ती मराठी काव्य पर न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा है।

महानुभाव पन्थ के प्रमुख ग्रन्थ सात माने जाते हैं—१ 'वत्सहरण' २ 'शिशुपाल वध' ३ 'उद्धव गीता' ४ नरेन्द्र कवि कृत 'रुक्मिणी स्वयंवर' ५ ऋद्धपुर वर्णन, ६ सह्याद्रि वर्णन तथा ७ ज्ञान प्रबोध। इन ग्रन्थों के आधार-स्तम्भ श्रीमद्भगवद्गीता तथा भागवत होने के कारण 'वत्स हरण' 'शिशुपाल वध' तथा 'रुक्मिणी-स्वयंवर' में भक्ति-शृंगार की ही बहुलता दृष्टिगोचर होती है। 'रुक्मिणी-स्वयंवर' में शृंगार रस की प्रधानता होने के कारण यह ग्रन्थ

---

१ तुकाराम गाथा, चि० सा० प्रे० न० , १११६।

२ सूत्रपाठ, हरि नारायण नेने, प्रथम सूत्र।

भक्त-कवि परब्रह्म की उपासना भगवान् वासुदेव के रूप में करते थे ।[1] उनकी भक्ति ऐकान्तिक भक्ति थी तथा उसमें मधुर भाव की प्रधानता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है । आण्डाल कोदै के पदों में तो कान्त भाव का अत्यन्त सुन्दर निरूपण हुआ है । ऋाविड्य पूजा म भक्ति निरूपण के लिए नग-नम मानवीय प्रेम के उल्लेखों के पश्चात् सर्वप्रथम आलवार भक्त-कवियों के पदों में ही मधुर भाव का सर्वप्रथम दर्शन होता है और सम्भवतः भागवत-पुराण में प्रतिपादित मधुरा-भक्ति पर भी आलवारों की मधुरा भक्ति का विशेष प्रभाव रहा है । भागवत तथा पद्मपुराणों में द्राविड़ देश के नारायणीय भक्तों का उल्लेख सम्भवतः आलवारों को लेकर ही हुआ है[2] तथा उपर्युक्त सम्भावना की पुष्टि करता है । क्यों भी आलवारों का आरम्भ ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से माना जाता है[3] तथा भागवत-पुराण का रचना काल ईसा की छठी से लेकर आठवीं शताब्दी से पहले नहीं पहुँचता ।[4]

आलवारों की मधुरा-भक्ति तथा भागवत-पुराण के रास-वर्णन के योग से ही समस्त भारत में चौदहवीं शताब्दी में समस्त शास्त्रों एवं दर्शनों का एक ओर ठेलकर कृष्ण भक्ति की प्रचण्ड धारा प्रवाहित हो उठी तथा मधुर भाव के लिए लक्ष्मी अथवा रुक्मिणी योग्य न होने के कारण राधा का प्रादुर्भाव हुआ । कृष्ण की सखी के रूप में राधा का ऐतिहासिक उल्लेख अमोघवर्ष राजा की ६८० की प्रशस्ति में मिलता है ।

भागवत में श्रीकृष्ण की रास क्रीड़ा का अत्यन्त सरस वर्णन है । इसी प्रकार बाल-क्रीड़ा-वर्णन, ऋतु-वर्णन और क्रीड़ा वेणुनाद-वर्णन, गोपी-वस्त्रहरण शरद् ऋतु-वर्णन, कृष्ण गोपी-संवाद गोपियों की प्रार्थना, गोपियों का विरह, विलाप श्रीकृष्ण-दर्शन कृष्ण द्वारा गोपियों का समाधान आदि शृंगार भक्ति के अनेक विवरण भागवत में हैं । भागवत ने शृंगार-भक्ति का आश्रय अलौकिक तत्वज्ञान के निरूपण के लिए लिया है तथा भक्ति के नौ प्रकार माने हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम् पादसेवनम् ।
अर्चनं वंदनं दास्यम् सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

नारद सूत्र में गुण-महात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दासासक्ति सख्यासक्ति कांतासक्ति, वात्सल्यासक्ति आत्म-निवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परमविरहासक्ति आदि भक्ति के ग्यारह प्रकारों में कांतासक्ति तथा परम-विरहासक्ति को भी मान्यता दी गई है तथा इसीका विशद वर्णन भागवत में हुआ है ।

इस प्रकार शृंगार भक्ति के मूल में अलौकिक तत्त्व-ज्ञान के निरूपण का ध्येय होते हुए भी सरस वर्णन-शैली तथा उसमें विरह, मिलन आसक्ति आदि मानसगत लौकिक गुणों का समावेश होने के कारण भक्ति के क्षेत्र में मधुर भाव को प्रधानता मिली जिसके परिणामस्वरूप ईसा की बारहवीं शताब्दी में दक्षिण में निम्बार्काचार्य द्वारा राधा और कृष्ण की भक्ति पर विशेष बल दिया गया तथा विष्णु स्वामी ने भी इसी भक्ति-पद्धति को स्वीकार किया । ईसा की दसवीं शताब्दी में पतनोन्मुख बौद्ध धर्म के प्रभाव में बंगाल में निर्वाण

१ गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, के० एम० मुन्शी, पृ० १७४ ।
२ भारतीय भागवत धर्म डॉ० शेखर मुकर्जी पृ० १३५ ।
३ वही, पृ० १४५-४६ १६१ ।
४ गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, के० एम० मुन्शी, पृ० १७४ ।

इतना लोकप्रिय हुआ कि परवर्ती-काल में इसकी देखा-देखी कई कवियों ने रुक्मिणी स्वयंवर लिखे। उपर्युक्त ग्रन्थों में शृंगार की प्रचुरता अवश्य रही है परन्तु वह महानुभाव पन्थ की मान्यता न होकर कवियों की व्यक्तिगत रुचि को ही सूचित करती है। उदाहरण के लिए 'शिशुपाल वध'-जैसे शृंगार-प्रधान तथा लोक-प्रिय ग्रन्थ की रचना करने के पश्चात् भास्कर भट्ट बोरीकर ने जब ग्रन्थ अपने गुरुबन्धु मामे व्यास को दिखाया तब वे कह उठे "भटो! हा ग्रन्थ निका झाला असे' परि निवृत्तीभोगा नव्हे वि हा शृंगारियाँ प्रवृत्ती जोगा झाला असे" (भटो ग्रन्थ सुन्दर बन पड़ा है पर वह निवृत्ति-मार्गानुगामी के लिए न होकर शृंगारिक प्रवृत्ति-मार्गानुगामी के योग्य है।)[१] गुरु भाई के अभिमत से कवि इतना आहत हुआ कि अगले वर्ष उसने भागवत के एकादश स्कन्ध पर 'उद्धवगीता' नामक निवृत्तिपरक टीका लिखी। शृंगार-प्रधान काव्य में भी महानुभाव कवियों ने रुक्मिणी और कृष्ण को ही अपने शृंगार का विषय बनाया है जो दाम्पत्य या कान्त-भाव पर ही आधारित है। हिन्दी भक्ति काव्य की भाँति उसमें राधा का सर्वथ अभाव है। महानुभाव कवियों द्वारा प्रवर्तित इसी परम्परा को अन्य परवर्ती साम्प्रदायिक कवियों ने भी निभाया जिसके फलस्वरूप मराठी भक्ति-काव्य में राधा और गोपियों को लेकर विशद शृंगारिक काव्य का समावेश न हो सका जैसा उत्तर भारत के भक्ति-काव्य में उपलब्ध होता है।

जयदेव की गीति-परम्परा और तैलुगु कृष्ण-गीतों का पद और भजन-साहित्य पर प्रभाव

मराठी भजन और पद-साहित्य पर जयदेव की गीति-परम्परा और तेलुगु कृष्ण-गीतों के प्रभाव का विवेचन करने से पूर्व दक्षिण और उत्तर में भक्ति के स्वरूप तथा भजन एवं पद-साहित्य की सर्जना के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों पर विचार कर लेना नितान्त आवश्यक है।

हम पहले देख चुके हैं कि ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी तक वासुदेव की उपासना के रूप में अनन्य भक्ति का प्रचलन महाराष्ट्र में विद्यमान था। ईसा की चौथी शताब्दी से संस्कृत साहित्य में भक्ति की प्रधानता अभिलक्षित होती है तथा दसवीं शताब्दी तक यह प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ती हुई दिखाई देती है।[२] दसवीं शताब्दी तमिल बंगाली मराठी कन्नड़ आदि प्रान्तीय भाषाओं का उदय-काल होने के कारण भक्ति की इस पूर्व-पीठिका का उन पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक का प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य भक्ति प्रधान साहित्य रहा है। इतना अवश्य है कि प्रत्येक प्रान्तीय भाषा में प्रान्तीय विशेषता तथा भाषानुरूप भक्ति का स्वरूप बदलता रहा। दक्षिणी साहित्य में कर्मठता मराठी साहित्य में बुद्धिवाद तथा समाजहित हिन्दी में शृंगार तथा रंगीनता और बंगला में स्वच्छन्दता इसी प्रान्तीय विशेषता को सूचित करती है।

संस्कृत के बाद परम्परागत प्राकृत भाषा में भी भक्ति की प्रधानता रही। तमिल आल्वार कवियों का साहित्य वैष्णव-भक्ति का सबसे प्राचीन प्राकृत साहित्य है। आलवार

---

१ मराठी साहित्यांतील मधुरा भक्ति, डॉ० म० न० जोशी, पृ० ८८।
२ मराठीचा वाङ्मयीन वाद, डॉ० भी० कुलकर्णी, पृ० १४१।

भक्त-कवि परब्रह्म की उपासना भगवान् वासुदेव के रूप में करते थे।[1] उनकी भक्ति ऐकांतिक भक्ति थी तथा उसमें मधुर भाव की प्रधानता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। आण्डाल कोदै के पदों में तो कान्त भाव का अत्यन्त सुन्दर निरूपण हुआ है। शांडिल्य सूत्रों में भक्ति निरूपण के लिए यत्र-तत्र मानवीय प्रेम के उल्लेखों के पश्चात् सर्वप्रथम आलवार भक्त-कवियों के पदों में ही मधुर भाव का सर्वप्रथम दर्शन होता है और सम्भवतः भागवत-पुराण में प्रतिपादित मधुरा-भक्ति पर भी आलवारों की मधुरा भक्ति का विशेष प्रभाव रहा है। भागवत तथा पद्मपुराणों में द्राविड़ देश के नारायणीय भक्तों का उल्लेख सम्भवतः आलवारों को लेकर ही हुआ है[2] तथा उपर्युक्त सम्भावना की पुष्टि करता है। वैसे भी आलवारों का आरम्भ ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से माना जाता है[3] तथा भागवत-पुराण का रचना काल ईसा की छठी से लेकर आठवीं शताब्दी से पहले नहीं पहुँचता।[4]

आलवारों की मधुरा-भक्ति तथा भागवत-पुराण के रास-वर्णन के योग से ही समस्त भारत में चौदहवीं शताब्दी में समस्त शास्त्रों एवं दर्शनों को एक ओर ठेलकर कृष्ण भक्ति की प्रचण्ड धारा प्रवाहित हो उठी तथा मधुर भाव के लिए लक्ष्मी अथवा रुक्मिणी योग्य न होने के कारण राधा का प्रादुर्भाव हुआ। कृष्ण की सखी के रूप में राधा का ऐतिहासिक उल्लेख अमोघवर्ष राजा की ६८० की प्रशस्ति में मिलता है।

भागवत में श्रीकृष्ण की रास क्रीड़ा का अत्यन्त सरस वर्णन है। इसी प्रकार बाल-क्रीड़ा-वर्णन ऋतु-वर्णन रास क्रीड़ा वेणुनाद-वर्णन, गोपी-वस्त्रहरण शरद् ऋतु-वर्णन, कृष्ण-गोपी-संवाद गोपियों की प्रार्थना, गोपियों का विरह विलाप श्रीकृष्ण-दर्शन, कृष्ण द्वारा गोपियों का समाधान आदि शृंगार भक्ति के अनेक विवरण भागवत में हैं। भागवत ने शृंगार-भक्ति का आश्रय अलौकिक तत्त्वज्ञान के निरूपण के लिए लिया है तथा भक्ति के नौ प्रकार माने हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम् पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यम् सख्यमात्मनिवेदनम्॥

नारद सूत्र में गुण-माहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति, दासासक्ति सख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति परमविरहासक्ति आदि भक्ति के ग्यारह प्रकारों में कान्तासक्ति तथा परम विरहासक्ति को भी मान्यता दी गई है तथा इसीका विशद वर्णन भागवत में हुआ है।

इस प्रकार शृंगार भक्ति के मूल में अलौकिक तत्त्व-ज्ञान के निरूपण का ध्येय होते हुए भी सरस वर्णन-शैली तथा उसमें विरह, मिलन, आसक्ति आदि भासमान लौकिक गुणों का समावेश होने के कारण भक्ति के क्षेत्र में मधुर भाव को प्रधानता मिली, जिसके परिणामस्वरूप ईसा की बारहवीं शताब्दी में दक्षिण में निम्बार्काचार्य द्वारा राधा और कृष्ण की भक्ति पर विशेष बल दिया गया तथा विष्णु स्वामी ने भी इसी भक्ति-पद्धति को स्वीकार किया। ईसा की दसवीं शताब्दी में पतनोन्मुख बौद्ध धर्म के प्रभाव में बंगाल में निर्माण

1. इम्पाक्ट एण्ड एस्स लिटरेचर, के० एम० मुन्शी, पृ० १०४।
2. मार्कांधा भागवत धर्म डॉ० मीरा मुखर्जी, पृ० १४२।
3. वही, पृ० १४२-४३, १६२।
4. इम्पाक्ट एण्ड एस्स लिटरेचर, के० एम० मुन्शी, पृ० १०४।

का एकमात्र साधन गुरु के सम्मुख शरीर समर्पण करना माना जाने लगा था तथा प्रचलित रास-लीलाओं तथा लोक-गीतों के कारण राधा और कृष्ण का प्रेम लोक-प्रिय बन चुका था।[1] इन दोनों धाराओं की पार्श्व-भूमि पर उमापति ने ग्यारहवीं और विद्यापति ने बारहवीं शताब्दी में राधा और कृष्ण को लेकर सम्भोग और विप्रलम्भ शृंगार में भक्ति का पुट देकर सुन्दर चित्र आँके तथा भक्ति के निरूपण के लिए शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध का आश्रय लेने की एक प्रथा-सी चल पड़ी। इसके पूर्व ब्रह्मानन्द की अभिव्यक्ति के लिए सबसे श्रेष्ठ सुखानन्द के रूप में मानवी शृंगार का आश्रय लिया गया था क्योंकि ब्रह्मानन्द की अनुभूति को व्यक्त करने के लिए कोई भी भाषा समर्थ नहीं है। अतः अलौकिक सुख की एक अवस्था विशेष को मरिकचित् अनुभूतिगम्य बनाने के लिए ही सम्भोगजनित मानव सुलभ सुखद अनुभूति की उपमा दी गई। जेम्स प्रैट ने भी भाषा की असमर्थता को ही धर्म में शृंगार के समावेश का कारण माना है।[2] इतना ही नहीं अपने मत की पुष्टि के लिए उसने सन्त प्लाटिनस को भी उद्धृत किया है। सन्त प्लाटिनस कहते हैं—

Those to whom this heavenly love is unknown may get some conception of it from earthly love, and what joy it is to obtain possession of what one loves most.

शृंगार के माध्यम से ब्रह्मानन्द की अनुभूति का यह प्रकार केवल भारतीय भक्ति-काव्य में ही नहीं मिलता अपितु संसार के सभी धर्मों में उसके दर्शन होते हैं। सूफी पंथ में इश्कमजाजी को (मानवी प्रेम को) इश्क हकीकी (ईश्वरी प्रेम) का एक सोपान माना गया है। सूफी पंथ की यह मान्यता भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि करती है।

आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए मानवी शृंगार को माध्यम के रूप में स्वीकार कर लेने के कारण विषय-निरूपण तथा रस-निष्पत्ति के लिए शृंगार के सभी उपादानों का प्रासंगिक चित्रण आवश्यक है इस आवश्यकता-पूर्ति के लिए शृंगारिक हाव-भावों के विशद वर्णन और जनसाधारण में आध्यात्मिक अनुभूति के अस्तित्व के अभाव के कारण परिणाम में अनुभवगम्य होने के कारण ही शृंगार, जो वस्तुतः माध्यम होता है जनसाधारण के लिए प्रधान बन जाता है और भक्ति गौण रह जाती है। मध्य-युगीन कृष्ण भक्ति-काव्य की रीतिकाल के उत्तान शृंगार-प्रधान काव्य में परिणति का यही रहस्य है।

मानवी शृंगार अथवा अध्यात्म-तत्त्व आश्रयानुकूल अनुभूतिगम्य और भाव-सहज होने के कारण रस स्थिति में आश्रय की अभिव्यक्ति का संक्षिप्त सहज तथा संगीतमय होना आवश्यक है। मध्ययुगीन पदों तथा भक्ति-गीतों की सर्जना के पीछे यही सत्य कार्य करता हुआ प्रतीत होता है। मध्य-युग का समस्त भारतीय भक्ति-काव्य स्वानुभूति पर आधारित होने के कारण संगीतात्मक है तथापि कृष्ण को लेकर शृङ्गार प्रधान भक्ति-पदों एवं गीतों के स्रष्टा के रूप में बोपाल कवि के पश्चात् ही जयदेव आते हैं परन्तु कृष्ण राधा और गोपी को लेकर शृङ्गार प्रधान भक्ति-पदों की रचना में जयदेव प्रथम सिद्ध होते हैं। जयदेव के काव्य में शृङ्गार के साथ भक्ति का सुन्दर समन्वय होते हुए भी उनका गीतगोविन्द प्रामाणिक रूप में शृङ्गार-प्रधान गीति-काव्य है। भाषा-सौष्ठव शैली की नवीनता रसनिष्पत्ति

१ गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, के० एम० मुन्शी पृ० १६८ ।
२ रेलिजस कान्शसनेस, जे० बी० प्रैट, पृ० १८–१६ ।

और भावमाधुर्य तथा विषय की विशिष्टता के साथ-साथ काव्य का विषय राधा और कृष्ण होने के कारण गीतगोविन्द अत्यन्त अल्पकाल में लोकप्रिय बना तथा शीघ्र ही समस्त भारत के भक्ति-साहित्य में उसे अनुपम स्थान मिला। भक्ति और शृङ्गार के मधुर संमिश्रण तथा मधुर संगीत के साथ-साथ कोमलकान्त पदावली के कारण रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक के सभी श्रेष्ठ कवियों पर जयदेव का प्रभाव अभिलक्षित होता है।[1] इतना ही नहीं परवर्ती साहित्य शास्त्रकारों ने अनुराग, विरह, उत्कंठा, मिलन तथा अभिसार आदि के विवेचन के आधार के रूप में जयदेव का ही उपयोग किया है। काव्य प्रकाशकार मम्मट तथा साहित्य-दर्पण कार विश्वनाथ ने जयदेव के अलंकार-वैभव पर मुग्ध होकर अपने ग्रंथों में उसके उदाहरण दिए हैं। वस्तुतः जनता को कृष्ण-गीत गाने के लिए स्फूर्ति प्रदान करने वाले काव्यों में गीत गोविन्द का सर्वप्रथम स्थान है। अनावद के शिलालेख (सन् ११४८ ई०) में गीतगोविन्द के आरम्भिक पदों का उल्लेख[2] गीतगोविन्द की लोकप्रियता ही सिद्ध नहीं करता वरन् अन्य प्रदेशों पर उसके प्रभाव को भी निर्धारित करता है। तेलुगु कृष्ण-गीतों में जयदेव की पदावली का प्रभाव स्पष्ट रूप से अभिलक्षित होता है, क्योंकि एक तो गीतगोविन्द संस्कृत की रचना थी तथा एक श्रेष्ठ भक्ति-काव्य के नाते भारत का कोई भी प्रदेश उससे अनभिज्ञ न था और दूसरे जबकि तेलुगु कृष्ण-गीतों की रचना ईसा की चौदहवीं शताब्दी के पश्चात् आरम्भ हुई थी।[3] ताल्लपाक अन्नमाचार्य (ई०स० १४२८—१५०३) ने सूर की ही भाँति कृष्ण-भक्ति से प्लावित शृङ्गारपरक हजारों पद लिखे हैं पर उनकी शृङ्गारिक रचनाओं में मादक वासना न होकर भावों की स्वाभाविक मधुरिमा है।[4] अन्नमाचार्य तेलुगु पद-साहित्य के प्रणेता माने जाते हैं। तेलुगु के कृष्ण-गीत एवं पद जयदेव की ही भाँति शृङ्गारपरक हैं। इस दृष्टि से तेलुगु-पद-साहित्य पर जयदेव का प्रभाव केवल विषय-चयन की ही दृष्टि से अभिलक्षित होता है, गीतात्मकता की दृष्टि से नहीं क्योंकि तेलुगु स्वयं ही संगीत-मधुर भाषा है तथा गहन भावानुभूति की अभिव्यक्ति संगीत द्वारा ही सम्भव हो सकती है। फिर भी यह न भूलना चाहिए कि तेलुगु कृष्ण-गीतों पर जयदेव का प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष रूप में ही दृष्टिगत होता है क्योंकि तेलुगु कृष्ण-गीतकारों का विषय वस्तुतः गीतगोविन्द का ही विषय न होकर लोक-रुचि का भी विषय था। गीतगोविन्द ने इस लोक-रुचि को काव्यबद्ध करके कृष्ण-भक्ति-परक शृङ्गारिक पदों की परम्परा चलाई। इस परम्परा-निर्वाह में ही अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में जयदेव का प्रभाव अन्तर्निहित है।

मराठी में भी जयदेव का प्रभाव शृङ्गारिक काव्य की परम्परा के रूप में ही देखा जा सकता है क्योंकि आरम्भ से ही मराठी काव्य शान्त रस प्रधान रहा है। ऐसी दशा में यत्र-तत्र शृङ्गारिक निरूपणों का समावेश जो शान्त भाव का पूरक नहीं है, प्राचीन निरूपण शैली तथा लोक-रुचि को ही चरितार्थ करता-सा प्रतीत होता है। पहले कहा गया है कि मराठी कृष्ण भक्ति-काव्य में श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी को लेकर दाम्पत्यभाव को ही प्रश्रय मिला

---

१ मराठी साहित्यांतील मधुराभक्ति, डॉ० प्र० न० जोशी, पृ० ६०।
२ आर्कियोलॉजी ऑफ गुजरात, एच० डी० संकालिया पृ० २२५।
३ तेलुगु और उसका साहित्य, हनुमच्छास्त्री 'अयाचित' पृ० ६०।
४ वही, पृ० ६६।

है। यत्र-तत्र गोपी-भाव का समावेश लोक-रुचि के समाधान के लिए ही हुआ है। समस्त मराठी काव्य में कृष्ण का रुक्मिणी-पति अथवा रुक्मिणी-वर के रूप में वर्णन[1] इस कथन की पुष्टि करता है। मराठी भक्ति-काव्य की विशालता में मधुर भाव-विषयक पदों का नगण्यप्राय समावेश भी लोक-रुचि के रूप में बाह्य प्रभाव को ही सूचित करता है। सर्वश्री चक्रधर, ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम आदि के वचनों में जो थोड़ा-सा शृङ्गार का पुट मिलता है, वह केवल तत्त्व-निरूपण के लिए ही हुआ है। इन उल्लेखों को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक में परमेश्वर और जीव-सम्बन्धी निरूपण के लिए पति और पत्नी का रूपक आता है और दूसरे भाग में कृष्ण-लीला विषयक परम्परा निर्वाह अथवा कृष्ण की गोपियों के साथ लीलाओं के उल्लेख। इन दोनों प्रकार के वर्णनों में शृंगार के स्थूल उपकरणों का शायद ही कहीं आश्रय लिया गया हो। सभी स्थलों पर भाव को ही प्रधानता दी गई है। उदाहरण के लिए ज्ञानेश्वर के निम्नलिखित अभंगों का उद्देश्य पति और पत्नी के आलिंगन का चित्र अंकित करना न होकर परमेश्वर और जीव के अद्वैत तथा दोनों के मिलन से होने वाले आनन्द का आभास करा देना मात्र है—

तिये आलिंगन वेळीं । होय आपें आप कोवळी ।
तेथ जळ जैसे जळीं, वेगळें न दिसे ॥
कां आकाशीं वायु हरपे । तेथ दोन्ही हे भाष लोपे ।
तैसें सुखचि उरे स्वरूपें । सुरतीं तिये ॥[2]

(आलिंगन के समय स्त्री अपने-आप अत्यन्त कोमल बन जाती है तथा जिस प्रकार जल जल में मिलने से एकरूप हो जाता है उसी प्रकार स्त्री अपने पति से भिन्न नहीं दिखाई देती। जिस प्रकार आकाश में व्याप्त वायु आकाश से भिन्न नहीं कही जाती तथा उसके लिए दो की भाषा का प्रयोग नहीं होता उसी प्रकार पति से आलिंगनबद्ध होते ही स्त्री का निजी अस्तित्व न रहकर सुरति के रूप में केवल आनन्द की ही अनुभूति बनी रहती है।)

ज्ञानदेव के एक दूसरे उदाहरण—

तुजविण वेल्हाळा कैं सुख सोहळा ।
रखुमादेवी वरा विठ्ठला देशी न लगे डोळा' ।

(तुम्हारे बिना कैसा सुख और कैसा मनोरंजन ! विट्ठल के बिना तो सीमा पर आँख भी नहीं लगती।)

से भी मिलन की आतुरता व्यंजित होती है विलास की उत्तेजना नहीं।

पाहे पां वल्लभाचे निरवाणें, तिया व्रजांगनांची निर्वे
अवलीळलीला काय माले । स्वरूप मकुती ॥[3]

(गोकुल की गोपिकाएँ यदि मुझे पति समझकर अपने अन्तःकरण मुझे समर्पित करने लगें तो क्या वे बिना मुक्त हुए रह जायेंगी ?)

क्योंकि—

---

१ वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर मायनर रेलिजस सिस्टम्स, भांडारकर, पृ० ८६।
२ मराठी साहित्यातील मधुराभक्ति, म० ना० जोशी पृ० ११७।
३ ज्ञानेश्वरी (कुण्ठ) ४।७५१।

घणावरी घायाचाची लागी । लोहो मिळे कां परिसाचे आंगीं ।
का ते मिळतिये प्रसंगी । सोनेंच होईल ॥[1]

(अरे, लोहे के घन से भी पारस तोड़ा जाए, तो भी पारस के स्पर्श से लोहा सोना ही बन जाएगा ।)

उपर्युक्त दोनों अभंगों से शुद्ध प्रेम ही अभिव्यंजित होता है ।

स्वामी चक्रधर ने भी अपनी अमृत वाणी में शृंगारिक वर्णनों को स्थान न देकर विषय-वृत्ति को पापमयी वृत्ति माना है । परमेश्वर को भिन्न देवी-देवताओं के क्षेत्र में भी उन्होंने विषय को केवल भावरूप माना है—

'संसारबा होइजे, तो कसौटा विखो भोगणें नव्हे'
विखो तो हावभावांचि भोगो सरे ।[2]

(शारीरिक सम्भोग तो तुच्छ सम्भोग है । सम्भोग तो हाव भावों में ही समाप्त हो जाता है ।)

नामदेव के अभंगों में शृंगारिक पदों का विपुल वर्णन मिलता है पर उसका आधार भागवत-पुराण ही रहा है ।

ऐकतांचि नाद गोकुळींचिया नारी, पाहावया हरि निघताती ।
स्तन देतां बाळें टाकिली भूमि-सी, मोकळिया केशी निघताती ॥

(वंशी की ध्वनि सुनते ही हरि के दर्शन के लिए गोपियाँ शिशुओं को दूध पिलाते-पिलाते अपने बाल बाँधे बिना ही दौड़ पड़ती हैं ।)

इस पद में वर्णित गोपियों की तन्मयता तथा भाव-दौड़ भागवत-पुराण के वर्णन[3] से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है । और फिर कृष्ण और गोपियों की केलि-क्रीड़ाओं का विपुल वर्णन करने के पश्चात् निम्नलिखित अभंग में नामदेव को बताना पड़ा है कि समस्त गोपियों का 'काम' शान्त करने पर भी कृष्ण की 'वीर्यच्युति' नहीं हुई—

जलक्रीड़ा करी जलक्रीडा पती, लाज बोलताती देव स्त्रिया ।
धन्य त्या गोपिका धन्य त्यांचें पुण्य, भोगिता ही कृष्ण पूर्ण ब्रह्म ॥
नामा म्हणे होय कामाची ते पूर्ती । नव्हे वीर्यच्युती गोविंदाची ॥[4]

(जल-क्रीड़ा में श्रीकृष्ण को रममाण देखकर देवांगनाएँ भी ललचा रही हैं । वे गोपियाँ धन्य हैं, उनका पुण्य धन्य है जो पूर्ण-ब्रह्म कृष्ण को भोग रही हैं । नामदेव कहते हैं कि गोपियों का काम तो पूर्ण होता है पर कृष्ण की वीर्यच्युति नहीं होती ।)

नामदेव की भाँति तुकाराम ने भी गोपियों के साथ कृष्ण की लीलाओं पर अभंग लिखे हैं, पर वे बहुत थोड़े और परम्परा के निर्वाह के लिए ही लिखे गए प्रतीत होते हैं क्योंकि वस्तुतः उनके आराध्य विठोबा गोपी-नायक कृष्ण न होकर वात्सल्य से परिपूर्ण मातृ रूप परमेश्वर हैं । वे कहते हैं—

---

१ ज्ञानेश्वरी (कुंटे) ९ । ९२ ।
२ हरिनारायण नेने द्वारा सम्पादित 'सूत्रपाठ' विचार, १६४ ।
३ भागवत-पुराण १० २९ ४ ११ ।
४ नामदेव गाथा (आपटे) अभंग १९१९ ।

जैसे चालो तेथे, तू माझा सांगाती
चालवीसी हाती धरोनीया ।
चालोंवाटे आम्ही तुझाचि आधार,
चालविसी भार सवे माझा ।
बोलों जातां बरळ करिसी तें नीट,
नेली लाज धीट केलो देवा ॥[1]

(जहाँ भी जाता हूँ तुम मेरे साथ होते हो और मेरा हाथ पकड़कर तुम मुझे चलाते रहते हो । मैं अपना मार्ग-यापन तुम्हारे ही सहारे करता हूँ । अपना समस्त भार तुम पर छोड़कर चलने का मुझे अभ्यास-सा हो गया है । मेरी अनर्गल बातों को तुम्हीं सुधारते रहते हो और मेरे संकोच को दूर करके तुम्हींने मुझे ढीठ बनाया है ।)

इस विवेचन से उपर्युक्त कथन की सम्पुष्टि होती है कि मराठी संत-कवियों की कविता में जहाँ कहीं भी सम्भोग या विप्रलंभ शृंगार का उल्लेख हुआ है, वहाँ उसका स्वरूप लौकिक न होकर अधिकतः आध्यात्मिक ही रहा है । दूसरी स्मरणीय बात यह है कि नामदेव तुकाराम आदि प्राचीन मराठी संत-कवि निम्न जातियों में उत्पन्न हुए थे तथा संस्कारवश उन्हें अपने काव्य में निम्न जातियों में प्रचलित कृष्ण की रास-लीलाओं को स्थान देना पड़ा । इस परम्परा-निर्वाह तथा शृंगारपरक वर्णनों में विद्यमान उनकी तटस्थता के कारण ही उनके शृंगारिक पद स्वानुभूति पर आधारित नहीं हैं और न ही उन्होंने रति के उपादानों अथवा संचारी आदि भावों का ही कोई वर्णन किया है जैसा कि जयदेव, विद्यापति आदि में मिलता है । संक्षेप में उनकी पहुँच लौकिकता से अलौकिकता की ओर अभिलक्षित होती है जबकि जयदेव विद्यापति आदि ने अलौकिक का आधार लौकिक के लिए ग्रहण किया है । जयदेव कहते हैं—

त्याम प्राप्य मयि स्वयंवरपरां क्षीरोदतीरोदरे ।
शंके सुन्दरि ! कालकूटमपिबन्मूढो मृडानीपतिः ॥
इत्थं पूर्वकथाभिरन्यमनसो विक्षिप्य वासोंचलं ।
राधायाः स्तनकोरकोपरिचलन्नेत्रो हरिः पातु वः ॥[2]

इन पंक्तियों से यदि राधा और कृष्ण के नामों को हटा दिया जाए तो ये एक उच्च कोटि का शृंगार-काव्य कही जा सकती हैं । इन कवियों के शृंगारिक वर्णनों की मार्मिकता तथा चित्रण भी स्वानुभूत होने के कारण ये भक्ति की अपेक्षा मानवी शृंगार के ही अधिक द्योतक हैं । इस दृष्टि से मराठी सन्त-कवियों पर जयदेव का यत्किंचित प्रभाव भी दृष्टिगत नहीं होता । परम्परा निर्वाह में तेलुगु, कर्नाटक तमिळ आदि कृष्ण-गीतों का अवश्य कुछ प्रभाव रहा है । लोकोक्ति है—

'भक्ति द्राविड ऊपजी लाये रामानन्द'

कृष्ण-भक्ति का प्रचार कर्नाटक के कवियों ने 'रगळे (भाव-गीत) गाकर किया है तथा मराठी का कृष्ण-लीला-विषयक सभी परवर्ती काव्य गीतों के रूप में ही निर्मित हुआ

१ तुकाराम का गाथा (देवनागर कृत) अभंग १६२६ ।
२ गीतगोविन्द १२ ५. श्रीमन्मथ संदीपन

है। तेलुगु साहित्य संगीत-प्रधान साहित्य रहा है। इतना ही नहीं आन्ध्र प्रदेश दक्षिणी संगीत-पद्धति का उत्पत्ति-स्रोत माना जाता है तथा तेलुगु का कृष्ण भक्ति-काव्य सम्पूर्णतः गीतात्मक है। अतः आन्ध्र के साथ निकट सम्बन्ध होने के कारण मराठी काव्य पर भी तेलुगु की गीतात्मकता, शब्द क्रम तथा कलेवर का निश्चित रूप से प्रभाव दृष्टिगत होता है तथा यह विषय स्वतन्त्र गवेषणा की अपेक्षा रखता है।

लोक-गीतों का मराठी कृष्ण-काव्य पर प्रभाव

हमारा जीवन सदा से संगीतमय रहा है। प्रत्येक उत्सव पर्व और त्यौहार के अवसर पर समयोचित गीत गाकर मनोरंजन करना हमारे जीवन का एक आवश्यक अंग है। यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक युग में भी इन पर्वों के अवसर पर मनोहर गाथाओं के गाने का निर्देश वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। मैत्रायणी संहिता में विवाह के अवसर पर 'गाथा' गाने की विधि का उल्लेख है।[1] वाल्मीकीय रामायण में राम-जन्म के समय तथा श्रीमद्भागवत में कृष्ण-जन्म के अवसर पर स्त्रियों द्वारा गीत गाने का स्पष्ट वर्णन मिलता है।

वैदिक साहित्य में जिन गाथाओं का उल्लेख स्थान-स्थान पर हुआ है वे ही हमारे लोक-गीतों का पूर्व रूप प्रतीत होती हैं। 'गाथा' का अर्थ है पद्य या गीत। इसी अर्थ में गाथा शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में हुआ है।[2] गाथाओं की इस परम्परा का निर्वाह महाभारत-काल में भी हुआ है। महाभारत के आदिपर्व में दुष्यन्त के पुत्र भरत के सम्बन्ध में अनेक गाथाएँ मिलती हैं जो अत्यन्त प्राचीन जान पड़ती हैं। वैदिक गाथाओं के समान ही अवेस्ता में भी कई प्राचीन गाथाएँ उपलब्ध होती हैं।[3] पालि भाषा में लिखी हुई गाथाओं में तत्कालीन विख्यात लौकिक कहानियों का सारांश प्रस्तुत किया गया है। बौद्धों की जातक-कथाएँ भी गाथाओं का ही एक अन्य रूप हैं। इससे प्रतीत होता है कि भारतीय लोक-गीतों का स्वरूप चाहे जो रहा हो उनका प्रचलन बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। सच तो यह है कि आरम्भ से ही भारतीय संस्कृति दो विभिन्न धाराओं में प्रवाहित होती चली आई है। शिक्षित वर्ग में वह वेद, उपनिषद् आदि के रूप में प्रवाहित हुई है और अशिक्षित वर्ग में लोक-कथाओं और लोक-गीतों के रूप में।[4] इसीलिए आचार्य पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक-गीतों को आर्येतर सभ्यता के वेद कहा है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि वे लोक-गीतों को सभ्य-वर्गी साहित्य की श्रेणी से पृथक कर के यह कहना चाहते हैं कि लोक-गीत-साहित्य अमर और अनादि है।[5] लोक-गीत जीवन से उद्भूत होने के कारण उनमें उद्दाम वासनाओं के चित्र कहीं-कहीं अश्लीलता तक पहुँच गए हैं परन्तु जीवन की सम्पूर्णता में काम का अस्तित्व होने के कारण उन्हें अश्लील नहीं कहा जा सकता। ये गीत जीवन की विभिन्न अनुभूतियों से उद्भूत होने के कारण ही समाज के सभी ऊँच-नीच वर्गों में समान भाव से पाए जाते हैं तथा विभिन्न प्रदेशों में एक साथ ये चालू रहते हैं।

---

१ मैत्रायणी संहिता ३ ७-३।
२ ऋग्वेद ८. ३२ १।
३ देखिए 'कल्पतरु' त्रैमासिक में कृष्णदेव उपाध्याय का लोकगीतों पर लेख।
४ ए स्टडी ऑफ़ ओरिएन्टल फ़ोकलोर, कु० [illegible], पृ० १६।
५ भारतीय साहित्य, वर्ष १, पृ० २६।

सार्वजनिक सम्पत्ति होने के कारण उनका प्रभाव-क्षेत्र सीमित नहीं होता। यदि अन्य विवाह आदि विषयक अन्तरप्रान्तीय गीतों का अध्ययन किया जाए, तो उनमें साहस्य और समानता ही अधिक मिलेगी। इतना अवश्य है कि संचरणशीलता के कारण ये गीत देश-काल के अनुरूप अपना परिधान बदल लेते हैं और उन्हें पहचानना कठिन हो जाता है। यह स्थानीय प्रभाव ही उन्हें भिन्न संज्ञा प्रदान करता है। लोक-गीतों का जन-जीवन से सीधा सम्बन्ध होने के कारण उनमें जीवन की समस्त अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है। मुक्त रित जीवन के ये स्वर कभी तीखे कभी अट्टहासपूर्ण तो कभी कोमल, कभी विवेकशील तो कभी चीत्कारपूर्ण होकर गूँज उठते हैं। इन गीतों में ऐहिक जीवन की अनुभूतियों के साथ साथ जनता-जनार्दन की धर्म भावना तथा लोक-नायकों के चरित्रों की भी अभिव्यक्ति होती रही है। भारत के लगभग सभी प्रदेशों के लोक-गीतों में राम और कृष्ण अत्यन्त प्राचीन समय से लोक-जीवन के आदर्श रहे हैं। अतः हमारे लोक-गीतों में एक ओर धर्म की पुनीत भावना अभिव्यक्त हुई है तो दूसरी ओर उद्दाम वासनाएँ। जीवन के विविध प्रसंगों और प्रकृति की परिवर्तनशील ऋतुओं को लेकर अनेक लोक-गीतों का निर्माण हुआ है। इनमें से कुछ लोक-गीत जो कृष्ण-काव्य से सम्बन्ध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं वे हैं—होली झूला रसिया कजरी बारहमासा लावणी गवलणी विरहिणी दधिकाला। इनमें से होली झूला रसिया कजरी और बारहमासा आदि का प्रचलन उत्तर भारत में है और लावणी, गवलणी, विरहिणी और दधिकाला का महाराष्ट्र में।

लावणी की उत्पत्ति कई विद्वान् पेशवाकालीन कवियों के अपरिमित कल्पना-वैभव तथा भाषा-शिल्प से मानते हैं किन्तु यह मत युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता क्योंकि पेशवा काल से बहुत पहले लावणी लोक-गीत का प्रचलन महाराष्ट्र की ब्राह्मण अहीर तथा चमार जातियों में था। ये लोकगीत खेतों में चावल के पौधे लगाते समय गाये जाते थे इसीलिए इनका नाम 'लावणी' पड़ा। आज भी छोटा नागपुर, छत्तीसगढ़ आदि भागों में ये गीत चावल के पौधे लगाते समय बड़ी भावभंगी से गाए जाते हैं। ये गीत कुछ खास व्यक्ति ही गाते हैं और शेष स्त्री-पुरुष केवल सुर-में-सुर मिलाकर उनका साथ देते हैं। ये गीत कथा प्रधान होते हैं तथा इनका स्वरूप भी घरेलू-सा सरल और स्वाभाविक होता है। लावणी लोक-गीतों का यह मूल रूप पेशवाकालीन 'शाहिरी' काव्य से सर्वथा भिन्न है। इन गीतों के निश्चित स्वरूप का पता लगाने के लिए पिछले कई वर्षों से प्रयत्न हो रहा है और जब तक पर्याप्त शोध-कार्य नहीं होता तब तक इनकी कथा-वस्तु के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना अनुचित होगा। इतना अवश्य है कि महाराष्ट्र में स्वराज्य की स्थापना होते ही पराक्रम के साथ वैभव की भी वृद्धि होने लगी और शिवाजीकालीन सीधे सरल और पद सदृश 'पोवाडा' काव्य-प्रकार को पीछे छोड़कर वीर-श्री और शृंगार से युक्त लावणी-गीतों की नई परम्परा चल पड़ी। ये शृंगार रस प्रधान लावणी-गीत महाराष्ट्र में अत्यन्त लोक-प्रिय हुए हैं। कई लावणी-गीतों में गीतों का वर्ण्य-विषय राधा और कृष्ण का विलास है। यथा,

'होऊनी वेळतो हरी करवि राधा नट आपण नटी'
(स्वयं नटी बनकर और राधा को नट बनाकर कृष्ण होली खेल रहे हैं।)

रामजोशी प्रभाकर, होनाजी आदि लावणीकारों ने राधा-कृष्ण-प्रेम तथा गोप गोपियों के विलास को लेकर कई लावणी-गीत लिखे हैं। अनन्तफन्दी के बहुचर्चित लावणी गीत का विषय यद्यपि कृष्ण-गोपी-प्रेम ही है फिर भी उसमें उद्दाम लौकिक शृंगार का ही मादक वर्णन हुआ है। परशुराम के लावणी गीतों में राधा और कृष्ण के विलास-वर्णन पर अध्यात्म का रंग चढ़ाने का प्रयत्न भी दिखाई देता है। प्रभाकर के कई लावणी-गीतों के नायक स्वयं बाजीराव पेशवा थे। उनका विलास-वर्णन करते समय कवि ने उन्हें कृष्ण बना डाला है।

गवळणी का अर्थ मराठी में 'ग्वालिनें' होता है। गवळण या 'गौळण' मराठी का वह लोक-गीत है जिसमें गोपियों के कृष्ण प्रेम की अभिव्यंजना हुई है। महाराष्ट्र में इन लोक-गीतों की लोकप्रियता के कारण ही सम्भवतः मराठी सन्त-कवियों ने 'गौळण' शीर्षक के अन्तर्गत गोपियों के कृष्ण के प्रति प्रेम का चित्रित किया है। नामदेव एकनाथ और तुकाराम के 'गौळणी' अभंगों में कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं और गोपियों के विरह की अत्यन्त मनोहारी अभिव्यंजना हुई है। अपनी सरलता और स्वाभाविकता के कारण ही इन सन्तों के ये 'गौळणी' अभंग महाराष्ट्र में अत्यन्त लोकप्रिय हुए हैं। गोपियों के कृष्ण-प्रेम की कितनी सरल और प्रभावपूर्ण अभिव्यंजना एकनाथ के निम्नलिखित 'गौळण' में हुई है—

आजी मी कांही कृष्ण नाहीं आला ।
म्हणोनी खेद करी गौळणी अस्ता ॥
काय हो ऐसें देहीं लागला जो चाळा ।
कां रे न येसी बाळा नंदाचिया ॥
काय देवा नवसीं नवसूं ।
कवणा पुसों मार्ग पुसूं ॥
कै भेटेल हा हृषिकेशु ।
म्हणौनि मन बाहुले पवासु ॥[1]

(भावार्थ है शाम को वन से लौटने में कृष्ण को देर हो जाती है। गोपियाँ चिन्तित हैं। प्रस्तुत अभंग में गोपियों की मनोदशा का सुन्दर चित्रण हुआ है। कवि कहता है कि अभी तक कृष्ण को न आता देखकर गोपियाँ दुखी हो रही हैं। वे मन-ही-मन कृष्ण से अनुनय विनय करती हैं और नन्द-नन्दन को बुलाती रहती हैं। कभी उनके मन में किसी देवी-देवता की मानता करने का विचार आता है तो कभी किसी गुरु से मार्ग पूछने का। चाह है किसी भी उपाय से क्यों न हो कृष्ण शीघ्र ही घर वापस आ जाएँ। उनके न आने से गोपियों का मन अत्यन्त उदास हो रहा है।)

विरहिणी अथवा विराणी गीतों में कृष्ण के वियोग में गोपियों की मनोव्यथा का चित्रण मिलता है। विराणी लोक-गीत महाराष्ट्र के श्रम-जीवी निम्न-वर्ग में अत्यन्त लोकप्रिय हैं। इन लोकगीतों का सामान्य जनता में प्रचार होने के कारण ही सम्भवतः मराठी सन्त कवियों ने, अल्प संख्या में ही क्यों न हो 'विरहिणी' पदों की रचना की है। सन्त एकनाथ के 'विरहिणी' अभंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

---

१ एकनाथी अभंग गाथा (धावडे) पृ० १६५।

दहिकाला अथवा गोपालकाला महाराष्ट्र का वह सार्वजनिक उत्सव है जिसका सीधा सम्बन्ध बाल-कृष्ण की लीला से है। इसका आयोजन जन्माष्टमी के दूसरे दिन होता है। एक हाँडी में दही मक्का की खीलें जीरा आदि मिलाकर उसे किसी सार्वजनिक स्थान में बहुत ऊँचे पर लटका दिया जाता है। उस हाँडी तक पहुँचने के लिए किसी अन्य साधन का निषेध होता है। बस बालकों को एक-दूसरे के कन्धे पर चढ़कर ही उस तक पहुँचना होता है। अत बस्ती के बालक एक-दूसरे के कन्धे पर इस प्रकार खड़े होने की व्यवस्था करते हैं जिससे किसी अन्य सहारे के बिना सबसे ऊपर वाला बालक हाँडी तक पहुँच जाए। जो बालक इस व्यूह-रचना के सहारे हाँडी तक पहुँचने में सफल होता है वही हाँडी तोड़ता है। तत्पश्चात् हाँडी की सामग्री सभी आबाल-वृद्ध-वनिता प्रसाद रूप में ग्रहण करते हैं। महाराष्ट्र में इसकी प्रतियोगिताएँ भी होती हैं। स्पष्ट ही इस खेल का सम्बन्ध कृष्ण की गोरस-चोरी से है। इसका प्रचलन महाराष्ट्र में कब से है यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता किन्तु कृष्ण-लीलाओं से सम्बन्धित यह खेल महाराष्ट्र में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। सच तो यह है कि केवल महाराष्ट्र में ही नहीं अपितु समस्त भारत में कृष्ण-लीलाओं का इतना प्रभाव पड़ा है कि सर्वत्र इन लीलाओं से सम्बन्धित पर्वों खेलों नृत्यों आदि का प्रचलन है। प्राचीन मराठी सन्त-कवियों ने गौळणी विरहणी आदि कतिपय प्रसंगों में कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं को जो थोड़ा-बहुत स्थान दिया है, वह भी सम्भवत लोक-परम्परा का ही परिणाम है। यह परम्परा महाराष्ट्र मे अवश्य ही बलवती रही होगी क्योंकि हालसातवाहन की प्राकृत 'गाथा सप्तशती' में राधा का सर्वप्रथम उल्लेख उपलब्ध होता है और विद्वानों की धारणा है कि गाथा सप्तशती की रचना महाराष्ट्र में ईसा-पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी में हुई थी तथा उसमें महाराष्ट्र का जीवन ही चित्रित है।[1]

---

१ [illegible], अंक [illegible] 'प्राचीन मराठीतील [illegible] वाङ्मय, [illegible] टीका', प्रो म रा [illegible]।

अध्याय-३

हिन्दी-कृष्ण काव्य की ऐतिहासिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

हिन्दी-कृष्ण-काव्य की पृष्ठभूमि मराठी कृष्ण-काव्य की पृष्ठभूमि से सर्वथा भिन्न रही है। पिछले अध्याय में देखा गया है कि मराठी कृष्ण-काव्य का उन्मेष स्वतन्त्र वातावरण में हुआ था। उसके उद्रेक में राजनीतिक परिस्थितियों का उतना हाथ नहीं रहा है जितना धार्मिक अथवा सामाजिक परिस्थितियों का। महाराष्ट्र में भक्ति के उदय के पीछे प्राचीन वासुदेव भक्ति की परम्परा स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है यद्यपि लोक-कल्याण के लिए विभिन्न कालों की आवश्यकतानुसार उसका स्वरूप न्यूनाधिक मात्रा में बदलता रहा है। कालक्रमानुसार यह रूप-परिवर्तन होते हुए भी भक्ति का मूल आधार गीता ही रहा है यद्यपि लोक-रुचि को दृष्टि में रखते हुए भागवत-पुराण से भी बहुत-कुछ प्रेरणा ली गई है। पर हिन्दी भक्ति-काव्य की सर्जना के लिए कुछ विशिष्ट परिस्थितियाँ उत्तरदायी रही है। उत्तर भारत में भक्ति का आन्दोलन स्थानीय परम्परा का कालानुकूल निर्वाह न होकर पूर्ण रूप से काल-विशेष की आवश्यकता प्रतीत होता है।

हिन्दी-भक्ति-काल क पूर्व आदिकाल में वीर और शृंगार रस-प्रधान-काव्य का युग था। इसीको वीर-गाथा-काल भी कहते हैं। समस्त वीर-काव्य की रचना हिन्दू राजाओं की छत्रछाया में होकर भी उसमें भक्ति का अभाव यह सिद्ध करता है कि उत्तर भारत में उस समय जनता भक्ति की ओर उतनी उन्मुख नहीं थी जितनी वीर और शृंगार की ओर। वीरगाथा-काव्य की परिस्थितियों पर विचार करते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने वीर-काव्य की सर्जना के लिए राजाश्रय को एक कारण माना है।[1] और किसी हद तक यह सत्य भी है, फिर भी यह कारण तत्कालीन वस्तुस्थिति पर पूर्ण प्रकाश नहीं डालता। हिन्दू राजाओं की युद्ध तथा शृंगारप्रियता अवश्य ही वीरगाथा-काल के साहित्य की मूल प्रेरणा रही है पर उसमें भक्ति अथवा धार्मिक साहित्य का अभाव इस बात को सूचित करता है कि उस समय धर्म के विषय में हिन्दू राजाओं का न तो कोई विशिष्ट दृष्टिकोण था और न ही विशेष रुचि। सम्भवतः धर्म एक रूढ़ि मात्र बना हुआ था, जिसका पालन आत्मिक आवश्यकता न होकर दिनचर्या का एक साधारण अंग बन गया था। ऐसा न होता तो वीर-काव्य के साथ धार्मिक काव्य की भी प्रचुर मात्रा में सर्जना हुई होती। यह मान लेने पर भी कि वीर गाथा काल के लगभग सभी कवि राजकवि थे तथा इस दृष्टि से उनके काव्य में राजाओं से

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ११।

समन्वित शृंगार, युद्ध राज्यप्रशंसा आदि तत्त्वों का उदार समावेश आवश्यक था, इन कवियों का अपना निजी व्यक्तित्व भी था और इस नाते उनकी वाणी में तत्कालीन सामाजिक दशा की अभिव्यक्ति एक मानवीय आवश्यकता थी। इस आवश्यकता-पूर्ति का अभाव क्या यह नहीं सूचित करता कि उस समय लोक में धर्म के विषय में कोई विशेष जागृति विद्यमान नहीं थी। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि हिन्दी निर्गुण काव्य धारा के पूर्व जो भी अपभ्रंश का धार्मिक काव्य उपलब्ध होता है यह मुख्यतः जैन सिद्ध और नाथ साधुओं द्वारा रचा गया है।[1] उसका मुख्य उद्देश्य अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना था। इन रचनाओं की सर्जना तथा राज-कवियों की धार्मिक काव्य-रचना के प्रति उदासीनता स्पष्ट रूप से इस बात को सूचित करती है कि उत्तर भारत में प्राचीन वैदिक परम्परा लोक में निष्प्राण-सी होने लगी थी तथा धार्मिक चैतन्य नगण्य। उत्तर भारत की इस धार्मिक पार्श्वभूमि के कारण ही ईसा की दसवीं शताब्दी के लगभग दक्षिण से उमड़ी हुई भक्ति-धारा उत्तरी भारत को व्याप्त कर सकी।

हिन्दी साहित्य के भक्ति-काल की पूर्व परिस्थितियों पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं[2]— देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उनके सामने ही उनके देव-मन्दिर गिराये जाते थे देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गए। इतनी भारी राजनीतिक उलट-फेर के कारण हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था? अब धार्मिक स्थिति देखिए। आदिकाल के अन्तर्गत यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार वज्रयानी, सिद्ध, कापालिक आदि देश के पूर्वी भागों में और नाथपंथी जोगी पश्चिमी भागों में रमते चले आ रहे थे। इसी बात से इसका अनुमान हो सकता है कि सामान्य जनता की धर्म-भावना कितनी दबती जा रही थी। उसका हृदय धर्म से कितनी दूर हटता चला जा रहा था हिन्दी साहित्य के आदि-काल में कर्म तो अर्थ-शून्य विधि-विधान तीर्थाटन और पर्व-स्नान इत्यादि के संकुचित घेरे में पहले से बहुत-कुछ बद्ध चला आता था। धर्म की भावात्मक अनुभूति या भक्ति, जिसका सूत्रपात महाभारत-काल में और विस्तृत प्रवर्तन पुराण-काल में हुआ था कभी कहीं दबती कभी कहीं उभरती किसी प्रकार चली भर आ रही थी।

उपर्युक्त आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-भक्ति-काव्य की सर्जना के लिए मूल कारण उत्तरी और पश्चिमी भारत में मुसलमानी राज्य की प्रतिष्ठापना को माना है तथा तत्कालीन धार्मिक अवस्था को उसमें सहायक। पर वस्तुस्थिति इससे ठीक विपरीत प्रतीत होती है। मुसलमानी राजसत्ता की प्रतिष्ठापना का परिणाम

---

१ हिन्दी साहित्य का आदि-काल डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ११।
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ० ० ०

केवल गोस्वामी तुलसीदास की काव्य-सृष्टि में ही दृष्टिगत होता है, उससे पहले नहीं। उससे पहले का साहित्य आवश्यक रूप से तत्कालीन धार्मिक मान्यताओं की प्रतिक्रिया के रूप में ही उद्भूत हुआ है। विशेषतः निर्गुण अथवा ज्ञान-मार्गी शाखा का तत्त्वज्ञान तत्कालीन वज्रयान के महासुखवाद तथा योग-तन्त्र आदि मद्य और स्त्री-विषयक साधनों की ही प्रतिक्रिया थी।

बौद्ध धर्म के तांत्रिक रूप धारण करते ही उसमें अनेक बोधिसत्वों का समावेश हो गया। वज्रयान में महासुखवाद के अन्तर्गत ब्रह्मानन्द रति-सुख का समकक्ष बन गया और देवताओं की उनकी शक्तियों-सहित नग्न मूर्तियों को धार्मिक क्षेत्र में मान्यता मिली। ये मूर्तियाँ सम्भोग की अश्लील मुद्राओं में बनने लगीं तथा 'गुह्य समाज' या 'श्रीसमाज' की स्थापना हुई। वज्रयानियों एवं कापालिकों की धर्म-साधना का स्त्री-संग तथा मद्य-सेवन एक आवश्यक अंग बन गया यहाँ तक कि कुलीन स्त्रियों की सत्य रक्षा एक समस्या-सी बन गई।[1] मुसलमानों के भारत में आने के समय लगभग समस्त उत्तरापथ में (विशेषतः पूर्वी विभाग में) धर्म का यही रूप जोर पकड़े हुए था। इस धार्मिक दुराचार के परिणामस्वरूप ही स्वाभाविक चेतना के रूप में हिन्दी की ज्ञानाश्रयी शाखा तथा तत्पश्चात् भक्ति-मार्ग का उदय हुआ। मुसलमानी राज्य की स्थापना तथा इस्लाम का प्रचार इस दिशा में केवल गौण रूप से ही उत्तरदायी रहे हैं। इस प्रकार ईसा की दसवीं शताब्दी के लगभग दक्षिण में उद्भूत भक्ति-धारा में अवगाहन का उत्तर भारत पूर्ण रूप से अधिकारी था। स्मरण रखने की बात है कि दक्षिण का भक्ति-स्रोत अपने मूल रूप में कृष्णपरक था, परन्तु उत्तर में स्वामी रामानन्द द्वारा राम भक्ति का प्रचार सम्भवतः उत्तर भारत की राजनीतिक परिस्थिति के कारण ही हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि गोस्वामी तुलसीदास की राम विषयक कल्पनाओं ने स्वामी रामानन्द के अभीष्ट को पूर्ण किया। इस प्रकार उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलन में यदि मुसलमानी राज्य की स्थापना कहीं भी अप्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी रही है तो वह केवल राम की उपासना की प्रस्थापना में।

उत्तर भारत तथा महाराष्ट्र की कृष्ण भक्ति का उद्गम-स्रोत यद्यपि दक्षिण का ही भक्ति-आन्दोलन रहा है तथापि वासुदेव-सम्प्रदाय की परम्परा के कारण महाराष्ट्र में कृष्ण भक्ति ने जो स्वरूप धारण किया वह उत्तर भारत की कृष्ण-भक्ति से बहुत-कुछ भिन्न है। कृष्ण का योगेश्वर, लोकनायक, महाभारत के प्रणेता गीता का दिव्य संदेश देने वाला तथा बाल-रूप मराठी कविता का प्राण है। अतः मराठी कविता में सर्वत्र दास्य और वात्सल्य-भावों की ही प्रधानता है जबकि हिन्दी-कविता का झुकाव दास्य और वात्सल्य की अपेक्षा कान्ता या मधुर भाव तथा सख्य की ओर ही अधिक है। दूसरे शब्दों में, मराठी कृष्ण काव्य का अभीष्ट लोक-हित है जबकि हिन्दी-कृष्ण-काव्य का लोकरंजन।[2] यही कारण है कि हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों ने भागवत के आधार पर कृष्ण की रास-लीलाओं से ही अधिक प्रेरणा ली है।

हिन्दी-कृष्ण-काव्य के इस विशिष्ट दृष्टिकोण का कारण पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने वल्लभाचार्य के पुष्टि-मार्ग को माना है।[3] धार्मिक सिद्धान्तों के अनुशीलन की दृष्टि से यह

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १०।
२ वही, पृ० १२८।
३ वही, पृ० १२९।

सम्बन्धित शृंगार, युद्ध राज्यप्रशंसा आदि तत्त्वों का उदार समावेश आवश्यक था, इन कवियों का अपना निजी व्यक्तित्व भी था और इस नाते उनकी वाणी में तत्कालीन सामाजिक दशा की अभिव्यक्ति एक मानवीय आवश्यकता थी। इस आवश्यकता-पूर्ति का अभाव क्या यह नहीं सूचित करता कि उस समय लोक में धर्म के विषय में कोई विशेष जागृति विद्यमान नहीं थी। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि हिन्दी निर्गुण काव्य धारा के पूर्व जो भी अपभ्रंश का धार्मिक काव्य उपलब्ध होता है वह मुख्यतः जैन सिद्ध और नाथ साधुओं द्वारा रचा गया है।[1] उसका मुख्य उद्देश्य अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना था। इन रचनाओं की सर्जना तथा राज-कवियों की धार्मिक काव्य-रचना के प्रति उदासीनता स्पष्ट रूप से इस बात को सूचित करती है कि उत्तर भारत में प्राचीन वैदिक परम्परा लोक में निष्प्राण-सी होने लगी थी तथा धार्मिक चैतन्य नगण्य। उत्तर भारत की इस धार्मिक पार्श्वभूमि के कारण ही ईसा की दसवीं शताब्दी के लगभग दक्षिण से उमड़ी हुई भक्ति-धारा उत्तरी भारत को व्याप्त कर सकी।

हिन्दी साहित्य के भक्ति-काल की पूर्व परिस्थितियों पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं[2]— 'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उनके सामने ही उनके देव मन्दिर गिराये जाते थे देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुसलिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गए। इतनी भारी राजनीतिक उलट फेर के कारण हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था? अब धार्मिक स्थिति देखिए। आदिकाल के अन्तर्गत यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार वज्रयानी, सिद्ध, कापालिक आदि देश के पूर्वी भागों में और नाथपंथी जोगी पश्चिमी भागों में रमते चले आ रहे थे। इसी बात से इसका अनुमान हो सकता है कि सामान्य जनता की धर्म भावना कितनी दबती जा रही थी। उसका हृदय धर्म से कितनी दूर हटता चला जा रहा था हिन्दी साहित्य के आदि-काल में धर्म तो अर्थ-शून्य विधि-विधान तीर्थाटन और पर्व-स्नान इत्यादि के संकुचित घेरे में पहले से बहुत-कुछ बद्ध चला आता था। धर्म की भावात्मक अनुभूति या भक्ति, जिसका सूत्रपात महाभारत-काल में और विस्तृत प्रवर्तन पुराण-काल में हुआ था, कभी कहीं दबती कभी कहीं उभरती किसी प्रकार चली भर आ रही थी।

उपर्युक्त आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-भक्ति-काव्य की सर्जना के लिए मुख्य कारण उत्तरी और पश्चिमी भारत में मुसलमानी राज्य की प्रतिष्ठापना को माना है तथा तत्कालीन धार्मिक अवस्था को उसमें सहायक। पर वस्तु स्थिति इससे ठीक विपरीत प्रतीत होती है। मुसलमानी राजसत्ता की प्रतिष्ठापना का परिणाम

१ हिन्दी साहित्य का आदि-काल, डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ॰ ११।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ॰ ८।

सगुण सत्ता को भी स्वीकार किया है एवं विष्णु-परक भक्ति के कई स्तोत्र लिखे हैं[1] तथापि

रामानुजाचार्य निम्बार्काचार्य तथा वल्लभाचार्य

भक्ति को उन्होंने केवल चित्त-शुद्धि का साधन माना है। भक्ति के प्रचार एवं अनुशीलन के लिए स्वस्वरूपानुसन्धान (स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते' विवेक चूड़ामणि) आवश्यक है। उपास्योपासक भाव के बिना भक्ति सम्भव नहीं पर उपास्योपासक का यह भाव अद्वैत का विरोधी है इसलिए शांकर मत में परमेश्वर और भक्त के सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता।[2] अतः उपासना के लिए भक्ति का कोई महत्व नहीं। सगुणोपासना अथवा प्रतीकोपासना को मान्य करते हुए भी[3] इस प्रकार की उपासना का फल उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति न मानकर ब्रह्मलोक प्राप्ति ही माना है।[4] ब्रह्मलोक में जीव और परमेश्वर के भेद को मानते हुए उस अवस्था से उन्होंने केवल क्रम-मुक्ति की प्राप्ति को स्वीकार किया है सद्योमुक्ति की प्राप्ति को नहीं। मोक्ष तो केवल एक ज्ञान से ही मिल सकता है (ज्ञानादेव तु कैवल्यं) अतः उपासना का सर्वश्रेष्ठ साधन ज्ञान है और ज्ञान है अद्वैत प्रतीति। ज्ञानावस्था में कर्म का कोई स्थान नहीं होता। उसकी महत्ता केवल चित्त-शुद्धि के लिए हो सकती है, अतः चित्त-शुद्धि प्राप्त होते ही कर्म-त्याग अनिवार्य है। अन्यथा जीव ज्ञानावस्था को प्राप्त कर लेने पर भी कर्म करने से मुक्तावस्था से बद्धावस्था में उतर आएगा। कर्म मात्र से यदि मोक्ष-प्राप्ति सम्भव हो तो तो कर्म ही उपासना का एक-मात्र साधन होता।[5] सिद्धान्त की दृष्टि से शंकराचार्य का अद्वैतवाद परम तत्व रूपी एक ही तत्व का समर्थक होते हुए भी उपासना पद्धति में शिव विष्णु सूर्य शक्ति तथा गणेश आदि पंचायतन-पूजा का समावेश होने के कारण बहुदेववादी था तथा इस प्रकार व्यावहारिक क्षेत्र में उनके सिद्धान्त और उपासना में परस्पर विरोध दृष्टिगत होता है। यह मान लेने पर भी कि शंकराचार्य ने किसी संकुचित दृष्टिकोण से किसी देवता की उपासना अथवा सम्प्रदाय को नहीं चलाया था तथा तत्वार्थ पर ही अधिक जोर दिया था जन-मन पर उसका उल्टा परिणाम हुआ और ज्ञान से अनभिज्ञ भक्ति-विह्वल जनता में अनेक देवताओं की एक साथ उपासना की पद्धति चल पड़ी। आध्यात्मिक क्षेत्र में यह उपासना-पद्धति स्वयं शांकर सिद्धान्त की विरोधी थी। इस वस्तुस्थिति को रामानुजाचार्य ने समझा तथा इसीका निराकरण महाराष्ट्र के महानुभाव पन्थ के अन्तर्गत एकेश्वर के रूप में कृष्ण की अनन्य उपासना को स्वीकार करके स्वामी चक्रधर ने किया।

वासुदेव-पूजक आलवारों की परम्परा के अनुयायी होनेके कारण रामानुजाचार्य ने विष्णु की उपासना को स्वीकार किया, क्योंकि उनके समय तक आकर वासुदेव और विष्णु का ऐक्य पूर्ण रूप से सम्पन्न हो चुका था। शंकराचार्य का ज्ञान-मार्ग केवल बौद्धिक एवं अनुभवगम्य होने के कारण जनसाधारण के लिए सुलभ नहीं था, अतः शंकर के कोरे ज्ञान का विरोध करते हुए रामानुजाचार्य ने भक्ति को उपासना का माध्यम बनाया। यही नहीं, कर्म-योग की आवश्यकता पर जोर देते हुए उन्होंने भक्ति को ही परम साध्य भी माना है। गीता

१ मधुकर शास्त्री द्वारा संपादित 'हरिमीडेस्तोत्रम्'।

२ देखिए, ब्रह्मसूत्र, १ ३-४ पर शांकरभाष्य।

३ वही ४ १-३ पर शांकरभाष्य।

४ देखिए ब्रह्मसूत्र ४-१ १।४ १-४। ४-३-१२ पर शांकरभाष्य।

५ एन डोक्ट्राइन ऑफ अद्वैत फिलोसोफी, कोकिलेश्वर शास्त्री, पृ १६०।

अनुमान अनुचित नहीं है तथापि हिन्दी-कृष्ण भक्ति का मूल आधार वल्लभाचार्य के धार्मिक सिद्धान्तों में खोजने के पहले उत्तर भारत में पुष्टि-मार्ग की स्थापना एवं विकास के कारणों पर विचार करना नितान्त आवश्यक है। ब्रज-मंडल में वल्लभाचार्य द्वारा अपने सिद्धान्तों के प्रचार का लोक-विदित कारण है ब्रज-मण्डल का कृष्ण-गोपियों की लीला-भूमि होना। इसी लिए तेलुगु भाषी होते हुए भी वल्लभाचार्य ने अपने मत के प्रचार के लिए ब्रज-भूमि को चुना। पर यह आंशिक सत्य है। क्योंकि वल्लभाचार्य का तत्त्वज्ञान आन्ध्र-भूमि पर उभर कर भी उनके सिद्धान्तों के अनुकूल आन्ध्र का तत्कालीन वातावरण नहीं था। तेलुग देश का उल्लेख करते हुए स्वामी चक्रधर ने उसे विषय-बहुल देश कहा है तथा अपने शिष्यों को वहाँ जाने से मना किया है। वे कहते हैं—

कानडीदेशा तैलंगदेशा न वचावेन ते विषयबहुल देश [1]

(तेलंग और कन्नड प्रदेश में निवास नहीं करना चाहिए क्योंकि वे विषय-बहुल देश हैं।)

स्वामी चक्रधर का काल बारहवीं शताब्दी माना जाता है। अतः वल्लभाचार्य के सिद्धान्त-निरूपण पर प्राचीन परम्परा का रंग चढ़ा हो तो आश्चर्य की बात नहीं और अपने मत प्रचार के लिए ब्रज-मण्डल को चुनने से पूर्व भी उनके सम्मुख उत्तर भारत की धार्मिक दशा अवश्य ही रही होगी क्योंकि धर्म प्रचार और लोक-रुचि का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध होता है।

पहले देखा जा चुका है कि सिद्ध और वाम-मार्गी साधुओं की उपासना-पद्धति में स्त्री-सहवास एक आवश्यक अंग बन गया था तथा इस प्रकार की उपासना का प्रचार समस्त उत्तर भारत में हो रहा था। उपासना के क्षेत्र में यह तत्त्व अवांछनीय होते हुए भी उसका बराबर प्रचार होता गया। इसका एक-मात्र कारण था प्राचीन काल में काम-पूजा का प्रचलन। जापान चीन बंगाल तथा पूर्वी एशिया के प्राचीन साहित्य एवं लोक-विश्वासों के परीक्षण से पता चलता है कि वहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से योनि के रूप में परम-तत्त्व या परमेश्वर की उपासना की पद्धति विद्यमान थी क्योंकि योनि उर्वरता की प्रतीक है। यही योनि अथवा परमेश्वर की उर्वरा-शक्ति की उपासना कालान्तर में निकृष्ट रूप में परिवर्तित होने लगी पर उसका प्रभाव जन-मन पर बराबर बना रहा। इस विश्वास के उत्तरोत्तर विकास के कारण ही आध्यात्मिक क्षेत्र में परमेश्वर के साथ-साथ स्त्री रूपी शक्ति को स्थान मिला और उपासना के लिए प्रेम-साधना की पद्धति लोकप्रिय होने लगी। हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों की राधा-कृष्ण उपासना और बंगाल में चैतन्य-सम्प्रदाय की उपासना में उत्तर भारत की परम्परा से प्रवाहित ये ही भावनाएँ प्रतिबिम्बित हुई हैं। इन भावनाओं के सूफी प्रेम-साधना के अत्यन्त निकट होने के कारण ही प्रायः उनमें मुस्लिम सभ्यता का प्रभाव भी देखा जाता है।

बौद्ध-दर्शन का खंडन करने के लिए ईसा की आठवीं शताब्दी में वेद उपनिषद् तथा गीता के आधार पर दक्षिण में शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रचार करके जीव और ब्रह्म की एकता मानकर माया को तुच्छ अथवा मिथ्या कहकर अद्वैतवाद का प्रचार किया—ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव ना परः। यद्यपि शंकराचार्य ने ब्रह्म की व्यावहारिक

1 दृष्टान्त, ह० ना० नेने द्वारा सम्पादित, आचार ११।

भक्ति पर अधिक बल देने के कारण निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण का विशेष महत्त्व है। निम्बार्काचार्य ने परमेश्वर और जगत्—दोनों को सत्य माना है तथा जीव को नित्य। मुक्तावस्था में जीव ईश्वर से तादात्म्य का अनुभव करता है तथा वह ईश्वर की शक्ति का अंश होने के कारण उसीमें वास भी करता है। इस प्रकार जीव ईश्वर से भिन्न और एकरूप भी है। मुक्तावस्था भक्ति से ही प्राप्त होती है। निम्बार्काचार्य के अनुसार जीव को वेद-वर्णित कर्मों की आवश्यकता ज्ञान प्राप्ति तक ही होती है। ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् ज्ञानी को वेदोक्त कर्मों की आवश्यकता नहीं रहती। उनके मतानुसार जीव ज्ञान-स्वरूप और ज्ञानामय है। वह एक साथ ज्ञाता कर्ता तथा भोक्ता है। वह अणु रूप है और मुक्तावस्था में भी कर्ता रहता है। इस दृष्टि से उसमें और ईश्वर में केवल नियन्ता और नियम्य का भेद है। ईश्वर सगुण और निर्दोष है। जो कुछ भी दृश्यमान एवं बोधगम्य है उस सबके बाहर और भीतर ईश्वर व्याप्त है। वही परब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तम नारायण कृष्ण आदि विविध नामों से सम्बोधित होता है। निम्बार्काचार्य ने ही सर्वप्रथम राधावल्लभ कृष्ण को महत्त्व दिया है। उनके आराध्य असंख्य गोपियों से घिरे हुए राधाकृष्ण हैं। राधा और कृष्ण की लीला ही सृष्टि का रहस्य है। चार व्यूह और अनेक अवतार कृष्ण के ही हैं। निम्बार्क मत के अनुसार जड़ पदार्थ तीन प्रकार का होता है—प्राकृत अप्राकृत और काल। प्राकृत वह है जो महत् तत्त्व से लेकर महाभूतों तक प्रकृति से उत्पन्न हुआ है अर्थात् जगत्। अप्राकृत वे पदार्थ हैं जिनका प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं यथा विष्णुपद परमपद आदि।

आचार्य निम्बार्क वैष्णव मत के सर्वप्रथम ऐतिहासिक प्रतिनिधि माने जाते हैं[1], पर उनके काल के विषय में अभी कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। निम्बार्क मत को सनकादिक सम्प्रदाय हंस-सम्प्रदाय तथा देवर्षि-सम्प्रदाय भी कहा जाता है। इस मत के प्रवर्तक हंसावतार भगवान् माने जाते हैं। भगवान् हंस ने अपने शिष्य सनत्कुमार को इस मत का उपदेश दिया था और सनत्कुमार ने अपने शिष्य नारद को। नारद से यह निम्बार्काचार्य को मिला।[2] भागवत से पता चलता है कि सनत्कुमार को योग-विषयक प्रश्नों का उत्तर देने के लिए ही भगवान् ने हंसावतार धारण किया था।[3] अतः बहुत सम्भव है कि भगवान् हंस ही इसके मूल प्रवर्तक रहे हों। छांदोग्य उपनिषद् में नारद के सनत्कुमार के शिष्य होने का प्रमाण मिलता है।[4] ब्रह्म-विद्या शास्त्र की परम्परा का उल्लेख करते हुए महाराष्ट्र के महानुभाव पंथ के आद्य-प्रवर्तक स्वामी चक्रधर ने भी ब्रह्म-विद्या का सर्वप्रथम उपदेष्टा हंसावतार द्वारा माना है।[5] निम्बार्क मत के अन्तर्गत ईश्वर और जीव के भेदाभेद का प्रभाव उत्तर भारत के संत-साहित्य पर पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होता है, विशेषतः गुरु नानक और कबीर आदि पर। सागर में बूंद और बूंद में सागर के समान ब्रह्म में जीव और जीव में ब्रह्म—में गुरु नानक की आस्था इसी भेदाभेद को सूचित करती है।

---

१ भागवत सम्प्रदाय, बलदेव उपाध्याय, पृ० ३११।
२ भागवत सम्प्रदाय, बलदेव उपाध्याय, पृ० ३११।
३ श्रीमद्भागवत, ११।१३।१९।
४ भागवत सम्प्रदाय, बलदेव उपाध्याय, पृ० ३११।
५ मुक्तपद, द० भा० नेने, निबाद, पृ० ३०।

भाष्य की प्रस्तावना में वे लिखते हैं—अर्जुन को युद्ध के लिए प्रवृत्त करने के निमित्त परम पुरुषार्थ मोक्ष का साधन रूप वेदान्त-कथित ज्ञान-कर्म-योग द्वारा साध्य अपने विषय में भक्ति-योग भगवान् ने प्रकट किया। स्पष्ट ही उनका अभिप्राय है कि गीता में भक्ति-योग का ही प्रतिपादन हुआ है। रामानुजाचार्य के मतानुसार मोक्ष की प्राप्ति भक्ति से ही सम्भव हो सकती है। ज्ञान और कर्म केवल भक्ति के साधन हैं। उन्होंने भक्ति के भी दो भेद माने हैं—साधन भक्ति और परा भक्ति। साधन-भक्ति से चित्त-शुद्धि होकर जीव परा-भक्ति का पात्र बनता है। रामानुजाचार्य के शिष्य वेंकटनाथ ने 'सर्वार्थसिद्धि' नामक अपने ग्रन्थ में रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित भक्ति को ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन माना है—'महनीय विषये प्रीतिर्भक्तिः।'[1] रामानुजाचार्य के मतानुसार भक्ति भावना न होकर विशेष ज्ञान है[2] और जीव परमेश्वर का अंश है यह जान लेना ही ज्ञान। परमेश्वर अवि-भाज्य होने के कारण परमेश्वर से विभक्त अंश अंश न रहकर विशेषण विशेष्य का ईश्वर और जीव का सम्बन्ध है। जीव यथार्थ में ईश्वर का गुण धर्म है यह ज्ञान प्राप्त होते ही गुणानुस्मृति अथवा निरंतर चिंतन द्वारा उसकी भक्ति करना ही मुक्ति प्रदान करने वाला श्रेष्ठ योग है। भक्ति का अधिकार चारों वर्णों को है। कई स्थानों पर भक्ति और प्रपत्ति में भी भेद किया गया है। किसी-न किसी समय ईश्वर अपना अवश्य उद्धार करेगा इस इस अचल विश्वास को लेकर अनन्य भाव से भगवान् की शरण जाना ही प्रपत्ति मार्ग कहलाता है तथा उसका अधिकारी सभी वर्णों को माना गया है जबकि भक्ति-मार्ग केवल त्रिवर्ण तक ही सीमित रखा गया है।

संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि उपासना के क्षेत्र में रामानुजाचार्य ने भक्ति, ज्ञान और कर्म के समुच्चय को स्वीकार करके अनन्य भाव से सगुण ईश्वर-भक्ति पर जोर देकर वैदिक धर्म को अधिक व्यापक एवं जन-सुलभ बना दिया। रामानुजाचार्य ने अपने मत प्रतिपादन के लिए ब्रह्मसूत्र उपनिषद् एवं गीता का ही आश्रय लिया है पर उनके तत्त्व निरूपण पर पुराणों का ही अधिक प्रभाव दृष्टिगत होता है।[3] यही कारण है कि उपासना के क्षेत्र में कर्म का महत्त्व और भक्ति तथा प्रपत्ति की आवश्यकता मानते हुए भी वे जीव को ईश्वर का ही एक अंश मानते हैं। इस मान्यता से आधमान विरोध के निराकरण के लिए ही कदाचित् उन्होंने माया की पृथक सत्ता को स्वीकार किया तथा सृष्टि को ईश्वर की लीला माना। अन्यथा एक ही तत्त्व का जीव और ईश्वर के रूप में विभाजन तथा भक्ति द्वारा उनका एकीकरण सैद्धान्तिक दृष्टि से असंगत प्रतीत होता।

रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत में भासमान इसी विषमता के कारण भक्ति-मार्ग के समर्थक होते हुए भी माध्वाचार्य स्वामी मध्वर आदि ने द्वैतवाद का आश्रय लिया। निम्बा-र्काचार्य का मत इन दोनों के बीच का मार्ग है। यद्यपि उन पर रामानुजाचार्य का काफी प्रभाव दृष्टिगत होता है तथापि उन्होंने विशिष्टाद्वैतवाद को स्वीकार नहीं किया। निम्बा-र्काचार्य का मत द्वैताद्वैत सम्प्रदाय अथवा सनकादिक सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। प्रेम-

---

१ हिस्ट्री आफ इंडियन फिलोसोफी दासगुप्त खण्ड ३, पृ० ११२।
२ वही पृ० ११३।
३ वार्ता भागवत धर्म, डॉ० श्रीधर मुकर्जी पृ० १६२।

भक्ति पर अधिक बल देने के कारण निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण का विशेष महत्त्व है। निम्बार्काचार्य ने परमेश्वर और जगत्—दोनों को सत्य माना है तथा जीव को भिन्न। मुक्तावस्था में जीव ईश्वर से तादात्म्य का अनुभव करता है तथा वह ईश्वर की शक्ति का अंग होने के कारण उसीमें वास भी करता है। इस प्रकार जीव ईश्वर से भिन्न और एकरूप भी है। मुक्तावस्था भक्ति से ही प्राप्त होती है। निम्बार्काचार्य के अनुसार जीव को वेद-विहित कर्मों की आवश्यकता ज्ञान प्राप्ति तक ही होती है। ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् ज्ञानी को वेदोक्त कर्मों की आवश्यकता नहीं रहती। उनके मतानुसार जीव ज्ञान-स्वरूप और ज्ञानाश्रय है। वह एक साथ ज्ञाता कर्ता तथा भोक्ता है। वह अणु रूप है और मुक्तावस्था में भी कर्ता रहता है। इस दृष्टि से उसमें और ईश्वर में केवल नियन्ता और नियम्य का भेद है। ईश्वर सगुण और निर्दोष है। जो कुछ भी दृश्यमान एवं बोधगम्य है उस सबके बाहर और भीतर ईश्वर व्याप्त है। वही परब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तम नारायण कृष्ण आदि विभिन्न नामों से सम्बोधित होता है। निम्बार्काचार्य ने ही सर्वप्रथम राधासहित कृष्ण को महत्त्व दिया है। उनके आराध्य अर्चस्य गोपियों से घिरे हुए राधाकृष्ण हैं। राधा और कृष्ण की लीला ही सृष्टि का रहस्य है। चार व्यूह और अनेक अवतार कृष्ण के ही हैं। निम्बार्क मत के अनुसार जड़ पदार्थ तीन प्रकार का होता है—प्राकृत अप्राकृत और काल। प्राकृत वह है जो महत् तत्त्व से लेकर महाभूतों तक प्रकृति से उत्पन्न हुआ है अर्थात् जगत्। अप्राकृत वे पदार्थ हैं जिनका प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं, यथा विष्णुपद, परमपद आदि।

आचार्य निम्बार्क वैष्णव मत के सर्वप्रथम ऐतिहासिक प्रतिनिधि माने जाते हैं[1] पर उनके काल के विषय में अभी कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। निम्बार्क मत को सनकादिक सम्प्रदाय हंस-सम्प्रदाय तथा देवर्षि-सम्प्रदाय भी कहा जाता है। इस मत के प्रवर्तक हंसावतार भगवान् माने जाते हैं। भगवान् हंस ने अपने शिष्य सनत्कुमार को इस मत का उपदेश दिया था और सनत्कुमार ने अपने शिष्य नारद को। नारद से वह निम्बार्काचार्य को मिला।[2] भागवत से पता चलता है कि सनत्कुमार को योग-विषयक प्रश्नों का उत्तर देने के लिए ही भगवान् ने हंसावतार धारण किया था।[3] अतः बहुत सम्भव है कि भगवान् हंस ही इसके मूल प्रवर्तक रहे हों। छांदोग्य उपनिषद् में नारद के सनत्कुमार के शिष्य होने का प्रमाण मिलता है।[4] ब्रह्म-विद्या शास्त्र की परम्परा का उल्लेख करते हुए महाराष्ट्र के महानुभाव पंथ के आद्य प्रवर्तक स्वामी चक्रधर ने भी ब्रह्म-विद्या का सर्वप्रथम उपदेश हंसावतार द्वारा माना है।[5] निम्बार्क मत के अन्तर्गत ईश्वर और जीव के भेदाभेद का प्रभाव उत्तर भारत के संत-साहित्य पर पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होता है, विशेषतः गुरु नानक और कबीर आदि पर। सागर में बूँद और बूँद में सागर के समान ब्रह्म में जीव और जीव में ब्रह्म—ये गुरु नानक की आस्था इसी भेदाभेद को सूचित करती है।

---

१ भागवत सम्प्रदाय बलदेव उपाध्याय, पृ० ३११।
२ भागवत सम्प्रदाय, बलदेव उपाध्याय, पृ० ३११।
३ श्रीमद्भागवत, ११।१३।१६।
४ भागवत सम्प्रदाय बलदेव उपाध्याय, पृ० ३११।
५ [illegible], डा० ना० भैने, विचार, पृ० ३०।

कबीर का पद—

लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥

इसी प्रभाव का एक उदाहरण है।

वल्लभाचार्य ने भक्ति को प्रेमलक्षणात्मक माना। उनका सम्प्रदाय पुष्टि-मार्ग के ना से प्रसिद्ध है तथा उसका सिद्धान्त है शुद्धाद्वैतवाद जिसका आविर्भाव पन्द्रहवीं शताब्दी हुआ। वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद शांकर-मत का विरोधी था। शंकराचार्य ने ब्रह्म माया-रूप माना है, पर वल्लभाचार्य ने मायारहित होने के कारण उसे शुद्ध। उनके मत मुसार कार्य और कारण रूप दोनों प्रकार से ब्रह्म शुद्ध है मायिक नहीं। माया रहित हो ने कारण ही वह अद्वैत तत्त्व है। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' सब ब्रह्म है—के अनुसार सारी सृष्टि उसीकी लीला का विकास है। वल्लभाचार्य ने वेद उपनिषद् गीता ब्रह्मसूत्र एवं भागव पुराण को ही प्रमाण माना है। उनका कहना है कि तर्क अथवा अनुमान से ब्रह्म का निरूप सम्भव नहीं। इस प्रकार शंकराचार्य की तुलना में वे विशुद्ध धार्मिक हैं और इस प्रका शब्द को एक-मात्र प्रमाण मानने के कारण वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद दार्शनिक सिद्धा न होकर धर्मशास्त्रीयवाद है।[1] उपनिषदों में अद्वितीय सत् को ब्रह्म कहा गया है। गीत उसीको पुरुषोत्तम और भागवत-पुराण परमेश्वर या कृष्ण कहता है। वल्लभाचार्य के अ ईश्वर अथवा परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। ब्रह्मरूप कृष्ण सविशेष और निर्विशे सगुण और निर्गुण अणु और महान्, चल और अचल गम्य और अगम्य—दोनों एक सा हैं। वे सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। उनके सभी गुण उनसे स्वभावतः अभिन्न हैं। वे अप अनन्त शक्तियों के साथ भक्तों को लिये 'व्यापी वैकुण्ठ' में नित्य लीला किया करते हैं।

वल्लभाचार्य ने जीव तीन प्रकार के माने हैं—पुष्टि मर्यादा और प्रवाह। ईश्वर चिन्तन न करके निरुद्देश्य जीवन बिताने वाले जीव प्रवाह-जीव हैं। वेदानुसार आचर करने वाले जीव मर्यादा जीव हैं तथा जो जीव ईश्वर की विशेष कृपा के लिए पात्र हैं त ईश्वर से अनन्य प्रेम करके उसकी शरण में रहते हैं वे हैं पुष्टि-जीव। इन तीनों में से पुष्टि जीव सर्वोत्तम हैं क्योंकि मर्यादा-जीवों को कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग से केवल क्रम-मु मिलती है तथा वे क्रमशः पितृयान देवयान और कैवल्य को प्राप्त करते हैं। अथवा-भ करने से केवल सालोक्य सामीप्य सारूप्य और सायुज्य मुक्ति ही प्राप्त होती है। पर पुष्टि जीव ईश्वर प्रेम को ही समस्त आध्यात्मिक कार्य-कलापों का अर्थ और हेतु मानता है 'कठोपनिषद्' के अनुसार आत्मा का ज्ञान प्रवचन और स्वाध्याय से सम्भव न होकर के ब्रह्म की कृपा से ही हो सकता है।[2] इसी का समर्थन गीता में भी हुआ है।[3] स्मृति-वा में सामान्य विरोध का निराकरण वल्लभाचार्य ने अपने सिद्धान्तों से किया तथा भक्ति-म की दो विभिन्न शाखाओं को मान्यता दी। मर्यादा-भक्ति को उन्होंने उन जीवों के लिए मा जो अपने कर्मों द्वारा मुक्त होना चाहते हैं तथा पुष्टि भक्ति उन जीवों के लिए जो जीव

---

१ हिन्दी साहित्य कोश, पृ ७११।
२ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७१७।
३ गीता, १० ११।

असहाय है तथा सब प्रकार से साधनहीन है। पुष्टि भक्ति ईश्वर के प्रति अनन्य भक्ति है जो सर्वोत्तम साधना भी है और साध्य भी। ईश्वर प्रेम-विषयक इस विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण ही वल्लभाचार्य का साधना-मार्ग पुष्टि-मार्ग के नाम से प्रसिद्ध है। कुछ विद्वानों ने 'पुष्टि' का अर्थ 'मोटा-ताजा' या 'खाओ-पियो मौज उड़ाओ' बताया है[1] पर यह ठीक नहीं है। स्पष्ट ही वल्लभाचार्य ने भागवत-वचन 'पोषणं तदनुग्रहः'[2] के अनुसार 'पुष्टि' को भगवान् का अनुग्रह माना है तथा ज्ञान मार्ग और कर्म-मार्ग के कठिन होने के कारण भक्ति का समर्थन करते हुए पुष्टि-मार्ग को ही श्रेयस्कर माना।

पुष्टि भक्ति को भी उन्होंने चार प्रकार का माना है—प्रवाह-पुष्टि-भक्ति मर्यादा पुष्टि भक्ति पुष्टि-पुष्टि भक्ति एवं शुद्ध-पुष्टि भक्ति। प्रवाह-पुष्टि भक्ति उन लोगों के लिए है जो सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए भी भगवान् की भक्ति करना चाहते हैं। मर्यादा पुष्टि भक्ति विरक्त जीवों के लिए है। पुष्टि-पुष्टि भक्ति उन लोगों के लिए है जो ईश्वर की कृपा से भक्त बनते हैं और तत्पश्चात् उसीकी कृपा से सर्वज्ञाता बन पाते हैं और शुद्ध पुष्टि-भक्ति वह है जिसके द्वारा जीव ईश्वर से केवल 'अमित प्रेम' करता है। यह अवस्था केवल भगवान् की कृपा से ही स्थापित होती है तथा इसके तीन सोपान हैं—प्रेम, आसक्ति और व्यसन। गोपियों की भक्ति शुद्ध-पुष्टि-भक्ति का ही उदाहरण है। इस कोटि के भक्त सायुज्य-मुक्ति को हीन समझकर श्रीकृष्ण की रास-लीला में निरन्तर भाग लेना ही सर्वश्रेष्ठ मुक्ति मानते हैं।

वल्लभाचार्य के मतानुसार कृष्ण रस-रूप आनन्द-रूप और सौन्दर्य रूप हैं। वे सभी रसों को, पर विशेषतः शृंगार रस को प्रकाशित करते हैं। संयोग और विप्रलम्भ के भेद से शृंगार दो प्रकार का है। अपने भक्तों के सम्बन्ध में कृष्ण दोनों की अभिव्यक्ति करते हैं। इन्हीं पर ध्यान करना पुष्टिमार्गी का लक्ष्य है।[3] पुष्टिमार्ग की स्थापना करके वल्लभाचार्य ने भक्ति के क्षेत्र में भागवत-पुराण के दशम स्कन्ध को महत्त्व देकर बाल-कृष्ण और उनकी सखी राधा की उपासना-पद्धति को ही नहीं चलाया वरन् साधना के रूप में भक्ति को और भी सरल बनाकर उसे जन-सुलभ बना दिया। भक्ति के इस व्यापकत्व तथा रंजन-स्वरूप के कारण ही रास-लीला बाल-लीला गोकुल-वर्णन, यशोदा-वात्सल्य गोपियों के साथ कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं तथा भ्रमर-गीत आदि का विशद वर्णन करके ब्रज भाषा के अधिकांश कवियों ने पुष्टिमार्ग का ही आश्रय लिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधना के क्षेत्र में रामानुजाचार्य ने जहाँ हिन्दी-काव्य को वैष्णव-भक्ति की ओर प्रवृत्त किया, निम्बार्काचार्य ने जहाँ कृष्ण को ही ब्रह्म-रूप माना तथा राधा को कृष्ण की शक्ति के रूप में स्वीकार किया वहाँ वल्लभाचार्य ने राधा कृष्ण और गोपियों की लीलाओं को लेकर संयोग तथा विप्रलम्भ शृंगार से परिपूर्ण हिन्दी-कृष्ण काव्य के अजस्र स्रोत प्रवाह में सहायक बनकर जनजाने ही भक्ति को लौकिकता की ओर उन्मुख किया।

---

१ हिन्दी साहित्य कोश पृ० ४६६-४७०।
२ भागवत पुराण, २।१०।४।
३ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ४५८।

द्यापति तथा जयदेव का प्रभाव

जिस प्रकार वल्लभाचार्य का पुष्टि-मार्ग हिन्दी-कृष्ण-काव्य में राधा तथा गोपियों-त्नी शृंगार के समावेश के लिए तात्त्विक दृष्टि से उत्तरदायी रहा है, उसी प्रकार जयदेव तथा विद्यापति भी कृष्ण भक्ति के इस नवीन प्रकार के लिए उत्तरदायी रहे हैं। कृष्ण-भक्ति-धारा में भागवत के आधार पर सर्वप्रथम जयदेव ने ही भक्ति की पार्श्वभूमि पर संयोग तथा विप्रलम्भ शृंगार के रमणीय चित्र अंकित किए हैं। इस चित्रांकन के ए पुराणों के आधार पर सर्वप्रथम राधा का साकार प्रकृति-तत्त्व के रूप में खड़ा किया ा है। भागवतादि ग्रन्थों में वर्णित रास-क्रीड़ा तथा सूचित 'राधा' नाम की प्रिय गोपी स्वीकार करके जयदेव ने अपने काव्य में शृंगार का पर्याप्त समावेश किया है। कृष्ण क या गोपी तथा राधा के प्रेम का जो आदर्श जयदेव चंडीदास विद्यापति प्रभृति कवियों अपने सामने रखा उसीको चैतन्य महाप्रभु ने भी आदर्श माना। बारहवीं शताब्दी मे देव द्वारा रचित गीतगोविन्द' में राधा और कृष्ण के परस्पर अनुराग, विरह मिलन मधुर विवेचन हुआ है। संयोग तथा विप्रलम्भ शृंगार का चित्रण तो 'गीतगोविन्द' में द्वितीय है। 'गीतगोविन्द' में यद्यपि भक्ति और शृंगार—दोनों का ही समावेश है तथापि क स्थानों पर उत्तान शृंगार का ही गहरा रंग चढ़ा हुआ दिखाई देता है। इन वर्णनों देखकर यह भ्रम होने लगता है कि जयदेव मूलतः भक्त-कवि थे या शृंगार-कवि। इस म के निवारण के लिए ही शायद कवि ने कहा है—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुर कोमल कान्त पदावलिं शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥[1]

ान देने योग्य बात है कि कवि की इस उक्ति तथा उसके काव्य में शृंगार और भक्ति का ुर सम्मिश्रण होते हुए भी केवल हिन्दी कवियों पर ही नहीं रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर भी सका प्रभाव अक्षुण्ण बना रहा।

वासुदेव-सम्प्रदाय के अन्तर्गत भगवद्-विषयक कल्पनाओं और जयदेव द्वारा प्रति ादित शृंगार भक्ति—इन दोनों के बीच विद्यमान तात्त्विक भेद को देखकर ऐसा लगता है ानो जयदेव के काव्य में कृष्ण-विषयक प्राचीन कल्पनाओं को अकस्मात् एक नया मोड़ ला। जयदेव के कृष्ण तत्त्ववेत्ता होते हुए भी रसिक अधिक थे। वासुदेव-भक्ति या कृष्ण क्ति के इस आकस्मिक प्रकारान्तर के सूत्र जैन आगमों एवं पुराणों में बिखरे हुए मिलते । जैन-साहित्य में सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'आगम' है। यह आगम भगवान् महावीर द्वारा चित माने जाते हैं तथा उनका समय ई० पू० ५२१ के पहले का माना जाता है। दूसरा न्थ है 'वसुदेव हिंडी' जो कि चार पाँचवीं शती का कथा-संग्रह माना जाता है।[2] इन दोनों न्थों में कृष्ण का चरित्र प्रचुर मात्रा में अंकित है। इन ग्रन्थों में कृष्ण की सोलह सहस्र ानियों तथा आठ पटरानियों का उल्लेख है पर गोपियों के साथ केलि-क्रीड़ाओं के वर्णन ा सर्वथा अभाव है। पहले कहा जा चुका है कि ईसा-पूर्व प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ एवं ंचम शताब्दी में वार्ष्णेय वासुदेव की पूजा प्रचलित थी तथा उसका प्रथम दर्शन महाभारत

---

[1] गीतगोविन्द १।१।

[2] प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ में श्री भागचंद जैन का लेख: प्राचीन जैन ग्रन्थों में कृष्णचरित।

के नारायणीय पर्व में होता है। वासुदेव की पूजा का मूल भगवद्गीता है। फलत भक्ति-मार्ग का धर्म लोकप्रिय हुआ और गीता के भगवान् वासुदेव परमेश्वर के रूप में पूजे जाने लगे। इस भक्ति-मार्ग के प्रणेता वासुदेव-कृष्ण का जो चरित्र उपलब्ध है वह बाल्यावस्था का न होकर वयस्कता का है। यह त्रुटि बाद में हरिवंश में कृष्ण की बाल्यावस्था की कथा का समावेश करके पूरी कर दी गई। अत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ईसा-पूर्व काल में कृष्ण नटवर और श्रेष्ठ रसिया के रूप में नहीं पूजे जाते थे और न ही उस समय तक उनके बाल-चरित्र का कहीं अधिकारयुक्त वर्णन मिलता है। कृष्ण और गोपियों के प्रेम का यत्र-तत्र उल्लेख अवश्य दृष्टिगत होता है, पर इन उद्धरणों में लौकिक प्रेम का कहीं भी उल्लेख नहीं है। इन सब प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि राधा-कृष्ण-भक्ति का आरम्भ जयदेव ने नहीं किया अपितु उससे बहुत पहले याती ईस्वी सन् के आरम्भ से ईसा की १०वीं शताब्दी तक यह भक्ति जनसाधारण के हृदय में अंकुरित होती रही थी। आळ्वारों के गीतों में गोपी-कृष्ण-लीलाओं के अनेक मनोहर वर्णन मिलते हैं। हाल की 'गाहासत्तसई' (गाथा सप्तशती) में सर्वप्रथम राधा और कृष्ण के विरह मिलन के प्रसंग सर्वथा लौकिक सन्दर्भ में वर्णित मिलते हैं।[1] जयदेव के 'गीतगोविन्द' में सम्भवत इन्हीं लोक-विश्वासों से सुपरिष्कृत होकर निश्चित रूप धारण किया तथा आगामी भक्त-कवियों के लिए राधा और कृष्ण को लेकर भक्ति के शोभनीय पुष्पों से सुसज्जित उत्ताल शृंगार को लेकर काव्य-सर्जना के लिए मार्ग बना दिया। जयदेव द्वारा वर्णित राधा-माधव के क्रीड़ा-कलापों की प्रतिध्वनि 'मैथिल-कोकिल' विद्यापति की 'कोमल-कान्त-पदावली' में सुनाई पड़ी। संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड पंडित होने के कारण रसिक विद्यापति की भावुकता पर साहित्य शास्त्र का रंग चढ़ा और जिसने राधा और कृष्ण के चरित्र को नायक-नायिका-भेद की अनुकरणीय वस्तु बना दिया। विद्यापति के राधा-कृष्ण भक्तों के राधा और कृष्ण न रह कर कामशास्त्र में निपुण नायक और नायिका बन गए। विद्यापति ने राधा और कृष्ण का जो चित्र खींचा है उसमें वासना का रंग बहुत ही गहरा उतरा है। आराध्यदेव के प्रति भक्त की जो पवित्र भावना होनी चाहिए, वह उसमें लेशमात्र भी नहीं है। सख्य-भाव से जो उपासना की गई है उसमें श्रीकृष्ण यौवन में उन्मत्त नायक की भाँति चित्रित हुए हैं और राधा यौवन की मदिरा में मदमत्त एक मुग्धा नायिका की भाँति। राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय है। आनन्द ही उसका उद्देश्य है और शरीर उसका क्रिया-कलाप। यौवन ही से उसके जीवन का विकास है।[2] विद्यापति की राधा वयःसंधि पर पहुँची हुई अल्हड़ किशोरी है। उनमें शैशव और यौवन का संघर्ष साकार हो उठा है। चरणों की चपलता लोचनों ने धारण कर ली है। वह मुकुर लेकर नित्य शृंगार किया करती है— 'मुकुर लइ अब करई सिंगार।' मन लगाकर वह रस-कथा सुना करती है। उनके सौन्दर्य से सब चकित हो उठे हैं। लावण्य-सार कृष्ण तो उनका यौवन देखकर मूर्छित ही हो जाते हैं—

---

१ हिन्दी साहित्य कोश पृ० ९०७।

२ पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, हिन्दी साहित्य में राधाकृष्ण की भावना का विकास, श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा, पृ० २७०।

'सुरति परस किति तन-मावन-सार'

बंगाल में विद्यापति की राधा यौवन से परिपूर्ण वासनामयी मानवी है और कृष्ण यौवन के मूर्तिमान नायक। विद्यापति की शृंगारिक पदावली से बंगाल की सामाजिक प्रवृत्ति और भी उत्तेजित हो उठी। इस उत्तेजना को चंडीदास के प्रेम-गीतों ने और भी तीव्र कर दिया, यहाँ तक कि चैतन्य महाप्रभु जयदेव विद्यापति और चंडीदास की शृंगारिक पदावलियों को गा-गाकर मस्त रहने लगे। इतना अवश्य है कि विद्यापति और चंडीदास की उन्मत्त शृंगारिक कविताओं से चैतन्य की भक्ति-भावना का संयोग हो गया और नायिका भेद की भावना के अनुकूल कृष्ण भक्ति को देखा जाने लगा। चैतन्य द्वारा परकीया प्रेम की भावना कृष्ण-प्रेम में अपना ली गई तथा कृष्ण की भक्ति गोपी भाव से की जाने लगी। चैतन्य ने वैधी भक्ति को न अपनाकर रागानुगा भक्ति को प्रधानता दी। रागानुगा-भक्ति में भी उन्हें ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य ही रुचिकर लगा। माधुर्य की पाँच शाखाओं—शांत दास्य सख्य वात्सल्य और माधुरी—में भी माधुर्य बंगाल की प्रवृत्ति के अधिक अनुकूल होने के कारण चैतन्य की भक्ति में माधुर्य भावना की ही प्रधानता रही है। सारांश यह है कि चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण-भक्ति में परकीया प्रेम तथा राधा के प्रति कृष्ण के असीम आकर्षण को स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार गोपी राधा परमेश्वर की आनन्द-शक्ति के रूप में भी स्वीकार कर ली गई। चैतन्य महाप्रभु तथा अन्य आचार्यों द्वारा राधा-कृष्ण की इस माधुर्य भक्ति के प्रचार के परिणामस्वरूप राधा-कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं का स्मरण करना कृष्ण-भक्ति का एक अनिवार्य अंग बन गया। उसमें ऐश्वर्य-बोध का अभाव होने के कारण दास्य भावना प्रस्फुटित न हो सकी। परिणाम यह हुआ कि राधा-कृष्ण की भक्ति आदर्श और पवित्रता के अभाव में लौकिक धरातल पर उतरने लगी। इसके दुष्परिणामों को ब्रजभूमि के सूरदास तथा महाराष्ट्र के नामदेव और तुकाराम आदि संतों ने समझा। जनता को इन दुष्परिणामों से बचाने के लिए जिस प्रकार सूर ने दैन्य को अपनाया उसी प्रकार ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव और तुकाराम ने राधा के स्थान पर रुक्मिणी को मान्यता देकर कृष्ण भक्ति को उदात्त और लोक-कल्याणकारी रूप प्रदान किया।

ईसा की ११वीं शताब्दी में उमापति ने तथा १२वीं शताब्दी में जयदेव ने राधा माधव को लेकर संयोग और विप्रलंभ-शृंगार पर उच्चकोटि के काव्य का सृजन किया था।

गीतगोविंद और मराठी [illegible] गुजरात का प्रभाव

शीघ्र ही अपने काव्य-सौन्दर्य और विषय-विवेचन के कारण 'गीत-गोविंद' भक्तों का कंठहार बन गया तथा उसकी रचना के पश्चात् लगभग एक शताब्दी में ही उसका प्रचार समस्त भारत में हो गया।[1] 'गीतगोविंद' द्वारा प्रतिपादित राधामाधव भक्ति को चंडीदास के शृंगार प्रधान गीतों ने और भी उत्तेजित किया। भक्ति की इसी परम्परा से प्रभावित होकर चैतन्य महाप्रभु ने गोपी भाव से कृष्ण भक्ति की प्रतिष्ठापना की तथा वैष्णव भक्ति को एक नई उपासना-पद्धति की ओर अग्रसर किया। उन्होंने वृन्दावन की यात्रा की तथा उसे भक्ति-मार्ग का केन्द्र बनाना चाहा। सन १५५० में उनके शिष्य लोकनाथ ने

---

1 [illegible] भिटरेचर, के एम मुन्शी, पृ १८८ ।

वृन्दावन में चैतन्य-सम्प्रदाय की स्थापना की।[1] आगे चलकर जीव गोस्वामी ने इस सम्प्रदाय को और भी सुदृढ़ बनाया तथा वृन्दावन से उद्भूत इस नई भक्ति-धारा ने समस्त भारत को व्याप्त कर डाला। गुजरात में उसका प्रचार १७वीं शताब्दी में माना जाता है।[2]

जिस समय बंगाल में चैतन्य महाप्रभु राधा-कृष्ण-भक्ति का प्रचार कर रहे थे उस समय उत्तर प्रदेश में वल्लभाचार्य का सम्प्रदाय प्रबल हो चुका था। वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग और निम्बार्क के कृष्ण चरित के बोध ने राधा-कृष्ण की माधुर्य भाव की भक्ति का जमकर प्रचार किया। गुजरात की भक्त-कवयित्री मीराबाई और नरसिंह मेहता पर वृन्दावन की भक्ति-प्रणाली का विशेष रूप से प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

कृष्ण के प्रति मीरा की भक्ति विशुद्ध प्रेम पर आधारित है 'मोरमुकुट-धारी नन्दनन्दन' ही उसके पति हैं। गिरधर गोपाल के अतिरिक्त किसी दूसरे से उसका सम्बन्ध नहीं है।[3] कृष्ण की बाँकी साँवली छवि उसकी आँखों में समाई रहती है।[4] कुछ पदों में कृष्ण के प्रति मीरा का प्रेम भी गोपी भाव का प्रेम अभिलक्षित होता है। ऐसे पदों में मीरा उन गोपियों की भाँति लगती है जिन्होंने 'संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्'[5] कहकर अपने आपको श्रीकृष्ण पर न्यौछावर कर दिया था। ऐसे पद केवल भक्ति-भावना से ही सम्बन्धित हैं। उनमें प्रेम तथा विरह की व्यथा नहीं है केवल शान्त भाव का प्राधान्य है। इन्हीं पदों में मीरा के कृष्ण-सम्बन्धी विचार स्पष्ट हुए हैं। कुछ अन्य पदों में मीरा योगिनी के रूप में भी प्रकट हुई है तथा योगेश्वर कृष्ण से आत्म-निवेदन करती-सी प्रतीत होती है।[6] इस प्रकार एक ओर मीरा ने कृष्ण के प्रति विशुद्ध प्रेम से विह्वल होकर करुणा दीन और वेदना का चित्रण किया है तथा कान्त भाव से कृष्ण की रूप-माधुरी गाई है, तो दूसरी ओर उसका प्रेम-मार्ग उसे ज्ञान की गली की ओर ले जाता है।[7] इन पदों में उसका प्रियतम अवतारी कृष्ण न होकर निर्गुण निराकार परब्रह्म है। मीरा के इन दो भिन्न दृष्टिकोणों में पूर्व परम्परा का ही निर्वाह हुआ है। इनमें मीरा की निजी उद्भावना नहीं है। हिन्दी तथा गुजराती साहित्य को मीरा की मौलिक देन उसके पदों की गेयता और व्यक्तिगत ईश्वर की भावना में ही अभिलक्षित होती है। उसके पदों में अन्तर्जगत् का चित्रण प्रधान होने के कारण उनमें तल्लीनता तथा गहरी अनुभूति की अभिव्यक्ति हुई है तथा तन्मयता के कारण गेयता भी उनमें अनायास ही आ गई है। गीत-काव्य की सभी प्रमुख विशेषताएँ मीरा के पदों में विद्यमान

---

१ गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, पृ० १७४।

२ वही, पृ० १७५।

३ मपोछुत रहसि, करत नहीं मिलन।

४ निपट बँकट छवि अटके मेरे नैना निपट बँकट छवि अटके।
देख्या रूप मदन मोहन को, पियत पियूख न मटके ॥
बारिज भँवा, अलक टेढ़ी मनो अति सुगन्ध रस अटके।
टेढ़ी कटि को मुरली टेढ़ी, टेढ़ी पाग लर लटके ॥
'मीरा' प्रभु के रूप-लुभानी, गिरधर नागर नट के ॥

५ भागवत १०।२९।३२।

६ गगन-मण्डल में सेज पिया की किस विधि मिलना होय।

७ मान-पमान राम पर वारे, निकली हूँ ज्ञान-गली ॥

है। वस्तुतः मध्यकालीन हिन्दी भक्त कवियों की रचनाओं में गीतात्मकता जितने शुद्ध रूप में मीरा के पदों में तथा तुलसीदास की 'विनय-पत्रिका' में उतरी है उतनी अन्य किसी में भी नहीं। वास्तव में देखा जाए तो मीरा किसी सम्प्रदाय-विशेष से सम्बद्ध नहीं थी। मीरा की भक्ति अधिकतर वियोग प्रधान थी परन्तु उसमें दास्य और सख्य भावों की भी यत्र-तत्र अभिव्यक्ति हुई है। मीरा के पदों में उसका व्यक्तित्व सम्पूर्णता से निखर उठा है। इसका कारण यह है कि उसकी भक्ति स्त्री-हृदय-जनित भक्ति थी। स्त्री के हृदय में सहज ही समर्पण की भावना हुआ करती है। यही कारण है कि मीरा के पद सूरदास के पदों की अपेक्षा अधिक मार्मानुभूत प्रतीत होते हैं।[1] वास्तव में हिन्दी को मीरा की कृष्ण भक्ति में अनन्यता और मधुर भाव का लाभ हुआ क्योंकि मीरा के दृष्टिकोण में कृष्ण लीला का उतना महत्त्व नहीं था जितना कृष्ण के प्रेममय स्वरूप का था।

'वैष्णव जन तो तेनें कहिए, जे पीर पराई जाणें रे' के रचयिता नरसी मेहता ने भी कृष्ण को ही अपना इष्टदेव माना। नरसी मेहता की कृष्ण भक्ति में भी शृंगार रस की ही प्रधानता रही है। उनका भाव गोपी भाव है तथा पदों में भक्ति और शृंगार—दोनों समानान्तर धाराओं में प्रवाहित हुए हैं। उनकी रचनाएँ अधिकतर राग रागिनियों में ही हुई हैं। वल्लभ-सम्प्रदाय में उनके पद इतने लोकप्रिय हुए कि कवि की मूल भाषा से उनका कोई सम्बन्ध ही न रहा। नरसी के पद चैतन्य भाव प्रधान हैं। चैतन्य महाप्रभु और मीरा की ही भाँति उनके कृष्ण भी जीते-जागते दूल्हा हैं। उन्होंने रास-लीला का सजीव वर्णन किया है जो श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध और ब्रह्मवैवर्तपुराण से ही अधिक प्रभावित है।[1] यत्र-तत्र उनमें 'गीतगोविन्द' का भी पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है। 'हिंडोला नां पदो' और 'वसंत नां पदो' में वसन्त और फाग का सुन्दर वर्णन हुआ है। कृष्ण भक्ति-मार्ग में फाग के समावेश का श्रेय वस्तुतः नरसी ही को प्राप्त है।[3] रास-लीला की ही भाँति नरसी ने भागवत के दशम स्कंध के अनुरूप कृष्ण चरित्र की लीलाओं का वर्णन भी अपने पदों में किया है जैसे बाल-लीला दान-लीला आदि। 'सुरत संग्राम' में कृष्ण और राधा के दलों का पूर्णमासी की रात को परस्पर युद्ध दिखाया गया है जिसमें कृष्ण की उनके साथी-संगी बाल-गोपालों-सहित पराजय और राधा की जय दिखाई है। इस सर्वथा मौलिक कल्पना में अर्वाचीनता का आभास पाने के कारण प्रोफ़ेसर के० के० शास्त्री इसे क्षेपक मानते हैं।[4] इतना तो स्पष्ट ही है कि मीरा के आराध्य पति-रूप कृष्ण नरसी तक पहुँचकर लोक के आदर्श प्रियतम बन जाते हैं तथा राधा और कृष्ण का दिव्य प्रेम आगे चलकर क्रमशः लौकिकता की ओर अग्रसर होने लगता है तथा रीति-काल के वासना-प्रधान प्रेम में उसका उपसंहार होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईसा की प्रथम शताब्दियों में कृष्ण-सम्बन्धी विकसित विश्वास दक्षिण के आलवार संतों की वाणी में ग्रहण किये गए। जयदेव चंडीदास और विद्यापति आदि ने उनमें शृंगार को उभारा। चैतन्य-सम्प्रदाय ने राधा भक्ति को आरम्भ

१ संगीत-स्मृति-ग्रन्थ पृ० ११।
२ गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर के० एम० मुन्शी, पृ० १६१।
३ वही।
४ वही, पृ० ११४।

करके शृंगारमय भक्ति की प्रतिष्ठापना की। वल्लभाचार्य ने गोपी भाव को प्रमुख किया। मीरा ने परमेश्वर को पति-रूप में देखकर रामानुजाचार्य की भाँति व्यक्तित्व ईश्वर की स्थापना की और नरसी मेहता ने रास-लीला-परक अपने भजनों से कृष्ण-प्रेम को व्यापकत्व प्रदान किया।

सूरदास तथा अष्टछाप के कवियों में कृष्ण की कल्पना

सूरदास तथा अष्टछाप के कवियों में कृष्ण की कल्पना को समझने के लिए उस समय की पृष्ठभूमि पर विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक है। डॉ० मुन्शीराम शर्मा ने इस पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए लिखा है—सूर-साहित्य की पृष्ठभूमि भारत के मध्यकालीन युग का इतिहास है जिसमें वह महान् और व्यापक आन्दोलन अन्तर्निहित है जिसने ऐसी अनेक भावनाओं को जन्म दिया जो एक ओर तो मानवता के क्षेत्र को विस्तृत करने वाली हैं तथा दूसरी ओर अनेक संकीर्णताओं को उत्पन्न करती है—भारतीय इतिहास में तो यह 'मध्यकालीन' शब्द नया-सा ही है परन्तु यूरोपीय इतिहास में मध्य-युग (मिडीवल पीरियड) सन् ४७६ से सन् १४५३ तक माना जाता है। इस काल में समाज में कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का उदय हो गया था, जिनके कारण उत्तरोत्तर अन्धविश्वास का विकास और तथ्य-जिज्ञासा का ह्रास होता गया। केवल यूरोप में ही नहीं विश्व के समस्त देशों में समस्त सम्प्रदायों और समाजों में इस मनोवृत्ति का महान् प्रभाव पड़ा था जिसने इतिहास का स्वरूप ही परिवर्तित कर दिया। फिर भारत इसका अपवाद कैसे रह जाता? "छठी शताब्दी में भारत में उस युग का सूत्रपात हुआ जिसे हम यूरोपीय ऐतिहासिकों की परिभाषा में 'मध्य-युग' कह सकते हैं। इस काल की धर्म-भावना अनेक प्रभावों का समन्वित रूप कही जा सकती है। छठी शताब्दी से ११-१२वीं शताब्दी तक का साहित्य बड़ा व्यापक है परन्तु इसमें साम्प्रदायिकता की पूरी-पूरी छाप है। जहाँ एक ओर बौद्धों और जैनों का अपने-अपने अस्तित्व के लिए भरसक प्रयास है, वहाँ दूसरी ओर ऐसे तत्वों का भी अभाव नहीं जिनका परिपाक अन्ततोगत्वा ध्वंसात्मक ही होता है। वैष्णव सम्प्रदाय में भी यत्र-तत्र इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार होता है। इन विभिन्न मत-मतान्तरों के बखेड़े में पड़कर राजनीति की भी ऐसी दुर्दशा हुई कि उसका रूप तो विकृत हुआ ही स्वतन्त्र रूप से पृथक चला जाता हुआ व्यक्तित्व भी समाप्तप्राय हो गया और वह साम्प्रदायिकता के हाथों में खेलने लगी। इस काल में एक ऐसी परम्परा-सी चली, जिसका आधार वैदिक और अवैदिक भावनाओं के मूल में केन्द्रित हुआ, परन्तु जहाँ अवैदिक सम्प्रदायों में वृद्धि हुई वहाँ वेद को ही अन्तिम प्रमाण मानने वाले धर्म-मतों और दार्शनिक सम्प्रदायों की संख्या भी एक-दो ही नहीं रही। मत-वैभिन्न्य तथा विश्वास-वैभिन्न्य होते हुए भी विभिन्न सम्प्रदाय अपने आपको श्रुति-सम्मत मानते थे। जिस प्रकार अद्वैत, विशिष्टाद्वैत द्वैत, शुद्धाद्वैत अचिन्त्य, भेदाभेद आदि अनेक परस्पर-विरोधी मत श्रुति को ही अपनी आधार-भित्ति बतलाते हैं उसी प्रकार शैव, शाक्त, पाशुपत पांचरात्र और आदि सम्प्रदाय भी अपने आपको वेद-विहित कहते हैं। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक के युग को मध्यकालीन युग का उत्तरार्द्ध कहा जा सकता है। यह युग समन्वय की भावना को लेकर चला। गोस्वामी तुलसीदास तथा भक्त-कवि सूरदास इस युग के सामंजस्यवादी

है। वस्तुत मध्यकालीन हिन्दी सन्त कवियों की रचनाओं में
में मीरा के पदों में तथा तुलसीदास की 'विनय-पत्रिका' में उत
नहीं। वास्तव में देखा जाए तो मीरा किसी सम्प्रदाय विशेष
भक्ति अधिकतर वियोग प्रधान थी परन्तु उसमें दास्य और
अभिव्यक्ति हुई है। मीरा के पदों में उसका व्यक्तित्व सम्पूर्णता
कारण यह है कि उसकी भक्ति स्त्री-हृदय-जनित भक्ति थी।
समर्पण की भावना हुआ करती है। यही कारण है कि मीरा
अपेक्षा अधिक आत्मानुभूत प्रतीत होते हैं।[1] वास्तव में हिन्दी
में अनन्यता और मधुर भाव का क्रम हुआ क्योंकि मीरा के
उतना महत्त्व नहीं था जितना कृष्ण के प्रेममय स्वरूप का था।

'वैष्णव जन तो तेणें कहिए, जे पीर पराई जाणे रे' के रचयि
कृष्ण को ही अपना इष्टदेव माना। नरसी मेहता की कृष्ण भक्ति में
प्रधानता रही है। उनका भाव गोपी-भाव है तथा पदों में भक्ति और
नान्तर धाराओं में प्रवाहित हुए हैं। उनकी रचनाएँ अधिकतर राध
हैं। वल्लभ-सम्प्रदाय में उनके पद इतने लोकप्रिय हुए कि कवि की मूर
कोई सम्बन्ध ही न रहा। नरसी के पद चैतन्य-भाव प्रधान हैं। चैतन्य
की ही भाँति उनके कृष्ण भी नाचते-गाते दिखते हैं। उन्होंने रास-ली
किया है जो श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध और ब्रह्मवैवर्तपुराण से ही अ
कम-क्रम उनमें 'गीतगोविन्द' का भी पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है।
और 'वसंत नां पदो' में वसन्त और फाग का सुन्दर वर्णन हुआ है।
फाग के समावेश का श्रेय वस्तुत नरसी ही को प्राप्त है।[3] रास-लीला
ने भागवत के दशम स्कंध के अनुरूप कृष्ण चरित्र की लीलाओं का वर्णन
किया है जैसे दान-लीला मान-लीला आदि। 'सुरत संग्राम' में कृष्ण
पूर्णमासी की रात को परस्पर युद्ध दिखाया गया है जिसमें कृष्ण की
गोपालों-सहित पराजय और राधा की जय दिखाई है। इस ... मा
श्लीलता का आभास पाने के कारण प्रोफ़ेसर के० के० शास्त्री उसे क्षेपक
तो स्पष्ट ही है कि मीरा के आराध्य पति-रूप कृष्ण, नरसी तक ... प्र
प्रियतम बन जाते हैं तथा राधा और कृष्ण का दिव्य प्रेम भावे ...
की ओर अग्रसर होने लगता है ... रीति काल के वासना ... न
होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ई ... शताब्दियों में
विस्तार दक्षिण के आळ्वार संतों की ... दिये गए।
विद्यापति आदि ने उसमें शृंगार को ...

१ मीरां-स्मृति-ग्रन्थ पृ० ११।
२ गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर के० एम० मुन्शी,
३ वही।
४ वही, पृ० ११४।

माना जाता है आज उपलब्ध है। इसी प्रकार ईसा की चौथी शताब्दी में निर्मित कृष्ण-चरित का चित्रण करने वाली कई मूर्तियाँ अनेक स्थानों में मिली हैं। महाबलिपुरम् के मन्दिर के द्वार के अवशेषों में गोवर्धन-धारण, नवनीत चौर्य, यमलार्जुन भंग, धेनुक-वध, कालिय-दमन आदि कई प्रसंग चित्रित हुए हैं। मथुरा की गोवर्धनधारी मूर्ति भी ईसा की चौथी शताब्दी की मानी जाती है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चौथी शताब्दी में गोवर्धन धारी कृष्ण की उपासना शुरू हो चुकी थी। सातवीं शताब्दी की बदामी की गुफाओं की चित्रकला तथा शिल्पकला भी इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बंगाल के पहाड़पुर की गुफा में कृष्ण-मूर्ति के निकट गोपी-राधा भी दिखाई गई है। डॉ॰ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का अनुमान है कि यह राधा ही है। पर 'भक्ति रत्नाकर' तथा 'प्रेम-विलास' में कहा गया है कि वृन्दावन में कृष्ण के साथ राधा की पूजा न होने के कारण नित्यानन्द प्रभु की पत्नी जाह्नवी देवी ने किसी नयनभास्कर नामक कलाकार से राधा की मूर्ति तैयार कराई और तभी से बंगाल में राधा-कृष्ण की उपासना आरम्भ हुई। शिल्प-कला के आधार पर यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि ईसा की पहली शताब्दी से सर्वसाधारण जनता में कृष्ण की लीलाओं की ही चर्चा थी। आगामी काल में उत्तरोत्तर कृष्ण के साथ राधा और गोपियों का योग होता गया।[1] इन मान्यताओं का उदय भी मुख्य जनसाधारण में हुआ। जनसाधारण की भाषा अपभ्रंश थी। अत्यन्त आरम्भिक काल में आभीरों की भाषा ही अपभ्रंश कहलाती थी तथा उसकी साहित्यिक सम्पदा भी अत्यन्त मूल्यवान समझी जाती है।[2] आगे चलकर संस्कृत नाटकों में निम्न वर्ग के पात्रों के मुख से अपभ्रंश ही बुलवाई जाती थी। बहुत सम्भव है कि इस अपभ्रंश भाषा में लक्ष्मी, रुक्मिणी, सरस्वती, गंगा इत्यादि देवियों के रूप-वर्णन में शृंगार की सूक्ष्म छटा दिखानेवाले कवियों का ध्यान राधा-कृष्ण की ओर भी गया हो। नवीं शताब्दी में आनन्दवर्धन के 'तेषां गोप वधू विलास सुहृदां राधारहः साक्षिणम्' संस्कृत उल्लास की प्रक्रिया अपभ्रंश में न हुई हो, अथवा इस उल्लेख का आधार स्वयं अपभ्रंश में अंकित विश्वास न रहा हो यह कैसे माना जा सकता है। इससे यह भी सूचित होता है कि देशी भाषाओं में गोपियों की शृंगार-चेष्टाओं तथा कृष्ण-कथा पर फुटकर ही सही रचनाएँ अवश्य हुई होंगी पर इस दिशा में निश्चित रूप से कुछ कहना तब तक सम्भव नहीं है जब तक देशी भाषाओं के प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। 'गाथा-सप्तशती' में अवश्य राधा-कृष्ण और गोपियों के उल्लेख मिलते हैं।[3] सप्तशती का रचना-काल ईसा की पहली शताब्दी माना जाता है[4], पर इस बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। इन उल्लेखों से इतना अवश्य सिद्ध होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी से चौथी शताब्दी तक देशी भाषाएँ राधा, कृष्ण और गोपियों से परिचित थीं।

---

१ मध्यकालीन धर्म-साधना, डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १२२।

२ मधुरा भक्ति का मराठी भण्डार, पृ० ११।

३ (१) मुहमारुएण तं कण्ह (कृष्ण) गोरअं राहिआए (राधिका) अवणेन्तो।
एताणं बल्लवीणं अण्णाण वि गोरअं हरसि (८९)।
(२) अज्जवि बालो दामोअरोऽवि इअजम्पिए जसोआए।
कण्ह (कृष्ण) मुहपेसिअच्छं णिहुअं हसिअं वअवहूहि (व्रजवधूभिः) पृ० ११२।

४ हिन्दी साहित्य की भूमिका, डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १२३।

प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने समाज के धरातल पर मानवता का उद्घाटन किया तो सूरदास ने व्यक्तिगत साधना को महत्त्व देकर मानव हृदय के चिरन्तन समान भावों का स्पर्श किया। पुष्टि सम्प्रदाय के आचार्यों ने लौकिक वासनाओं और ऐहिक ऐषणाओं को परब्रह्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण में समाकर उन्हें पवित्र बनाने का विधान रखा था। ईसा की तीसरी शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक यह भक्ति-आन्दोलन प्रब वेग से बढ़ता रहा इसी को मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन कहा जाता है। इस युग का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ श्रीमद्भागवत है जो अब तक की वैष्णव भक्ति-भावना पर अनु प्रभाव डाल रहा है।[1]

उपर्युक्त कथन में तीन बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं तथा सूरदास एवं अष्टछाप के कवियों की कृष्ण-कल्पना का आधार खोजने में सहायक होती हैं। पहली बात है समन्वयवादी दृष्टिकोण दूसरी भागवत-पुराण की प्रेरणा तथा तीसरी लौकिक वासनाओं और ऐहिक ऐषणाओं की परब्रह्म श्रीकृष्ण तथा उनकी लीलाओं में कल्पना। डॉ० हरवंशलाल का यह कथन कि १५वीं शताब्दी के पहले विद्यमान सभी सम्प्रदायों का सूर की कृतियों में समन्वय हुआ है अत्यन्त युक्तियुक्त है। पर उनका यह कहना कि तत्कालीन भक्ति-आन्दोलन का प्रभाव सू साहित्य में अधिक नहीं है[2] अधिक युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। तुलसी में अवश्य तत्कालीन राजनीतिक धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ अपने समग्र रूप में प्रतिबिम्बित हुई हैं प सूर के 'भ्रमर-गीत' विधान में जिस परिस्थिति का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है वह अपने आपमें कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भ्रमर-गीत की कल्पना यदि देश काल और परिस्थिति क परिणाम न होती तो समस्त भारत के कृष्ण-काव्य में इस परम्परा का निर्वाह हुआ होता पर ऐसा हुआ नहीं। मराठी कृष्ण-काव्य में उसका सर्वथा अभाव इसी बात को सिद्ध करत है। महाराष्ट्र में तथा उसके आसपास मुस्लिम राज्य होते हुए भी वहाँ का हिन्दू समा उससे प्रभावित न हो सका। वल्लभाचार्य द्वारा १५वीं शताब्दी में वृन्दावन से कृष्ण-भक्ति के प्रचार का कारण भी तत्कालीन परिस्थिति ही थी। ऐसा न होता और उत्तर भारत कृष्ण भक्ति-विषयक नये चिन्तन के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ न होतीं तो कदाचित् वल्ल सम्प्रदाय की स्थापना तथा विकास उत्तर भारत में न होकर दक्षिण भारत में होता जा वस्तुतः भक्ति का उदय हुआ था। अतः हिन्दी में कृष्ण-काव्य का मूल्यांकन करते सम हमें उत्तर भारत की विशिष्ट सामाजिक राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों को भूलना चाहिए।

पहले कहा जा चुका है कि ईस्वी सन् की आरम्भिक शताब्दियों में कृष्ण और गोपिय की शृंगारिक कथाओं का प्रचलन सम्भवतः जनता में हो चुका था पर तत्कालीन साहि में इन लोक-कथाओं को मान्यता नहीं मिली थी। इस काल में कृष्ण के वीरत्व की ही पू का प्रचलन था[3] इस बात का समर्थन प्राचीन मूर्तिकला से भी होता है। कृष्ण-चरित सम्बन्धित कई पुरानी मूर्तियाँ जिनका निर्माण-काल ईसा की प्रथम तथा द्वितीय शताब्

१ सूर और उनका साहित्य, डॉ० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ६१-६६।
२ वही, पृ० ६१-६६।
३ —ट भक्तिचा मराठी वाङ्मयावर, डॉ० प्र० न० जोशी, पृ० ६६।

करने वाला जीव परमेश्वर के वियोग की कल्पना से ही प्राण त्याग देता है। यह अवस्था[1] कितनी कठिन है, यह बात महात्मा चकधर के कथन 'ना सुरले हे कदापि न मरे—ते कैसे ना कमळाउसा वियोगी उरली' तथा सत्यभामा गोपिका उरलीया 'मग प्रेम म्हणवे वियोगी पुरले कवा हुंडाबाई, (सि० स० १६१) से सिद्ध होती है। (परमेश्वर के वियोग में जीव द्वारा प्राण-त्याग करना अत्यन्त कठिन बात है क्योंकि महात्मा चकधर की पत्नी कमळा अथवा श्रीकृष्ण की पत्नी सत्यभामा तथा गोपिकाएँ वियोगावस्था में भी जीवित रही थीं।) श्रीकृष्ण की अष्टनायिकाओं में रुक्मिणी की ही भाँति औरों को भी उभय-हस्तावतार श्रीकृष्ण की पत्नी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पर परमेश्वर के वियोग में प्राण त्याग देने की क्षमता उनमें नहीं थी, बल्कि परमेश्वर के प्रति उनमें अगाध प्रेम ही नहीं था, क्योंकि वे विषय प्रेमी नहीं थीं। रुक्मिणी अवश्य विषय-प्रेमी थी। जल-क्रीड़ा करते समय श्रीकृष्ण के डूबने की बातें सुनते ही वह मूर्छित होकर मृत्युमार्गगामी होने लगी थी। इससे सिद्ध होता है कि रुक्मिणी वास्तव में 'प्रेमिका' थी। श्रीकृष्ण की अन्य सहस्रों पत्नियों को श्रीकृष्ण का विषय भोग प्राप्त नहीं था क्योंकि उनके साथ परमेश्वरावतार श्रीकृष्ण स्वयं रममाण नहीं होते थे अपितु 'विकास-रूपों' द्वारा निर्मित मानो अनेक होकर उनका उपभोग करते थे क्योंकि वे सब पत्नियाँ भगवान् के विषय-प्रेम की अधिकारी नहीं थीं।' भागवत में भी यही तत्त्व निरूपित हुआ है यद्यपि यहाँ भौतिक ऐषणाओं तथा वासनाओं को भी अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया गया है। पहले कहा गया है कि भागवत का रचना-काल ईसा की आठवीं शताब्दी के लगभग माना जा सकता है। यह सच है कि इस बात को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं तथापि अन्तःसाक्ष्य और तत्कालीन परिस्थितियों के सूक्ष्म निरीक्षण से इस धारणा की पुष्टि हो जाती है। पहले कहा गया है कि शंकराचार्य के आगमन-काल तक यानी, ईसा की आठवीं शताब्दी तक, भारत में बौद्ध-धर्म अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था अतः उसकी प्रतिक्रिया के रूप में यदि भागवत की रचना मानी जाए और उसका रचना-काल बलदेव उपाध्याय के मतानुसार, ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी मान लिया जाए तो युक्तियुक्त नहीं होगा क्योंकि एक तो ऐतिहासिक अथवा शिल्प के आधार पर ईसा की आठवीं शताब्दी तक इस प्रकार का कोई भी चिह्न उपलब्ध नहीं है, यद्यपि ऐसा होना इसलिए आवश्यक था कि भागवत का साहित्यिक मूल्य तथा उसमें निरूपित कृष्ण-भक्ति का नया स्वरूप अपने में सर्वथा नया होने के कारण लोकप्रिय हुए बिना रह ही नहीं सकता था। दूसरे, बौद्ध-दर्शन के खण्डन के लिए यदि किसी तत्त्व की आवश्यकता थी तो वह केवल दर्शन ही हो सकता था क्योंकि हिन्दू दर्शन की पार्श्वभूमि पर ही बौद्ध दर्शन की गहरी रेखाएँ उभरी थीं तथा उन पर केवल ज्ञान का ही रंग चढ़ सकता था। इस तत्त्व की ओर भागवतकार जैसे पंडित का ध्यान न गया हो यह मानने के लिए हमारे पास कोई भी साधन नहीं है। ईसा की आठवीं शताब्दी में जब शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म का खण्डन करके हिन्दू धर्म की पुनः स्थापना की उससे बहुत पहले से (ईसा की प्रथम शताब्दी से, सेन्ट थोमस के भारत में आगमन के साथ) भारत ईसाई धर्म से परिचित होने लगा था। ईसाई धर्म भक्तिमार्गी धर्म था। ईसा की आठवीं शताब्दी से भारत पर मुसलमानी आक्रमण शुरू

१ महानुभाव तत्त्वज्ञान, डॉ० वि० भि० कोलते, पृ० २६१।

ईसा की दूसरी शताब्दी से लेकर लगभग छठी शताब्दी तक विद्वानों ने वर्तमान पुराणों का रचना-काल माना है। पुराणों में भी भागवत-पुराण अपेक्षाकृत बहुत बाद की रचना है। यद्यपि इसके रचना-काल के बारे में अनेक मत-मतान्तर हैं फिर भी विषय की दृष्टि से तथा अन्य पुराणों की तुलना में इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वर्तमान भागवत-पुराण का रचना काल ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी के पहले का नहीं हो सकता।[1] विद्वान् यह भी मानते हैं कि यह संस्करण किसी एक ही व्यक्ति का कार्य है तथा उसका वर्तमान संस्करण दक्षिण में हुआ और दाक्षिणात्य पंडितों के द्वारा ही इसका प्रचार आरम्भ हुआ।[2] इतना निश्चित है कि मध्यकालीन कृष्ण भक्ति का मुख्य स्रोत भी भागवत-पुराण ही रहा है। भागवत-पुराण के भक्ति-निरूपण और उसमें समाविष्ट कृष्ण गोपी प्रेम एवं केलि-क्रीड़ाओं पर आगे स्वतन्त्र रूप से विचार किया गया है। यहाँ केवल इस बात पर संक्षेप में विचार कर लेना पर्याप्त होगा कि भागवत-पुराण में निरूपित राधा कृष्ण और गोपियों के चरित्र का मराठी और हिन्दी के कृष्ण काव्य पर कितना प्रभाव पड़ा। हिन्दी में भक्ति-तत्त्व के पहले प्रतिपादक कबीर का काल पन्द्रहवीं शताब्दी माना जाता है। गोस्वामी तुलसीदास तथा सूरदास का कार्य सोलहवीं शताब्दी में प्रभावशाली हुआ। नरसी मेहता तथा मीराबाई १५वीं शताब्दी में तथा चैतन्य महाप्रभु सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुए। इस प्रकार काल-गणना की दृष्टि से महाराष्ट्र में १३वीं शताब्दी के आरम्भ में स्वामी चक्रधर तथा उनके बाद ज्ञानेश्वर नामदेव आदि का नाम पहले आता है। स्वामी चक्रधर तथा महानुभाव-पंथी कवियों ने भक्ति में जिस भगवद् प्रेम का वर्णन किया है, वह पूर्णरूपेण अलौकिक प्रेम है। उसमें गोपियों की काम-वासनाओं को महत्त्व नहीं मिला है। यही प्रकार कृष्ण द्वारा उन कामवासनाओं की तुष्टि का भी वर्णन नहीं है। भगवान् अपने भक्तों को प्रेम-दान अवश्य देते हैं पर यहाँ प्रेम का स्वरूप शारीरिक न होकर सात्त्विक ही है। उदाहरणार्थ महानुभाव पंथ के तत्त्वज्ञान के अंतर्गत परमेश्वर के प्रति विषय-प्रेम को ही मुख्य प्रेम का साधन बताया गया है। पर यहाँ भी विषय-प्रेम का अर्थ समय हंसावतार ईश्वर की पत्नी के रूप में ईश्वर का उपभोग प्राप्त करा देने वाला प्रेम लिया गया है। इस प्रेम का मुख्य लक्षण 'वियोगी नुरणे' अर्थात् वियोगी का न रहना' या वियोग की कल्पना मात्र से ही प्राण त्याग देना माना गया है। परमेश्वर के प्रति जीव के प्रेम का विश्लेषण करते हुए स्वामी चक्रधर ने आगे कहा है—

'मुख्य प्रेमा कर्मरहाटी दोमसाधनें' एक पुरमनन दूसरे विषयप्रेम हे पैरा ही पासि उत्तम' (वि० स्व० १३६) 'विषय प्रेम म्हणजे विषयते भावड वियोगी नुरे ते प्रेम (वि० स्व० १३२)।

अर्थात् सांसारिक जीवन में परमेश्वर-की प्रेम प्राप्ति के दो साधन हैं—एक माया का शरीर धारण किये हुए परमेश्वरावतार को भोजन कराना तथा दूसरा परमेश्वर का विषय-प्रेम प्राप्त कर लेना। विषय-प्रेम का लक्षण बताते हुए महात्मा चक्रधर कहते हैं कि विषय-प्रेम यानी जीव की विषय-भोग के प्रति रुचि। पर यहाँ परमेश्वर के साथ विषय-भोग

[1] सूर और उनका साहित्य, डॉ० हरवंशलाल शर्मा, पृ० २११।
।० १ ८।

करने वाला जीव परमेश्वर के वियोग की कल्पना से ही प्राण त्याग देता है। यह अवस्था कितनी कठिन है यह बात महात्मा चक्रधर के कथन 'मा चुरने हे कदापि न घडे—रे कैसे' जा कमळाउदा वियोगी उरली तथा सत्यभामा गोपिका उरलीया मग प्रेम म्हणपे वियोगी मुरे मग हंसाबाई (सि० सू० १११) से सिद्ध होती है। (परमेश्वर के वियोग में जीव द्वारा प्राण-त्याग करना अत्यन्त कठिन बात है क्योंकि महात्मा चक्रधर की पत्नी कमला अथवा श्रीकृष्ण की पत्नी सत्यभामा तथा गोपिकाएँ वियोगावस्था में भी जीवित रही थीं।) श्रीकृष्ण की अष्टनायिकाओं में रुक्मिणी की ही भाँति औरों को भी परब्रह्मावतार श्रीकृष्ण की पत्नी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पर परमेश्वर के वियोग में प्राण त्याग देने की क्षमता उनमें नहीं थी, बल्कि परमेश्वर के प्रति उनमें प्रगाढ़ प्रेम ही नहीं था, क्योंकि वे विषय प्रेमी नहीं थीं। रुक्मिणी अनन्य विषय-प्रेमी थी। जल-क्रीड़ा करते समय श्रीकृष्ण के डूबने की बातें सुनते ही वह मूर्छित होकर मृत्युमार्गगामी होने लगी थी। इससे सिद्ध होता है कि रुक्मिणी वास्तव में प्रेमिका थी। श्रीकृष्ण की अन्य सहस्रों पत्नियों को श्रीकृष्ण का विषय भोग प्राप्त नहीं था क्योंकि उनके साथ परमेश्वरावतार श्रीकृष्ण स्वयं रममाण नहीं होते थे अपने 'विज्ञान-रूपों' द्वारा निर्मित मानो अनेक होकर उनका उपभोग करते थे क्योंकि वे सब पत्नियाँ भगवान् के विषय प्रेम की अधिकारी नहीं थीं।[1] भागवत में भी यही तत्त्व निरूपित हुआ है यद्यपि यहाँ भौतिक ऐषणाओं तथा वासनाओं को भी अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया गया है। पहले कहा गया है कि भागवत का रचना-काल ईसा की आठवीं शताब्दी के लगभग माना जा सकता है। यह सच है कि इस मत को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं तथापि अन्तःसाक्ष्य और तत्कालीन परिस्थितियों के सूक्ष्म निरीक्षण से इस धारणा की पुष्टि हो जाती है। पहले कहा गया है कि शंकराचार्य के आगमन-काल तक यानी ईसा की आठवीं शताब्दी तक, भारत में बौद्ध धर्म अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था अतः उसकी प्रतिक्रिया के रूप में यदि भागवत की रचना मानी जाए और उसका रचना-काल बलदेव उपाध्याय के मतानुसार, ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी मान लिया जाए तो युक्तियुक्त नहीं होगा क्योंकि एक तो ऐतिहासिक अथवा शिल्प के आधार पर ईसा की आठवीं शताब्दी तक इस प्रकार का कोई भी चिह्न उपलब्ध नहीं है, यद्यपि ऐसा होना इसलिए आवश्यक था कि भागवत का साहित्यिक मूल्य तथा उसमें निरूपित कृष्ण-भक्ति का नया स्वरूप अपने में सर्वथा नया होने के कारण लोकप्रिय हुए बिना रह ही नहीं सकता था। दूसरे, बौद्ध-दर्शन के खण्डन के लिए यदि किसी तत्त्व की आवश्यकता थी तो वह केवल दर्शन ही हो सकता था क्योंकि हिन्दू दर्शन की पार्श्वभूमि पर ही बौद्ध दर्शन की गहरी रेखाएँ उभरी थीं तथा उन पर केवल ज्ञान का ही रंग चढ़ सकता था। इस तत्त्व की ओर भागवतकार जैसे पंडित का ध्यान न गया हो यह मानने के लिए हमारे पास कोई भी साधन नहीं है। ईसा की आठवीं शताब्दी में जब शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म का खण्डन करके हिन्दू धर्म की पुनः स्थापना की उससे बहुत पहले से (ईसा की प्रथम शताब्दी से, सेण्ट थोमस के भारत में आगमन के साथ) भारत ईसाई धर्म से परिचित होने लगा था। ईसाई धर्म भक्तिमार्गी धर्म था। ईसा की आठवीं शताब्दी से भारत पर मुसलमानी आक्रमण शुरू

---

१ महानुभाव तत्त्वज्ञान, डॉ० वि० भि० कोलते, पृ० २४२।

हो गए और यह देश एक अन्य विदेशी धर्म-पद्धति के सम्पर्क में आने लगा। इस्लाम भी ईसाई धर्म की ही भाँति भक्ति पर ही आधारित था। इतिहास बताता है कि जब-जब इस देश में विदेशी धर्म का प्रचार हुआ है तब-तब उसने अपनी जड़ें समाज के दलित वर्ग में ही सबसे पहले जमाई हैं। अब तक हिन्दू धर्म ज्ञान पर ही मुख्यतः आधारित होने के कारण यह सर्वसाधारण से काफ़ी दूर था। हिन्दू समाज की वर्ण-व्यवस्था ने इस अन्तर को और भी बढ़ा दिया था। ऐसी दशा में हिन्दू धर्म को बल प्रदान करने के लिए आवश्यक था कि वह एक नये धरातल पर उतर आता—उस धरातल पर जिस पर सर्वसाधारण जनता की अपेक्षाओं को सन्तुष्ट किया जा सके। भागवत में भक्ति का प्रतिपादन तथा मानवी ऐषणाओं का अप्रस्तुत रूप से स्वीकार देश-काल की इसी आवश्यकता का समाधान करता-सा प्रतीत होता है। भागवत में स्वीकृत अप्रस्तुत शृंगार का आयोजन भी तत्कालीन लोक-विश्वासों पर ही आधारित जान पड़ता है। इस प्रकार भागवत ने जहाँ एक ओर भक्ति की पुनःस्थापना करके हिन्दू धर्म को सजीव एवं व्यापक बनाया वहाँ दूसरी ओर उसने लोक-विश्वासों को साहित्यिक एवं धार्मिक मान्यता देकर धर्म को आकर्षक और व्यापक बनाकर देशकाल की आवश्यकता का भी समाधान किया। भागवत का मुख्यतः यही आधार होने के कारण आगामी काल की समान परिस्थितियों में वह साहित्य-सृजन का मूल स्रोत बना रहा।

यद्यपि सूरदास और अष्टछाप के अन्य कवियों के कृष्ण भागवत के ही कृष्ण हैं तथापि इन कवियों की कृष्ण-विषयक कल्पनाएँ जयदेव चैतन्य-सम्प्रदाय तथा सूर-पूर्व ब्रज भाषा-साहित्य में कृष्ण और राधा-विषयक शृंगारिक पदों से भी अवश्य ही प्रभावित हुई हैं। प्राकृत पैंगलम के आधार पर डॉ॰ शिवप्रसादसिंह का भी कहना है—'१४वीं शताब्दी में यानी विद्यापति और चण्डीदास के पूर्व देशी भाषाओं में मधुर भाव की भक्ति का कोई-न कोई रूप अवश्य ही प्रचलित था।'[1]

अष्टछाप-काव्य की मूल प्रवृत्ति का स्रोत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वल्लभाचार्य की प्रेम-लक्षणा-भक्ति को ही माना है।[2] परन्तु यह धारणा आंशिक रूप में ही सत्य है। अष्टछाप के कवि वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी थे और इसलिए स्वाभाविक था कि वे आचार्य वल्लभ द्वारा निरूपित कृष्ण के रूप का गुणगान करते। परन्तु मधुरा भक्ति के भी दो रूप होते हैं—सात्विक-स्वरूपा और लौकिक-स्वरूपा। सात्विक भाव पर आधारित मधुरा-भक्ति का दर्शन मीरा के पदों में होता है। किन्तु अष्टछाप के कवियों की रचनाओं में लौकिकता का रंग ही अधिक चढ़ा हुआ है। इस काव्य-प्रवृत्ति में तत्कालीन परिस्थितियाँ सहायक हुई हैं या नहीं यह देखने का हम यहाँ प्रयत्न करेंगे। सूर-पूर्व राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का विस्तृत विवेचन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। हम यह भी देख चुके हैं कि राधा और कृष्ण का शृंगारिक शैली में वर्णन जयदेव के 'गीतगोविन्द' में चण्डीदास के पदों में तथा विद्यापति की पदावली में बहुत पहले हो चुका था। प्रसंगवश हम यह भी दिखा चुके हैं कि दक्षिण के आलवारों ने जो भक्ति की धारा प्रवाहित की थी उसी को रामानन्द उत्तर भारत में लाए थे। उक्ति प्रसिद्ध है कि—

१ सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह, पृ॰ २११-१४।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ॰ १२७-२८।

भक्ति द्राविड़ी ऊपजी, लाए रामानन्द ।
परगट किया कबीर ने सप्त दीप नवखंड ।।

किन्तु प्रश्न यह उठता है कि अष्टछाप के कवियों ने राधा और कृष्ण के प्रेम को भक्ति के स्तर पर जो विराट रूप प्रदान किया है उसका आधार क्या है ? प्रायः यह कहा जाता है कि अष्टछाप की इस काव्य प्रवृत्ति पर सूफ़ी काव्य का प्रभाव है परन्तु यह धारणा युक्ति युक्त नहीं जान पड़ती क्योंकि सूफ़ियों की भक्ति पद्धति और कृष्ण भक्त कवियों की भक्ति-पद्धति कई बातों में भिन्न है। सूर-पूर्वकालीन जैन साहित्य के अवलोकन से पता लगता है कि उसमें रूप-सौन्दर्य आकर्षण की वस्तु होने के कारण निर्वाण में बाधक होता है। इस मान्यता के कारण जैन कवियों ने शृंगार का बड़ा ही उद्दाम वासनापूर्ण और क्षोभ-कारक चित्रण किया है। शमन की शक्ति की महत्ता का अनुमान इन्द्रिय भोग-स्पृहा की शक्ति से ही किया जा सकता है। इसीलिए जैन साहित्य में नारी के शृंगारिक रूप, यौवन और तज्जन्य कामोत्तेजना आदि का अत्यन्त सूक्ष्मता से चित्रण हुआ है। डॉ० शिवप्रसादसिंह का कहना है कि 'व्रजभाषा में कृष्ण काव्य की परम्परा काफ़ी पुरानी है। कम-से-कम उसका आरम्भ १२वीं शताब्दी तक तो मानना ही पड़ता है।'[1]

१४वीं शताब्दी में संकलित पिंगल-ग्रन्थ 'प्राकृत पैंगलम्' में निम्नलिखित पद मिलता है—

अरे रे वाहहि कान्ह णाव छोडि डगमग कुगति ण देहि ।
तइ इथि णइहि संतार देइ जो चाहसि सो लेहि ।[2]

इस पद्य से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि नाव को डगमग करने वाले कृष्ण से गोपी कहती है कि ऐसा न करो। पहले नदी पार करा दो। फिर जो चाहते हो ले लो। कृष्ण और राधा के प्रेम से सम्बन्धित एक अन्य उल्लेख 'प्राकृत पैंगलम्' में संगृहीत है जो यहाँ दिया जा रहा है—

जिणि कंस विणासिअ कित्ति पआसिअ
मुट्ठि अरिट्ठ विणास करे गिरि हत्थ धरे ।
जमलज्जुण भंजिअ पअ भर गंजिअ
कालिअ कुल संहार करे, जस भुअण भरे ।
चाणूर विहंडिअ णिअ कुल मंडिअ
राहा मुह महु पान करे, जिमि भमर वरे ।
सो तुम्ह णराअण विप्प परायण
चित्तह चिंतिअ देउ वरा भअभीअ हरा ।[3]

यहाँ नारायण रूप कृष्ण का राधा के मुख-मधु का भ्रमर की तरह पान करने का स्पष्ट संकेत उपलब्ध होता है।

सूर-पूर्व व्रजभाषा-काव्य पर प्रकाश डालते हुए डॉ० शिवप्रसादसिंह लिखते हैं—

---

१ सूरपूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० २६० ।
२. प्राकृत पैंगलम्, पृ० ११, छन्द ९ ।
३ वही १।२०७ ।

हो गए और यह देश एक अन्य विदेशी धर्म
ईसाई धर्म की ही भाँति भक्ति पर ही आधारि
देश में विदेशी धर्म का प्रचार हुआ है तब-त
सबसे पहले बनाई है। अब तक हिन्दू धर्म का
सर्वसाधारण से काफ़ी दूर था। हिन्दू समाज
बना दिया था। ऐसी दशा में हिन्दू धर्म को
एक नये धरातल पर उतर आता—उस प
अपेक्षाओं को सन्तुष्ट किया जा सके। भागवत
का अप्रस्तुत रूप से स्वीकार वेद-काल की इ
होता है। भागवत में स्वीकृत अप्रस्तुत शृंगा
पर ही आधारित जान पड़ता है। इस प्रक
स्थापना करके हिन्दू धर्म को सजीव एवं व्याप
को साहित्यिक एवं धार्मिक मान्यता देकर ध
की आवश्यकता का भी समाधान किया। भ
आगामी काल की समान परिस्थितियों में बर

यद्यपि सूरदास और अष्टछाप के
तथापि इन कवियों की कृष्ण विषयक कल्पना
भाषा-साहित्य में कृष्ण और राधा-विषयक
प्राकृत पैंगलम के आधार पर डॉ॰ चित्रप्रभा
मानी विद्यापति और चण्डीदास के पूर्व देश
कोई रूप अवश्य ही प्रचलित था। [1]

अष्टछाप-काव्य की मूल प्रवृत्ति का
प्रेम-लक्षणा-भक्ति को ही माना है। [2] परन्तु
छाप के कवि वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी
वल्लभ द्वारा निरूपित कृष्ण के रूप का मुख
होते हैं—धार्मिक-स्वरूप और लौकिक-स्व
का दर्शन मीरा के पदों में होता है। किन्तु
का रंग ही अधिक चढ़ा हुआ है। इस कार
है या नहीं यह देखने का हम यहाँ प्रयत्न कर
का विस्तृत विवेचन पिछले पृष्ठों में किया
और कृष्ण का शृंगारिक शैली में वर्णन अ
तथा विद्यापति की पदावली में बहुत पहले
है कि दक्षिण के आलवारों ने जो भक्ति
भारत में लाए थे। उक्ति प्रसिद्ध है कि—

---

१ मराठी मनस्विता और उसका साहित्य, डॉ॰ इ
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ॰ १२७-२८।

भक्ति द्राविड़ी ऊपजी, लाए रामानन्द ।
परगट किया कबीर ने सप्त द्वीप नवखंड ॥

किन्तु प्रश्न यह उठता है कि अष्टछाप के कवियों ने राधा और कृष्ण के प्रेम को भक्ति के स्तर पर जो विराट रूप प्रदान किया है उसका आधार क्या है ? प्रायः यह कहा जाता है कि अष्टछाप की इस काव्य प्रवृत्ति पर सूफ़ी काव्य का प्रभाव है, परन्तु यह धारणा युक्ति युक्त नहीं जान पड़ती क्योंकि सूफ़ियों की भक्ति-पद्धति और कृष्ण भक्त कवियों की भक्ति पद्धति कई बातों में भिन्न है। सूर-पूर्वकालीन जैन साहित्य के अवलोकन से पता लगता है कि उसमें रूप-सौन्दर्य आकर्षण की वस्तु होने के कारण निर्वाण में बाधक होता है। इस मान्यता के कारण जैन कवियों ने शृंगार का बड़ा ही उद्दाम, वासनापूर्ण और क्षोभ-कारक चित्रण किया है। शमन की शक्ति की महत्ता का अनुमान इन्द्रिय भोग-स्पृहा की शक्ति से ही किया जा सकता है। इसीलिए जैन साहित्य में नारी के शृंगारिक रूप यौवन और तज्जन्य कामोत्तेजना आदि का अत्यन्त सूक्ष्मता से चित्रण हुआ है। डॉ० शिवप्रसादसिंह का कहना है कि 'ब्रजभाषा में कृष्ण काव्य की परम्परा काफ़ी पुरानी है। कम-से-कम उसका आरम्भ १२वीं शताब्दी तक तो मानना ही पड़ता है।'[1]

१४वीं शताब्दी में संकलित पिंगल-ग्रन्थ 'प्राकृत पैंगलम्' में निम्नलिखित पद मिलता है—

अरे रे वाहहि कान्ह णाव छोडि डगमग कुगति न देहि ।
तइ इथि णइहिं संतार देइ जो चाहइ सो लेहि ।[2]

इस पद से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि नाव को डगमग करने वाले कृष्ण से गोपी कहती है कि ऐसा न करो। पहले नदी पार करा दो। फिर जो चाहते हो ले लो। कृष्ण और राधा के प्रेम से सम्बन्धित एक अन्य उल्लेख 'प्राकृत पैंगलम्' में संगृहीत है जो यहाँ दिया जा रहा है—

जिणि कंस विणासिअ कित्ति पआसिअ
मुट्ठि अरिट्ठ विणास करे गिरि हत्थ धरे ।
जमलज्जुण भंजिअ पअ भर गंजिअ
कालिअ कुल संहार करे, जस भुअण भरे ।
चाणूर विहंडिअ णिअ कुल मंडिअ
राहा मुह महु पान करे, जिमि भमर वरे ।
सो तुम्ह णराअण विप्प पराअण
चित्तह चिंतिअ देउ वरा भअभीअ हरा ।[3]

यहाँ नारायण रूप कृष्ण का राधा के मुख-मधु का भ्रमर की तरह पान करने का स्पष्ट संकेत उपलब्ध होता है।

सूर-पूर्व ब्रजभाषा-काव्य पर प्रकाश डालते हुए डॉ० शिवप्रसादसिंह लिखते हैं—

---

१ सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० ५५ ।
२. प्राकृत पैंगलम, पृ० १२, छन्द ९ ।
३ वही १२०।२०७ ।

'प्राचीन ब्रज के संक्रान्ति-काल (१२००–१४००) के साहित्य के अध्ययन से यह मालूम होता है कि परवर्ती ब्रज की मुख्य धाराएँ—भक्ति शृंगार और शौर्य—ब्रजभाषा के आरम्भ से ही मौलिक रूप में विकसित हो रही थीं। कृष्ण-भक्ति का काव्य भागवत गीतगोविन्द अथवा विद्यापति की प्रेरणा का ही परिणाम नहीं है। 'हेम-व्याकरण' के दोहों प्राकृत पैंगलम्' की रचनाओं में कृष्ण भक्ति के बीजांकुर विद्यमान हैं। भक्ति के कई पक्षों—स्तुति, प्रणति निवेदन तथा इष्टदेव के रूप आदि—का वर्णन इन रचनाओं में बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है। शृंगार-भक्ति के सम्मिश्रण पर बहुत वाद-विवाद होता है। जयदेव कवि के 'गीतगोविन्द' में भक्ति और शृंगार के सम्मिश्रण का जो प्रयत्न हुआ है वह महत्त्वपूर्ण है। ब्रजभाषा के कृष्ण भक्ति काव्य में शृंगारिक चेतना गीतगोविन्द' का ही परिणाम नहीं है बल्कि प्रारम्भिक ब्रज में इसकी काफ़ी विकसित परम्परा थी जो सूर आदि के काव्य में प्रतिफलित हुई।'[1] इससे प्रतीत होता है कि जिस समय वल्लभाचार्य ने वृन्दावन में जाकर अपने सम्प्रदाय की स्थापना की और सूरदास आदि कवियों को कृष्ण-लीलाओं का गान करने के लिए प्रेरित किया उस समय ब्रजमण्डल राधा और कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं के वर्णनों से सुपरिचित हो चुका था। अपने पदों की रचना करते समय सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने सम्भवतः ब्रजभाषा की इसी साहित्यिक एवं लोक प्रवृत्ति को अपने सामने रखा। सगुण और निर्गुण ब्रह्म का विवेचन करके सगुणोपासना को श्रेष्ठ दिखाने के लिए सूर नन्ददास आदि भक्तों ने 'भ्रमरगीत' की जो कल्पना की है उसमें भी परम्परा-निर्वाह ही परिलक्षित होता है। दुष्यन्त के चित्त की चंचलता दिखाने के लिए सूरदास से बहुत पहले कालिदास 'भ्रमर' का प्रतीक रूप में प्रयोग कर चुके थे।[2]

पिछले अध्याय में लोकगीतों के स्वरूप और उनकी प्राचीनता पर विचार करते समय हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि मराठी के परवर्ती कृष्ण काव्य में यत्र-तत्र कृष्ण
राधा और गोपियों को लेकर शृंगार की जो थोड़ी-बहुत अभि
हिन्दी-लोकगीतों का व्यंजना हुई है उसके मूल में सम्भवतः लोक-मान्यताएँ ही रही
कृष्ण-काव्य पर प्रभाव होंगी। परन्तु मराठी की अपेक्षा हिन्दीभाषी प्रदेश में प्रचलित
होली झूला रसिया कजरी बारहमासा आदि लोकगीत हिन्दी
के कृष्ण-काव्य के अधिक निकट दृष्टिगत होते हैं।

होली—होली हिन्दुओं का एक अत्यन्त लोकप्रिय उत्सव है। यह उत्सव जितनी धूमधाम से उत्तर भारत में मनाया जाता है उतनी धूमधाम से महाराष्ट्र में नहीं। उत्तर भारत में इस उत्सव के अवसर पर जो गीत गाए जाते हैं, उन्हें होली कहते हैं। फागुन का मस्त महीना उत्तर प्रदेश की प्रकृति के अनुकूल है। इस समय किसान अपने श्रम का साकार फल निहारकर निहाल हो जाता है और हर्ष से नाचने लगता है। स्त्रियाँ और पुरुष रात रात भर होली गाते रहते हैं। यह त्योहार फागुन मास की अन्तिम तिथि को मनाया जाता है अतः भोजपुरी प्रदेश में इन गीतों को फगुआ भी कहा जाता है। ब्रज की होली अत्यन्त प्रसिद्ध है। होली और रसिया का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। होली के गीत समवेत स्वर

१ सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० १२१-२२।
२ [illegible] उपालम्भ प्रतीक, भ्रमर में • म • श • मेरेंदले, 'नवभारत' पत्रिका, १९५६।

से गाए जाने वाले गीत हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति होलिका से मानी जाती है जो प्रह्लाद की बुआ थी। इस गीत के गाने वाले दो मण्डलियों में विभक्त होकर बड़े जोर से ढोल तथा झाँझ बजाते हुए गाते हैं। पहला दल गीत की एक कड़ी गाता है तो दूसरा दूसरी कड़ी। इस प्रकार उस समय एक समाँ-सा बँध जाता है। होली गीतों में राधा-कृष्ण के होली खेलने का प्रायः उल्लेख रहता है। एक उदाहरण देखिए—

रंग डारू रे तो पै रंग डारूँ, मोकूँ भावे ना।
मोकूँ भावे ना स्याम तो पै रंग डारूँ, मोकूँ भावे ना॥
रंग डारूँ तेरे अंजन सारूँ अरे तेरे गालन पै मसका मारूँ मार।
मोकूँ भावे ना०
एड़ी-बेड़ी पगिया बाँधे, अरे तेरी पगिया पै चूनरी पारूँ पार॥
मोकूँ भावे ना०
जब दूल्हे पै डीठ परौंगो अरे तो पै रान मन-भोवन वारूँ मेरे यार।
मोकूँ भावे ना०
मोकूँ भावे ना स्याम, तो पै रंग डारूँ। मोकूँ भावे ना॥[1]

होली का गाना माघ शुक्ल पंचमी-बसन्तपंचमी से प्रारम्भ हो जाता है तथा फाल्गुन मास तक चलता रहता है। होली के दिन एक दूसरे प्रकार का गीत गाया जाता है जिसे कबीर कहते हैं। ये गीत प्रायः अश्लील होते हैं। कबीर-गीत की प्रत्येक पंक्ति इस प्रकार होती है। अररर र र र र भइया सुन लउ मोर कबीर। कबीर की टुकड़ी का अगुआ ही गाता है। होली में शृंगार रस की प्रधानता रहती है और कबीर में हास्य की।

झूला—सावन का लोक-गीत है। इन गीतों में नायिका-भेद के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इन गीतों में यदि केलि-कलामयी कामिनियों का हेला-भाव है तो प्रोषित-पति काओं के आँसुओं और परित्यक्ताओं के गहन निःश्वास तथा ईर्ष्यालु सपत्नियों के विषवमन की भी कमी नहीं है। इन गीतों में शृंगार का विशद वर्णन हुआ है। शृंगार में भी विरह का ही अधिक चित्रण हुआ है। मेरठ के आसपास के प्रदेश में इन गीतों को 'पंजाबी के गीत' भी कहते हैं। सावनी गीतों में जहाँ भी झूलनेवाली स्त्रियों के समूह का वर्णन आया है वहाँ 'सात सहेली के झूमके' शब्दों द्वारा उनकी संख्या सदैव सात बतलाई गई है मानो वे सात सहेलियाँ नहीं अपितु स्वर-सप्तक के सातों स्वरों के साकार स्वरूप ही हैं जिनके संयोग से संगीत स्वयं प्रकट हो जाता है। लोक गीतों की सामूहिक चेतना का इससे सुन्दर उदाहरण और क्या हो सकता है ?[1] ब्रजमण्डल में सावन के गीत या झूला मल्हार, हिंडोले आदि गीतों के रूप में गाए जाते हैं। इन गीतों में भी वर्षा का वर्णन पति-वियोग, आनन्द और प्रेम की प्रधानता रहती है तथा कहीं-कहीं राधा और कृष्ण की लीला के भी उल्लेख मिलते हैं जैसे—

झूला पै रानी राधिका जी, एजी कोई गावत गीत-मलार।
नैन्हीं-नैन्हीं बुँदियाँ रैनी सर जम्मीजी एजी कोई बरसत मूसलधार।

---

१ पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ११८ ।

पतुली-पकरि कर झोंटा दे रही जी, एजी कोई झुकि-झुकि कृष्ण मुरार।
पिहू-पिहू पपिहा बँसोरी करि रह्यो जी एजी कोई मय-पायस की झनकार।
कारे-कारे बदरा बैहरा मेरी बढ़ि रहे जी, एजी कोई बरसी कामिनि नार॥

ब्रज-मण्डल में कृष्ण-लीला सम्बन्धी झाँकियों में हिंडोला झाँकी का भी सम्भवतः इन्हीं लोकगीतों से सम्बन्ध है।

रसिया—यह लोकगीत अपने वैशिष्ट्य के कारण ब्रज में अत्यन्त प्रसिद्ध और प्रिय है। यह होली का प्रमुख गीत है। रसिया के विषय में डॉ॰ श्याम परमार लिखते हैं—संगीतज्ञों की धारणा है कि रसिया ध्रुपद घराने की चीज है। ध्रुपद की शैली को सम्भवतः लोक प्रचलित रसिया का शास्त्रीय संस्कार कहा जा सकता है। हिन्दुस्तानी संगीत को जो देन ब्रज-भाषा तथा स्वामी हरिदास से प्राप्त हुआ उसका श्रेय बहुत-कुछ रसिया के लोक और शास्त्रीय दोनों स्वरूपों को है। आइने-अकबरी' में दो प्रकार के गीतों का उल्लेख है—मार्ग और देसी। देसी शैली में ध्रुपद विशेषतः उल्लेखनीय है जो चार चरणों के द्वारा बिना छन्द और मात्रा की बन्दिशों के शृंगार-प्रधान विषय को व्यक्त करने की सामर्थ्य रखता है। आइने-अकबरी में जिस ध्रुपद का उल्लेख है वह कदाचित् रसिया से सम्बन्धित हो।"[1]

रसिया में शृंगार प्रधान विषयों की बड़ी ही सरस अभिव्यक्ति हुई है। गीतों का विषय मात्र राधा-कृष्ण का मनो-विनोद और प्रेम प्रसंग ही रहा है। रसिया की विशेषता है उसकी चिम-सुखम शैली। भाषा और भावों का जो ओज रसिया में मिलता है वह ब्रज के अन्य लोकगीतों में दुर्लभ है। प्रेम ही उसका मूल स्वर है और यही उसकी समूची भाव धारा पर छाया रहता है। रसिया की सरसता तथा संगीतात्मकता निम्नलिखित गीत में देखी जा सकती है—

जे आए हमारे महाराज, आज हमें छम करजे।
ए सजनी, तेरे राज में कबहु न पैरी चूरियाँ कलाइयाँ भर भरजे,
जे आए हमारे महाराज, आज हमें छम करजे।

कजरी भी सावन का ही लोकगीत है। इस शब्द की व्युत्पत्ति श्रावण मास में आकाश में आच्छादित बादलों की कालिमा से हुई है जो काजल के समान काले होते हैं। इसी काजल से कजली या कजरी शब्द बना है। मिर्जापुर की कजरी प्रसिद्ध है। वहाँ इसके दंगल भी हुआ करते हैं तथा पुरुष और स्त्रियाँ दोनों इसमें भाग लेते हैं। कजरी गीत शृंगार रस प्रधान गीत होते हैं। उनमें संयोग-शृंगार और वियोग-शृंगार दोनों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन हुआ है। गवैये दो दलों में विभक्त होकर इन गीतों को गाया करते हैं। एक प्रश्न करता है और दूसरा उसका उत्तर देता है। इस गीत की लय अत्यन्त सुन्दर और प्रभावोत्पादक होती है। माधुर्य लय और सुकुमारता का अनुभव निम्न लिखित कजरी गीत में किया जा सकता है।

कैसे खेले जइबू सावन में कजरिया बदरिया घिरि आइल ननदी।

---

१ भारतीय साहित्य अंक ३ पृ॰ ६।
२. हिन्दी साहित्य कोश पृ॰ २१५।

सूत बलमु अकेली, साथे संगीन सहेली गुजरा घेरि लीहें ।
सोपुरी डगरिया बदरिया घिरि आइल मलवी ।।

बारहमासा वह लोकगीत है जिसमें किसी विरहिणी स्त्री के वर्ष के प्रत्येक मास में अनुभूत दुखों तथा हार्दिक मनोवेदनाओं का वर्णन पाया जाता है। वर्ष के बारहों महीनों में अनुभूत दुख का वर्णन होने के कारण ही इन गीतों को बारहमासा कहा जाता है। प्रकृति वर्णन के रूप में इन गीतों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। वेदों में प्रकृति-चित्रण तथा संस्कृत काव्य का षड्ऋतु-वर्णन इसी परम्परा की ओर निर्देश करता है। परन्तु आरम्भ में ये वर्णन प्रकृति को आलम्बन मानकर ही हुए हैं। संस्कृत कवियों ने प्रकृति के उद्दीपन रूप को भी स्वीकार कर लिया था। परन्तु प्रत्येक मास का पृथक निर्देश कर पति वियोग के कारण अनुभूत दुखों का वर्णन हिन्दी बारहमासों में ही हुआ है। जायसी ने 'पद्मावत' में नागमती के वियोग का वर्णन बारहमासा के द्वारा बड़े ही मार्मिक ढंग से किया है। विद्यापति ने भी विरह का चित्रण बारहमासे की पद्धति पर किया है।

मोर पिया सखि गेल दूर देस
जोबन दए गेल साल सनेस
मास असाढ़ उनत नव मेघ
पिया बिसलेस रहओं निरथेघ
कौन पुरुष सखि कौन सो देस
करब मोय तहाँ जोगिनि बेस ।[1]

लोक-साहित्य में प्रचलित बारहमासे प्रायः आषाढ़ मास से प्रारम्भ होते हैं। इन गीतों में विरहिणी के दुख का उल्लेख मास के क्रम से होता है। जिस गीत में विरहिणी के केवल छः या चार मासों की विरहानुभूति का वर्णन होता है उसे छमासा या चौमासा कहते हैं। ब्रज अवधी मैथिली मालवी तथा भोजपुरी आदि सब बोलियों में ये गीत पाए जाते हैं।

इन गीतों के विवेचन से पता चलता है कि उत्तर भारत में अष्टछाप के कवियों के प्रादुर्भाव के बहुत पहले से ही प्रकृति और राधा-कृष्ण को लेकर संयोग और वियोग की उद्दाम भावनाओं की अभिव्यक्ति लोकरंजन के एक साधन के रूप में लोकगीतों में होती चली आ रही थी। राधा और कृष्ण को लेकर लौकिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना में सम्भवतः लोक की सहृदयता और सरलता ही व्यक्त हुई है, क्योंकि योग और दर्शन जैसी क्लिष्ट उपासना-पद्धतियों को सामान्य जनता न तो ग्रहण कर सकती है और न उन्हें ग्रहण करना उसे अभीष्ट ही होता है। वह तो सुख-दुख गीत गा-गाकर अपने संघर्षमय जीवन को अधिक सुन्दर और मुखर बनाती रहती है और इसीलिए वह अपने देवी-देवताओं की अभिव्यंजना भी लौकिक रूप में सुगमता से कर लेती है।

इन लोकगीतों में अन्तर्निहित जनता की मूर्त चेतना उत्साह तथा विश्वास के आधार पर ही कदाचित मीराबाई, सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने पद या गीत शैली में कृष्ण की लीलाओं का गुण-गान किया। उनके कृष्ण 'महाभारत' या 'भागवत' के कृष्ण की

१ विद्यापति पदावली रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा सम्पादित, द्वितीय संस्करण, पृ० २०१ ।

अपेक्षा सर्वग्राहिणी लोक-संस्कृति के अधिक अनुरूप चित्रित हुए हैं। कृष्ण-लीला-सम्बन्धी
सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों के पद नख-शिख-वर्णन मान मंगल-गीत राधा और
कृष्ण की लीलाओं का चित्रण पनघट-लीला कृष्ण-जन्म विषयक पद आदि जीवन के इतने
अधिक निकट हैं कि यह कहना कि उनका सम्बन्ध लोक गीतों से नहीं है हास्यास्पद प्रतीत
होता है। सूरदास का गोपियों का विरह-वर्णन भी बहुत-कुछ बारहमासा की ही शैली पर
हुआ है।[1] वस्तुत लोक-विश्वासों से भक्त-कवियों का अटूट सम्बन्ध रहा है। लोक-तत्व से
सन्तों का घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाते हुए डॉ० सत्येन्द्र लिखते हैं—'सन्त प्रवृत्ति मूलत लोक-
प्रवृत्ति है।' लोक प्रवृत्ति सामान्य रूप से बिना किसी प्रकार की भेद-बुद्धि रखे जहाँ-तहाँ से
जो कुछ मिलता है उसे संग्रह करती रहती है और यदि उसमें उसे आस्था और निष्ठा हुई
तो उसे सुरक्षित रखकर उसकी एक परम्परा बनाती चली जाती है। महात्माओं और
कवियों ने सन्तों की जो परम्परा दी है उससे भी यही विदित होता है कि सन्तों का स्वरूप
लोक-प्रवृत्ति के अनुकूल ढलता है। यह प्रवृत्ति सारग्राहिणी होती है।[2] ठीक यही बात भक्त-
कवियों के विषय में भी कही जा सकती है। इन लोक-विश्वासों के अनुरूप अष्टछाप के
कवियों में कृष्ण की कल्पना का आधार भागवत का दशम स्कन्ध रहा है जबकि महाराष्ट्र
के कृष्ण-कवियों ने श्रीकृष्ण के चरित्र-चित्रण के लिए महाभारत गीता और भागवत के
एकादश स्कन्ध का ही आधार लिया है। यह सच है कि हिन्दी और मराठी की काव्य-वस्तु
का वैभिन्न्य तत्कालीन परिस्थितियों को सूचित करता है पर उससे इस वस्तुस्थिति का भी
समर्थन होता है कि महाराष्ट्र मे कृष्ण-विषयक परम्परागत कल्पनाएँ ऐसी थीं जिनके कारण
यहाँ के भक्त-कवि कृष्ण के रसिक रूप की अपेक्षा उनके योगेश्वर पराक्रमी और ज्ञानवेत्ता
रूपों का ही गुणगान करने के लिए विवश हुए, क्योंकि ऐसा न करना लोक-मान्यताओं का
खण्डन करना होता। परन्तु जिस समय वल्लभ-सम्प्रदाय की स्थापना हुई उस समय उत्तर
में ऐसे लोक-विश्वास विद्यमान थे जिनमें कृष्ण के लोकरंजक रूप को ही अधिक मान्यता मिली
हुई थी। अत वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी भक्त-कवियों ने कृष्ण के इसी रूप की अपने
काव्य में अभिव्यंजना की जो जनता द्वारा सहज ही स्वीकार कर ली गई। परन्तु महाराष्ट्र
के कृष्ण सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण की अपेक्षा विट्ठल-रुक्मिणी का दाम्पत्य भाव ही अधिक
परिणामकारी हुआ। मधुरा-भक्ति की जड़ें महाराष्ट्र में गहरी नहीं पहुँच पाई।[3]

---

१ सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य शिवप्रसाद सिंह पृ० ११६।
२. साहित्य सन्देश, सन्त-साहित्य विशेषांक पृ ८१।
३ लोक साहित्याची रूप-रेखा, दुर्गा भागवत, पृ ४१०।

अध्याय—४

मराठी और हिन्दी कृष्ण-काव्य का

साम्य और वैषम्य भाव-पक्ष

काव्य के दो पक्ष माने जाते हैं—भाव-पक्ष और कला-पक्ष। भाव-पक्ष के अन्तर्गत काव्य की पृष्ठभूमि, उसकी विषय-वस्तु, चरित्र-चित्रण, प्रकृति-वर्णन, भावाभिव्यंजना, कल्पना-तत्त्व तथा रस का समावेश होता है। अतः हिन्दी और मराठी कृष्ण-काव्य के भाव पक्ष का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए इन तत्त्वों पर विचार करना आवश्यक है।

काव्य की पृष्ठभूमि

हिन्दी और मराठी इन दोनों भाषाओं के कवि भक्त पहले थे और कवि बाद में। अतः उनका काव्य बुद्धि-तत्त्व से बोझिल न होकर सीधा-सादा हृदय-जन्य काव्य है। क्योंकि जो कुछ कहा है, भक्ति-विह्वल होकर कहा है। इसीलिए उनके काव्य में प्रबन्ध-रचना के लिए अवकाश नहीं था। प्रबन्ध-काव्य की सर्जना के लिए व्यापक अनुभूति की अभिव्यक्ति और बुद्धि का गाम्भीर्य आवश्यक होता है। इन भक्त-कवियों का यह अभीष्ट नहीं था। उनके काव्य में तो भावनाओं के तीव्र क्षणों की अभिव्यक्ति आत्मनिष्ठ रूप से हुई है। यही कारण है कि इन कवियों के काव्य में आराध्य के प्रति उनकी आवेगयुक्त मनःस्थितियों का ही चित्रण हुआ है। आवेगयुक्त मनःस्थिति की अभिव्यक्ति गीतों के रूप में ही हो सकती है, क्योंकि गीति काव्य का प्राण-तत्त्व है आत्माभिव्यक्ति। यह आत्माभिव्यक्ति जितनी अधिक तीव्र होगी, गीति-काव्य उतना ही श्रेष्ठ होगा। इन सभी कवियों ने काव्य को आत्माभिव्यक्ति का साधन बनाया है और इसीलिए सन्त ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम, नामदेव, सूरदास, मीरा, नरसिंह मेहता आदि भक्त कवियों ने गेय पदों की ही रचना की है।

इन कवियों ने श्रीकृष्ण की लीलाओं को अपने काव्य का विषय बनाया है, जिनका एकमात्र आधार भागवत ही रहा है। हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों ने भागवत के एकादश स्कन्ध की अपेक्षा दशम् स्कन्ध से ही अपने काव्य के लिए सामग्री जुटाई है। 'सूरसागर' के तीन-चौथाई से अधिक भाग में दशम् स्कन्ध को ही प्रतिध्वनित किया गया है।[1] परन्तु मराठी के कृष्ण भक्त कवियों ने भागवत के एकादश स्कन्ध, गीता और महाभारत से अधिक प्रेरणा ली है। प्रवृत्ति के इस भेद के मूल में हिन्दी और मराठी प्रदेशों की विशिष्ट सांस्कृतिक,

---

१ महाकवि सूरदास, नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १४२।

राजनीतिक सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ रही हैं। परिस्थितियों की इस विभिन्नता के कारण ही मराठी कृष्ण-काव्य में भ्रमर-गीत का सर्वथा अभाव रहा है साथ ही उसमें संयोग और वियोग श्रृंगार का उतना विशद वर्णन नहीं मिलता जितना हिन्दी में।

बाल-क्रीड़ा, यशोदा, देवकी वासुदेव नन्द, साथी-संगी, ग्वाल-गोपाल

सूरदास तथा अष्टछाप के कवियों ने श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं के अनेक वर्णन किए हैं। परन्तु जितनी मार्मिकता और विभिन्नता सूरदास के वर्णन तथा चरित्र चित्रण में मिलती है उतनी हिन्दी के अन्य कृष्ण भक्त कवियों में नहीं दिखाई देती। सूर के कृष्ण अत्यन्त सौन्दर्यशाली हैं। कवि ने अनेक पदों में उनके शिशु रूप के सौन्दर्य का वर्णन किया है। घूँघर वाली कुटिल अलकों' हँसते समय दूध की चमकती हुई दँतुलियाँ' विशाल लोल लोचनों' विकट भृकुटियों और विशाल भाल मसि बिंदु के तिलक' के साथ उनके मुख के अपार सौन्दर्य पर माता यशोदा तथा अन्य ब्रज-नारियाँ अपना तन-मन निछावर करती हैं।[1] कृष्ण अत्यन्त चंचल और विनोदी हैं वे असुरों का वध करते हैं तथा अँगूठा चूसकर समस्त चराचर प्रकृति में उद्वेलन उपस्थित करते हैं। कृष्ण की आयु के साथ उनका सौन्दर्य और लीलाएँ भी बढ़ती जाती हैं। इन सब लीलाओं के वर्णन में सूरदास की दृष्टि बहुत ही पैनी रही है।

हिन्दी की ही भाँति मराठी-काव्य में भी कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं के अनेक हृदय स्पर्शी वर्णन हुए हैं। ज्ञानेश्वर कहते हैं— गोकुल में जो श्रीधर का कमल खिला है वही श्रीकृष्ण की प्रेम-मूर्ति का स्वरूप है। बड़े प्रेम से परब्रह्म ग्वाले का वेष धारण कर गौएँ चरा रहे हैं। सिर पर कम्बल ओढ़े श्रीकृष्ण एक कल्पवृक्ष के तले त्रिभंगी मुद्रा में खड़े हुए हैं। उनकी पिंडलियाँ और जाँघें सुशोभित और प्रकाशमान हैं। वे पीताम्बर बाँधे हुए हैं और उस पर रत्नजड़ित मेखला है। प्रेम-सागर को उल्लसित करने वाली वैजयन्ती माला पैरों पर लटक रही है। दाँतों की प्रभा इतनी अधिक है कि उसे पाने के लिए मानो हीरे भीख माँग रहे हों। कृष्ण के मस्तक पर फूलों के कोमल पल्लवों का गुच्छा शोभायमान हो रहा है। दोनों होंठों में मुरली दबाए वे नन्दराज की गौओं की देखभाल कर रहे हैं। उनकी जितनी सराहना की जाए थोड़ी है। मुरली के सातों छिद्रों पर नाचने वाली उनकी अँगुलियों में अँगूठियाँ अत्यन्त शोभायमान हो रही हैं। इस वेणु के मधुर स्वर ने सभी गोपिकाओं को बेध डाला है और वे कृष्ण-रूप हो उठी हैं। ऐसे इस कृष्ण को मैंने हृदय में बन्द कर रखा है।[2]

ज्ञानेश्वर का श्रीकृष्ण-वर्णन और कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं का वर्णन अत्यन्त काव्यमय और मनोहारी है। "मिट्टी में खेलने के कारण कृष्ण के बालों पर कुछ सफ़ेदी-सी छा गई है। वे अपने छोटे-से पाँव धीरे-धीरे उठा रहे हैं। शरीर का सन्तुलन ठीक से न कर पाने के कारण उनके पैर डगमगा रहे हैं कृष्ण को उठाकर गोपियाँ उन्हें चूमती हैं। इस प्रेम-सुख का कहाँ तक वर्णन किया जाए ? कृष्ण की अँगुली पकड़कर नारियाँ उन्हें सिखाने ले जाती हैं। जिस परमात्मा का ध्यान करते हुए ब्रह्मा ने अनेक युग बिता दिए हैं वही परमात्मा

१ सूरदास डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा, पृ. १४४।
२. ज्ञानेश्वरी, अभंग ११७।

आज गोपियों की गोद में खेल रहा है।[1]

नामदेव की गाथा में १८१ अभंगों में श्रीकृष्ण की बाल क्रीड़ाएँ वर्णित हैं। इनमें से पूतना-वध वन भोजन गोपियों के घर चोरी यशोदा से उनके उलहने, कृष्ण की विलक्षण शरारतें आदि का नामदेव ने बड़े ही सरस ढंग से वर्णन किया है। मुरली के प्रभाव का उन्होंने बड़ा ही साकार और सजीव चित्र खींचा है—

> मिळोनी वेंहुडे उभे वृंदावनीं। वेणु चक्रपाणी वाजवीतो ॥
> त्याचेनी नादें टाकिताति माना। वळें स्तनपाना विसरलीं ॥
> सर्व आणि व्याघ्र एके ठायीं बैसती। वाळोंहि वाहुती विसरली ॥
> हस्ती सिंह एके ठायीं बैसताती। भ्रमर गुंजती वेणुनादें ॥
> विसरली वेणी तैसे राहे कणी। करितां भोजनीं ग्रास मुखीं ॥
> पळोनि कुंभ गोपिकांचे शिरीं। यमुने चे तीरीं वेडावल्या ॥
> जाहले तटस्थ त्रिलोकींचे जीव। विसरला जीव देहभावा ॥
> नामा म्हणे व्योमीं अमरा देवांगना। पाहोनियां कृष्णा भुललाती ॥
>
> (अभंग ११५७)

(चक्रपाणि त्रिभंगी मुद्रा में खड़े होकर बाँसुरी बजा रहे हैं। गौएँ गर्दन झुकाकर तन्मय हो रही हैं और बछड़े स्तन-पान करना भूल गए हैं। बाघ और गायें एक साथ बैठ गए हैं। जल बहना बन्द हो गया है। हाथी और सिंह एक साथ बैठे हैं। वेणु निनाद से भ्रमर आकृष्ट हो उठे हैं। वंशी-निनाद सुनते ही कंघी करती हुई गोपिकाओं की कंघियाँ जहाँ की तहाँ ठहर जाती हैं और भोजन करते समय ग्रास वहीं रुक जाता है। सिर पर गगरी धारण किए गोपिकाएँ यमुना के तीर पर बौरा-सी जाती हैं। तीनों लोकों के जीव तन्मय हो गए हैं और जीव देह भाव भूल गया है। नामदेव कहते हैं आकाश में देवांगनाएँ कृष्ण को देखकर बावली हो रही हैं।)

हिन्दी कवियों की ही भाँति नामदेव ने भी गोपी-वस्त्र-हरण की कथा को लेकर काव्य रचना की है। श्रीकृष्ण जब गोपियों के वस्त्र लेकर चले जाते हैं तब गोपियाँ प्रार्थना करती हैं[2] कि हे मुकुन्द तुम हमारे वस्त्र हमें दे दो नहीं तो हम नन्द से जाकर कह देंगी। हे अच्युत, अनन्त कृष्ण गरुड़ध्वज हम सब तुम्हारी दासी हैं। ठण्ड से हमारी जान निकल रही है। तुम्हें यशोदा की शपथ है हमारे वस्त्र हमें दे दो। कुमारिकाओं की प्रार्थना सुन कर कृष्ण को हँसी आई और गोपिकाओं को उन्होंने धर्म बताना प्रारम्भ किया। "नग्न होऊनीया स्नाने जे करिती। त्यांची व्रतें होती निरर्थक ॥ (जो विवस्त्र होकर नहाते हैं उनके व्रत निरर्थक हो जाते हैं।) आखिर पानी में से निकलकर जब गोपियाँ कृष्ण को दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करती हैं तब कृष्ण उन्हें उनके वस्त्र वापस देते हैं।

कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन करते समय एकनाथ ने उनमें परमार्थ का भी पुट चढ़ा दिया है। वे कहते हैं "भेद की दीवारों का दरवाजा खोलकर कृष्ण ने माया का ताला तोड़ डाला अविद्या का छींका तोड़ लिया क्रोध की साँकल खोल दी और दम्भ रूपी घड़ा

---

[1] ज्ञानेश्वरी, अभंग १११।

[2] वस्त्रें देई आम्हां मुकुंदा। सांगों नंदा जाऊनी आम्हीं ॥
अच्युत अनंत कृष्णा गरुडध्वजा। दासी आम्ही तुमच्या सखया ॥
नामा म्हणे शीत आम्हां बाधे प्राण। यशोदेची आण तुम्हां ॥

फोड़कर प्रपंच रूपी छाछ बिखेर दी। प्रारब्ध रूपी दासी दही और कर्मण्यता-रूपी दूध-मलाई वे पी गए। द्वेष की कोठी काम की मुँदिर क्रोध से भरकर रखी हुई भलाई-बुराई रूपी घी की गगरियाँ आदि सबको कृष्ण ने चकनाचूर कर दिया।[1] कृष्ण चरित-विषयक अभंगों में एकनाथ ने हिन्दी भाषा का भी प्रयोग किया है। उन्होंने वसुदेव और देवकी की मनःस्थिति का भी बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत किया है। कंस के बन्दीगृह में देवकी को दोहद छमे हुए हैं। 'मेळवूनि लेंकुरें खेळ खेळावा साकार' उचलावा महागिरी 'जळी रिघून मथसर्प नाथावा 'कंसादिक वीर त्यांचा करावा संहार।' अर्थात् वह बच्चों को एकत्रित करके खेल खेलना चाहती है—गोवर्धन उठाना चाहती है—पानी में पैठकर कालिया को नाथना चाहती है और कंसादिक वीरों का संहार करना चाहती है। गर्भ का विचार करते ही उसे बाह्य और अन्तरंग श्रीकृष्ण से ही व्याप्त दिखाई देने लगता है। 'सबाह्य अंतरी। व्यापक श्रीकृष्ण।' कृष्ण का जन्म होते ही वह वसुदेव से कृष्ण को गोकुल में ले जाने के लिए कहती है। उत्तर में वसुदेव कहते हैं कि जब स्वयं परब्रह्म ही उनके घर आ गया है तब वे कंस का भय क्यों करें?[2] वे भगवान् की रूप-माधुरी देखते ही रह जाते हैं। कृष्ण को गोकुल ले जाने का अनुरोध करते समय देवकी की मनोदशा कवि ने 'कृष्ण न्यावा गोकुळा। पाई स्नेहाच्या शृंखळा' कहकर बड़े ही मार्मिक ढंग से चित्रित की है। कृष्ण के यमुना तीर पर पहुँचते ही यमुना हर्ष से फूल उठती है और श्रीकृष्ण चरण-वन्दनार्थ उसमें बाढ़-सी आ जाती है। कृष्ण को लिये यमुना में प्रवेश करते समय कवि ने वसुदेव की मनःस्थिति का वर्णन करते हुए कहा है—'हातीचा कृष्ण विसरून। देव देवतां होतो दीन। मोहममतेचें महिमान। ऐसे आहे।' (हाथ के कृष्ण को भूलकर वसुदेव कृष्ण की रक्षा के लिए देवताओं की मनौती कर रहे हैं। ऐसा वे मोह-ममता के कारण ही कर रहे हैं।) कृष्ण की अनेक शरारतों का गोपियों के उलाहनों का कृष्ण-विषयक यशोदा के प्रेम का वर्णन एकनाथ ने सूर जैसा ही किया है। सूरदास की ही भाँति बाल-कृष्ण के हठ का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

यशोदा म्हणे बाराधे। कृष्ण रडतो राहिना॥
कृष्णें हट्ट धरिली कैसी। चंद्र मागे खेळायासी॥
तो न ये करें! हातासी। कृष्ण रडतो राहिना॥१॥
माई! तुझी साउली सरसी। मज देई खेळायासी।
ती न ये बाळ! हातासी। कृष्ण रडतो राहिना॥२॥
आरशांतील हें धन। तें नये हाताकारण।
कृष्णें मांडिलें विदान। कृष्ण रडतो राहिना॥३॥
राधा म्हणे श्यामसुन्दरा। तुम्हीं चला माझे मंदिरा।
एका जनार्दनीं बासारा। कृष्ण रडतो राहिना॥४॥

(यशोदा कह रही है कि हे राधे! कृष्ण ने अजब हठ ठान रखा है। ये खेलने के लिए चन्द्र माँग रहे हैं और लाख समझाने पर भी चुप नहीं हो रहे हैं। बराबर रो रहे हैं। यशोदा कृष्ण को समझाती है कि चन्द्रमा तक हाथ नहीं पहुँच सकता। पर कृष्ण रोना बन्द ही नहीं

1 श्री एकनाथ यांच्या आणि कार्य, म० र० पाठक, पृ० १४० अभंग १४४-२४।
'स्वब्रह्म आमने घरी आले असतांना आता कंसाचे भय कोण बाळगणार?

करते । तभी वे माँ की परछाईं देखने के लिए माँगते हैं, पर यशोदा के समझाने पर भी कि परछाईं पकड़ी नहीं जा सकती, कृष्ण नहीं मानते और रोते रहते हैं । जब यशोदा शीशे में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब कृष्ण को दिखाती है तब भी चन्द्र पकड़ में न आने के कारण कृष्ण उस ओर ध्यान न देकर रोते रहते हैं । फिर राधा उन्हें मनाती है तथा अपने घर चलने के लिए कहती है पर कृष्ण किसी की बात नहीं मानते । हठ करते हैं और रोते रहते हैं ।)

इसी प्रकार एक अन्य पद में कवि कहता है—

माई मज मारूं नको मज मारूं नको ।
नाहीं नाहीं म्यां खादली माती ॥

(माँ ! मुझे न मारो, न मारो, नहीं नहीं, मैंने मिट्टी नहीं खाई है ।)

ज्ञानेश्वर एकनाथ और नामदेव की ही भाँति पंडित कवियों ने भी कृष्ण-रूप की माधुरी और बाल-लीलाओं का बड़ा ही सुन्दर और मर्मस्पर्शी वर्णन किया है । कृष्ण-जन्म, मृत्तिका भक्षण बाल-क्रीड़ा गोरस-हरण उखल-बन्धन वन-भुजा, वेणु-सुधा हरि-विलास इत्यादि वर्णनों के कारण ही वामन पंडित मराठी-साहित्य-संसार में अमर हो गए हैं । कृष्ण के मिट्टी खाने से यशोदा क्रुद्ध है । इस प्रसंग का सजीव वर्णन वामन पंडित ने किया है—

कर श्रीकांताचा करकमळिं माता धरि करें ।
दुजा हस्त शोभे हरिवरि उगारूनि निकरें ॥
दचकती ते ठेलीं भयचकित डोळे हरि करी ।
करी अंगमासें धरि कर दुजा जो मस्तकीं ॥[1]

(श्रीकृष्ण का एक हाथ माता जोर से पकड़ती है और थप्पड़ लगाने के लिए दूसरा हाथ उठाती हुई डाँटती है तब हरि की आँखें भय से चकित हो उठती हैं । वे भयहरण करने वाला अपना दूसरा हाथ बचाव के लिए मस्तक पर उठाये हुए हैं ।)

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट विदित होता है कि मराठी कृष्ण-काव्य में केवल कृष्ण की बाल-लीलाओं का ही वर्णन नहीं हुआ वरन् इन वर्णनों का सौन्दर्य तथा भावों का सूक्ष्म विवेचन सूरदास की ही तरह बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है । इतना अवश्य है कि इन वर्णनों में अध्यात्म का ही आरोप अधिक हुआ है । सिद्धान्त की दृष्टि से मराठी के कृष्ण गोपियों और हिन्दी के कृष्ण-गोपियों में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता परन्तु व्यावहारिक रूप से दोनों के पात्रों में तनिक अन्तर है । श्रीमद्भागवत की ही तरह मराठी के कृष्ण विशेष रूप से दास्य भक्ति के आलम्बन चित्रित हुए हैं परन्तु, सूर ने सख्य वात्सल्य और माधुर्यभावों को अधिक महत्त्व दिया है । सूर के कृष्ण का व्यावहारिक रूप अधिक निखरा हुआ है और उसमें मानवीयता का आरोप इतना प्रबल है कि कृष्ण का दिव्य रूप ढँक-सा जाता है । कृष्ण में भक्त-वत्सलता की अपेक्षा प्रेम की महत्ता स्वीकार की गई है । संक्षेप में सूर के कृष्ण अधिक मानवीय हो उठे हैं । इसी प्रकार सूर की गोपियाँ भी अधिक वाचाल हैं । उनमें वाक्चातुर्य अधिक है । वे कृष्ण को उत्तर पर उत्तर देती हुई दिखाई गई हैं । कहीं-कहीं तो उनकी प्रगल्भता बहुत अधिक बढ़ गई है । उनकी तुलना में भागवत की ही भाँति मराठी की गोपियाँ अनुशासित हैं परन्तु सूर की गोपियों की प्रगल्भता में भी ग्रामीणता

1 मृत्तिकाभक्षण, ४ ।

और सरलता की एक छाप है। मराठी में चित्रित गोपियों में लौकिक प्रेम की उत्कटता हिन्दी की ही भाँति है पर वे इस सत्य के प्रति सर्वदा जाग्रत रहती हैं कि कृष्ण परमेश्वर हैं इसीलिए उनमें सख्य की अपेक्षा दास्य भाव ही अधिक है। मराठी में भ्रमर-गीतों के अभाव का यह भी एक कारण है। मराठी की अपेक्षा हिन्दी में विशेषकर सूर का बाल-वर्णन अधिक व्यापक रूप में हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि सूर ने अपने आराध्य को मानवी रूप में देखा है और मराठी भक्त-कवियों ने मानवी रूप में देवत्व को।

मराठी और हिन्दी दोनों के कवियों ने कृष्ण के साथ-साथ यशोदा देवकी, वासुदेव नन्द तथा साथी-संगी बाल-गोपालों का वर्णन किया है। परन्तु मराठी में यह वर्णन प्रसंगवश ही हुआ है। संक्षेप में समस्त मराठी कृष्ण-काव्य में कृष्ण के सहचर बाल-गोपाल देवकी, यशोदा नन्द, वसुदेव बलराम आदि परिधि हैं और केन्द्र है स्वयं कृष्ण। हिन्दी में विशेष तथा सूरदास के वर्णन में इन पात्रों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी दृष्टिगत होता है। वास्तव में सूर ने समस्त पारिवारिक जीवन का जितना समग्र और स्वाभाविक चित्र खींचा है उतना मराठी कवियों ने नहीं।

भागवत-पुराण के दशम् स्कन्ध के (उन्तीस से तैंतीसवें अध्याय तक) पाँच अध्यायों को रास-पंचाध्यायी कहते हैं। रास-पंचाध्यायी को भागवत का प्राण समझा जाता है।

'रास-पंचाध्यायी में रास का प्रारम्भ करने के लिए श्रीकृष्ण की गोपी तथा रास-क्रीड़ा अन्तर्प्रेरणा का तथा शारदीय पूर्णिम की विभावरी का बहुत ही प्रसंग, दशम् स्कन्ध के सरस एवं काव्यमयी भाषा में वर्णन किया गया है। कृष्ण के मन शृंगार पर आक्षेप तथा में रास करने का विचार आते ही समस्त वन प्रान्त अनुराग की

उसका वादन कालिमा से अनुरंजित हो उठा। श्रीकृष्ण ने अपनी वंशी उठाकर उसका वादन आरम्भ कर दिया। वंशी सुनते ही गोपियाँ अपने समस्त कार्य-कलाप को छोड़कर वन में आ पहुँचीं। श्रीकृष्ण ने अत्यन्त सहज भाव से उन्हें पातिव्रत-धर्म का उपदेश देकर वापस लौट जाने के लिए कहा पर गोपियों ने किसी भी मर्यादा को स्वीकार नहीं किया और आत्म-विस्मृत-सी होकर वे वन में डटी रहीं। अन्त में कृष्ण ने उनके साथ मंडलाकार स्थित होकर रास किया। रास-लीला में कृष्ण और गोपियों का मिलन संयोग-शृंगार के धरातल पर विभाव अनुभाव संचारीभाव आदि के साथ वर्णित किया गया है।

रास-लीला का वर्णन हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों ने बड़े ही विशद रूप से किया है। रास-लीला को सूरदास ने 'वंशी-ध्वनि सुन गोपी-मोह' व 'रास-पंचाध्यायी 'श्रीकृष्ण विवाह' 'श्रीकृष्ण अन्तर्धान गोपी विरह 'श्रीकृष्ण मिले गोपिन को फेर रासलीला' और 'जल क्रीड़ा' इन छ शीर्षकों में विभाजित करके उसका बड़ा ही सरस वर्णन किया है।[1] नन्ददास ने 'रास-पंचाध्यायी लिखकर १७८ पदों में रास-लीला का वर्णन किया है।[2] पर, मराठी कृष्ण-काव्य में रास का लगभग अभाव-सा ही है। श्रीधर कवि ने अवश्य रासलीला का विस्तार से वर्णन किया है, पर उसमें भोग-विलास का ही प्राधान्य है, क्योंकि श्रीधर ने

१ सूरदास डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा, पृ १११।
२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ रामकुमार वर्मा, पृ ६६।

कुचमर्दन, तांबूल-भक्षण अधरामृत-पान या शारीरिक क्रीड़ाओं का भी यथेष्ट वर्णन किया है। ऐसा वर्णन करने में वामन पंडित की ही भाँति श्रीधर कवि का भी हेतु विषयीजनों को शृंगारिक वर्णनों से अपनी ओर आकृष्ट करना रहा है। कवि कहता है—

> धरी ना विषय पर मन । न करती सीमा बंधन ।
> त्यांसी शृंगार रस साधन । मन सेवी आपणांचें ॥[1]

भागवत के दशम् स्कन्ध के शृंगार पर अनेक आक्षेप हुए हैं। गोपियाँ मूलतः परकीया हैं और परकीया स्त्रियों का कृष्ण के साथ विलास लौकिक या आध्यात्मिक किसी भी दृष्टि से सामाजिक मर्यादा के अनुकूल नहीं है। रास-लीला के समय भी राधा को स्त्री-सुलभ सारी मर्यादाओं का उल्लंघन करके वे वन में आकर कृष्ण के साथ रास करती हैं। रास-लीला की परिभाषा करते हुए डॉ॰ मुंशीराम लिखते हैं—'रास शब्द रस से बना है। रसो वै सः, अर्थात् भगवान् स्वयं रस रूप हैं आनन्द रूप हैं। उपनिषद् में कहा गया है—आनन्द रूप प्रभु से समस्त प्राणी प्रकट हुए हैं। यह रस-रूप ब्रह्म केन्द्र है और उसकी परिधि है ब्रह्माण्ड का यह चक्र, जिसे उसकी लीला कहा जाता है।'[2] वे आगे कहते हैं—'बंगीय विद्वानों ने जहाँ वैष्णव भक्ति को विवेचना के आधार पर वैज्ञानिक रूप दिया है वहाँ उन्होंने रास लीला को विज्ञान-सम्मत सिद्ध किया है। इन विद्वानों की सम्मति में बाह्य जगत् में, भौतिक विज्ञान द्वारा अनुमोदित आकर्षण का एक नियम पाया जाता है। इस अनन्त आकाश में अनेक सूर्य हैं। एक-एक सूर्य के साथ कई ग्रह और उपग्रह लगे हुए हैं। सूर्य केन्द्र में है और वे समस्त ग्रह-उपग्रह उसके चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं। आकर्षण की शक्ति सबको परस्पर सम्बद्ध किये हुए है। इधर-उधर गिरने नहीं देती। रास-लीला में कृष्ण केन्द्रस्थ सूर्य हैं राधा तथा अन्य गोपियाँ ग्रह और उपग्रहों के रूप में हैं—इस विचार से भी अद्भुत एक और विचार है। भौतिकशास्त्र के आधुनिक अनुसंधानकर्ताओं ने अपनी गवेषणा द्वारा सिद्ध किया है कि प्रकृति का एक-एक अणु कई शक्तियों के समूह का नाम है। अणु का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि उसके बीच में एक केन्द्र बिन्दु है जिसके चारों ओर अनेक गति और प्रगति के तार चक्कर काट रहे हैं। इसमें अनन्त लहरें और अपरिमित कम्पन हैं। रास-लीला में वह केन्द्रीभूत कृष्ण अपने चारों ओर गोपियों के रूप में ऐसी ही लहरें उत्पन्न कर रहा है।

कुछ विद्वानों ने रास-लीला का वर्णन शाश्वत नृत्य की भावना के रूप में भी किया है। वे कहते हैं, यही तो शिव का नृत्य है। डम डम डमरू की ध्वनि इस आकाश में फैली हुई अगणित शब्द ध्वनियाँ हैं और शिव के पद-तल की कभी सम और कभी विषम गति लास्य एवं तांडव नाम के नृत्य को जन्म देती है। नृत्य का यही शाश्वत रूप रास-लीला द्वारा प्रकट किया गया है।

एक और भी विचार रास-लीला के साथ सम्बद्ध है जिसके अनुसार लीला शुद्ध रूप से अध्यात्म क्षेत्र की घटना है। अध्यात्म पक्ष में कृष्ण परमात्मा हैं और राधा तथा गोपियाँ अनेक जीव, वृन्दावन सहस्र-दल कमल है। यहीं तो आत्मा और परमात्मा का मिलन होता

---

१ श्रीधर कृत हरिविलास ७१।

२ भारतीय साधना और सूर साहित्य, डॉ॰ मुंशीराम शर्मा, पृ॰ २६५।

है। परन्तु जैसा प्रथम ही कहा जा चुका है, वैष्णव पुष्टि मार्गीय विचारों के अनुकूल आत्मा और परमात्मा मोक्ष में भी भिन्न-भिन्न रहते हैं। मुक्त जीव परमात्मा के साथ क्रीड़ा करते हैं, उसकी क्रीड़ा में भाग लेते हैं। गोपिकाएँ भी रास-लीला में कृष्ण के साथ खेल खेलती हैं।

इस विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि रास-लीला एक प्रकार का रूपक है। अमर-कोश में विशाखा नक्षत्र का एक नाम राधा भी दिया गया है। यह नक्षत्र कृत्तिका नक्षत्र से चौदहवाँ नक्षत्र है। पहले नक्षत्र-गणना कृत्तिका से होती थी। इस गणना के अनुसार विशाखा अर्थात् राधा नक्षत्र ठीक बीच में पड़ता है। वैष्णव-भक्ति में राधा कृष्ण की पूरक शक्ति मानी गई है और रास में सर्वदा कृष्ण के साथ रहती है। अतः रास-मंडल के मध्य में स्थित होने के कारण कम-से-कम रास-मंडल के अनुसार उसका प्रधान स्थान है।[1]

डॉ॰ हरवंशलाल ने कहा है कि गोपियाँ भगवान् की आनन्द रूपिणी शक्तियाँ हैं राधा भगवान् की आह्लादिनी शक्ति है इसलिए कृष्ण और गोपियाँ अभिन्न हैं। वल्लभ सम्प्रदाय में गोपिकाएँ रसात्मकता सिद्ध कराने वाली शक्तियों की प्रतीक और राधा रसात्मक सिद्धि की प्रतीक मानी गई है।

योग की दृष्टि से भी रास का महत्त्व समझा जा सकता है। अनाहतनाद ही भगवान् श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि है अनेक नाड़ियाँ ही गोपिकाएँ हैं कुण्डलिनी ही राधा है और मस्तिष्क का सहस्र-दल-कमल ही वृन्दावन है जहाँ आत्मा और परमात्मा का सुखमय मिलन होता है तथा वहाँ पहुँचकर जीवात्मा की सम्पूर्ण शक्तियाँ ईश्वरीय विभूति के साथ सुरम्य रास रचती हुई नृत्य किया करती हैं।[2]

डॉ॰ विजयेन्द्र स्नातक के मतानुसार रास-लीला ज्ञान-मार्ग, योग-मार्ग कर्म-मार्ग और भक्ति-मार्ग की चरमि है—शृंगार या काम चेष्टा का उसमें आधार स्वीकार ही नहीं किया गया है। रासलीला में उपास्य काम विजयी है इसलिए इसके द्वारा काम-विजय रूप फल प्राप्ति मानी जाती है।[3]

उपर्युक्त मतों के आधार पर यह मान भी लिया जाए कि रास-लीला एक आध्यात्मिक प्रतीक मात्र है और उसमें काम की भावना नहीं है, तब भी यह प्रश्न बना रहेगा कि भागवत में रास की योजना गोपियों के किस रूप को लेकर हुई थी? भागवत की गोपियाँ मानवी हैं या दैवी? कृष्ण और गोपियों का शृंगार मानवीय वासनाओं पर आधारित है या आध्यात्मिक है? यदि उसका स्वरूप आध्यात्मिक है तो उसमें केवल गोपियों का ही क्योंकर समावेश हुआ है?

अध्यात्म पुरुष और स्त्री में भेद नहीं मानता। रास-लीला के समय कृष्ण का वंशी वादन गोपों को क्यों नहीं आकृष्ट करता? इस प्रश्न का उत्तर तभी मिल सकेगा जब गोपियों में काम-भावना को स्वीकार किया जाए। हमारे विचार में भागवत में अध्यात्म का आश्रय लेकर इसी तत्त्व का निरूपण हुआ है। मराठी भक्त-कवियों ने इस बात को समझा है और बड़ी सतर्कता से मानव-सुलभ ऐषणाओं पर अध्यात्म की छाप दिखाई है। ज्ञानदेव कहते हैं—

---

१ मार्गीय साधना और सूर साहित्य, डॉ॰ मुन्शीराम शर्मा, पृ॰ २६०-६१।
२ सूर और उनका साहित्य, डॉ॰ हरवंशलाल शर्मा, पृ॰ ११४।
३ राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, डॉ॰ विजयेन्द्र स्नातक पृ॰ २६१।

> परिस अरी लोहतयापी लागो । लोहो मिळो का परिसाचे सोनी ।
>
> का ते मिळाशिये प्रसंगी । सोनेंच होईल ।[1]

(अरे पारस को फोड़ने के लिए भले ही लोहे का घन आ जाए, पारस के स्पर्श से वह भी सोना बन जाएगा । अर्थात् निष्काम हो जाएगा ।)

भागवत हरिवंश आदि पुराणों की रचना एक विशिष्ट धार्मिक परिस्थिति की आवश्यकता-पूर्ति के रूप में ही हुई है । भागवत-पुराण एक ही व्यक्ति की रचना प्रतीत होती है । ऐसी दशा में यदि पुराणकार ने लौकिकता का आश्रय लेकर अध्यात्म का निरूपण किया तो आश्चर्य की बात नहीं । ऐसे निरूपण में उसकी वैयक्तिक भावना भी अवश्य ही रही होगी । मधुरा भक्ति तथा भक्त की मनोदशा का विवेचन करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, 'परमेश्वर पति-रूप और हम सब पत्नी-रूप हैं । इस प्रकार की भक्ति को ही मधुरा-भक्ति कहते हैं । इस विश्व में हर समय एक ही पुरुष वास करता है । वह पुरुष है परम-पुरुष । वह सबका पति है । एक पुरुष जो कुछ प्रेम स्त्री को दे सकता है या जो प्रेम स्त्री पुरुष को दे सकती है, वह सब परमेश्वर को दे देना ही मधुरा भक्ति है । भक्ति के अनन्त स्वरूपों में यह स्वरूप सर्वश्रेष्ठ है ।' इतना ही नहीं, स्वामी विवेकानन्द आगे कहते हैं, "पति और पत्नी के रूप में होने वाली भक्ति से भी भक्त का दिल नहीं भरता क्योंकि पति और पत्नी के परस्पर प्रेम में सदाचार होता है । यद्यपि व्यभिचारी प्रेम में दुराचार का रूप विद्यमान रहता है, तथापि वह पति और पत्नी के प्रेम से अधिक उत्कट हुआ करता है और इसीलिए भक्त दुराचारी प्रेम को भी पसन्द करता है । वह नहीं जानता कि दुराचारी प्रेम का मार्ग अशुद्ध होता है ।"[2]

कृष्ण की प्रमुख सखी राधा 'विपुला दारें प्रमुखाईं रुक्मिणी, सत्यभामा-मैमुनु'

हिन्दी कृष्ण-काव्य में राधा को भगवान् कृष्ण की शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है । वह कृष्ण की प्रमुख सखी है—प्रेमिका है । वह कृष्ण के व्यक्तित्व की पूरक है । वह भोली चंचल चतुर, प्रेम-विवश और परम सुन्दरी परकीया है । कृष्ण उस पर आसक्त हैं रति, रम्भा उर्वशी, रमा आदि उसे देखकर मन में कुढ़ती रहती हैं क्योंकि वे सब कंत-सुहागिन नहीं हैं और राधा कंत को प्रिय है । वह कृष्ण के साथ रति-सुख में मग्न है । रति-सुख के उपरान्त जहाँ राधा की 'मरगजी सारी', फटी कंचुकी आलस्य भरे नैन और अटपटे बैन, उसके सहज निर्मल सौन्दर्य में किंचित् व्यतिक्रम उपस्थित करते हैं वहाँ रसिकराय को रस-दान करने का आत्म-सन्तोष और उत्फुल्लता भी उसके अंग-अंग से फूटी पड़ती है ।[3] वह मानिनी नायिका है । संक्षेप में, हिन्दी-साहित्य में राधा कृष्ण की शक्ति का प्रतीक होते हुए भी वह अपने कार्य कलाप में पूर्ण रूप से मानवी चित्रित हुई है । मराठी-काव्य में राधा के स्थान पर रुक्मिणी को महत्व मिला है । दोनों प्रदेशों के भक्तों के परस्पर सम्पर्क के परिणामस्वरूप मराठी के कृष्ण-काव्य में राधा का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ अवश्य है, पर वह नाम-मात्र के ही लिए ।

---

१ ज्ञानेश्वरी, ६-४११ ।

२ विवेकानन्द, समग्र ग्रन्थ, खण्ड ४, पृ० १५२ १५३ ।

३ सूरसागर, ना० प्र० स०, पद १११८ ।

मराठी काव्य में विठ्ठलाबाई वियोगिनी राधा का ही दूसरा नाम है पर ऐसे उल्लेख बहुत ही कम उपलब्ध होते हैं और जो हैं भी वे परवर्ती काल से सम्बद्ध हैं। वस्तुतः मराठी कृष्ण काव्य में रुक्मिणी या विठ्ठल की रखुमाई को ही विशेष रूप से मान्यता मिली है। मराठी साहित्य में रुक्मिणी-स्वयंवर पर अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं। सबसे पुराना रुक्मिणी-स्वयंवर महानुभाव पन्थ का है। महानुभाव पन्थ का प्रादुर्भाव १२वीं-१३वीं शताब्दी में माना जाता है। १२०८ शक में महानुभाव पन्थ की अनुयायिनी महदम्बा ने धवले गाए हैं। उसके धवले रुक्मिणी-स्वयंवर का पहला काव्य है। इसके बाद स्वयं महदंबा ने ही मातृकी-रुक्मिणी स्वयंवर की रचना की। महदम्बा के पश्चात् नरेन्द्र नृसिंह सन्तोष मुनि कृष्णदास आदि दस-बारह महानुभाव कवियों ने तथा एकनाथ सामराज विठ्ठल आदि दस-बारह सनातनी कवियों ने इस विषय को लेकर काव्य रचना की। अधिकतर भक्त-कवियों ने भागवत तथा पद्मपुराण का आधार लिया है। केवल एकनाथ ने हरिवंश को आधार माना है।[1]

मराठी और हिन्दी के कृष्ण-काव्य का विवेचन इस बात को सिद्ध करता है कि दोनों भाषाओं के कृष्ण-काव्य का आधार भागवत और हरिवंश-पुराण होते हुए भी दोनों काव्यों में राधा की कल्पना में महान् अन्तर है। मराठी में केवल रुक्मिणी को आदर्श भावुक और पतिव्रता पत्नी के रूप में मान्यता दी गई है और इसलिए उसमें परकीया-तत्त्व का सर्वथा अभाव अभिलक्षित होता है। पर हिन्दी में रुक्मिणी की अपेक्षा राधा को ही कृष्ण की चित्-शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। ऐसा क्यों हुआ ? विशेषतया जबकि भागवत में राधा का कोई भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। तेलुगु में भी सत्यभामा और रुक्मिणी को कृष्ण की पत्नियों के रूप में स्वीकार किया गया है। रुक्मिणी कृष्ण को अधिक प्रिय है उसका प्रेम आदर्श हिन्दू पत्नी का शुद्ध प्रेम है। उसमें आत्म-समर्पण का भाव है। सत्यभामा मानिनी है रुक्मिणी के प्रति ईर्ष्यालु है। वह कृष्ण पर सम्पूर्ण अधिकार चाहती है।

भागवत में राधा का अभाव और हिन्दी कृष्ण-काव्य में उसकी मान्यता मुख्यतः क्या इस बात को सूचित नहीं करती कि जिन परिस्थितियों में हिन्दी के कृष्ण-काव्य की रचना हुई है वे महाराष्ट्र की तत्कालीन परिस्थितियों से सर्वथा भिन्न थीं ? कई विद्वानों का मत है कि आचार्य वल्लभाचार्य द्वारा वृन्दावन में कृष्ण-सम्प्रदाय की स्थापना के कारण ही उत्तर में राधा को मान्यता मिली। स्वयं वल्लभाचार्य का अपने इष्टदेव के प्रति प्रेम राधा भाव का था। अतः आवश्यक था कि पुष्टि-मार्ग के सभी भक्त कवि परम्परा-निर्वाह के लिए राधा को स्वीकार करते। वस्तुतः पुष्टि मार्ग के सभी भक्त कवि अनिवार्यतः भक्त पहले थे। दर्शन का विवेचन करना उन्हें अभीष्ट नहीं था। इसलिए भी स्वाभाविक था कि वे अपने आराध्य देव के उसी रूप का गुण-गान करते जो उनके सामने उनके गुरु ने प्रस्तुत किया था। पर यहीं प्रश्न का समाधान नहीं हो जाता। वल्लभाचार्य का उत्तर में आकर अपना सम्प्रदाय स्थापित करना भी विचार की अपेक्षा रखता है। यह सत्य है कि व्रजमण्डल भगवान् कृष्ण की लीला भूमि था और उसे अपने सम्प्रदाय का केन्द्र बनाना वल्लभाचार्य जैसे भक्त प्रवर के लिए स्वाभाविक ही था। पर क्या यह भी सत्य नहीं है कि आचार्य वल्लभ ने जिस भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया उसके लिए केवल उत्तर की भूमि ही उर्वरा थी ? वस्तुतः उत्तर भारत

1 महाराष्ट्र साहित्य पत्रिका अंक १११, पृ० १७।

की तत्कालीन परिस्थितियाँ ही वल्लभ सम्प्रदाय की परिपुष्टि का प्रमुख कारण थीं ।

हिन्दी में राधा को परकीया नायिका स्वीकार करके कृष्ण भक्ति में संयोग शृंगार को मान्यता मिली । कृष्ण भक्ति के स्वरूप का वर्णन करते हुए डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने कहा है—"महाप्रभु वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण-पूजा का जो रूप निर्धारित किया था वह अत्यन्त आकर्षक था । वात्सल्य और माधुर्य भाव की उपासना में श्रीकृष्ण के शृंगारिक पक्ष की ही प्रधानता थी । कृष्ण का सौन्दर्य गोपियों का प्रेम कृष्ण और गोपियों का विहार ये विषय बड़ी कुशलता के साथ प्रतिपादित हुए । किन्तु इन सभी वर्णनों के प्रारम्भ में अलौकिक और आध्यात्मिक तत्त्व सन्निहित थे, शारीरिक आकर्षण के साथ आध्यात्मिक आकर्षण का भी इंगित था किन्तु यह रूप आगे चलकर स्थिर न रह सका । चैतन्य महाप्रभु ने माधुर्य भाव से श्रीकृष्ण की उपासना करके कृष्ण के दाम्पत्य प्रेम के चित्रण की सामग्री प्रस्तुत की । इस प्रेम के अलौकिक रहस्य की धारा अपने वास्तविक रूप में अधिक दूर तक प्रवाहित न हो सकी । उसके आध्यात्मिक स्वरूप का ग्रहण सभी भक्तों और कवियों से एक ही रूप में नहीं हो सका । प्रेम के रूप में प्रेम ही का पतन हुआ और उसमें सांसारिक और पार्थिव आकर्षण की दूषित गन्ध आ गई ।[1]

अक्रूर और उद्धव सन्देश
महाराष्ट्र में भ्रमर-गीत
का प्रभाव

कृष्ण-भक्ति में परकीयातत्त्व संयोग शृंगार की स्थापना और उसकी पूर्ति के लिए वियोग-शृंगार का प्रतिपादन अनिवार्य-सा हो गया । बिना वियोग के संयोग के आनन्द की तीव्रता का अनुभव नहीं किया जा सकता इस बात को भक्त-कवि पूर्ण रूप से जानते थे । हिन्दी कृष्ण-काव्य में वियोग शृंगार के प्रतिपादन के लिए कृष्ण का मथुरागमन आधार बिन्दु माना गया । वियोग के उद्दीपन का कार्य अक्रूर और उद्धव के द्वारा परिपूर्ण होता है । अक्रूर कृष्ण के भक्त हैं पर कंस की आज्ञा से उन्हें कृष्ण को मथुरा ले जाने का निष्ठुर कार्य करना पड़ता है । कृष्ण को लाने के लिए जाते समय वे शोकातुर हो जाते हैं ।[2] इसी प्रकार जब कृष्ण और बलराम को रथ में बिठाकर वे मथुरा की ओर चलते हैं तो फिर उनका हृदय दुःख से भर जाता है । वे सोचते हैं कि मैं इनकी जननी को दुखी करके घोष नारियों को व्याकुल छोड़कर, नवनीत का भोजन करने वाले अत्यन्त कोमल बालकों को कुवलय, मुष्टिक, चाणूर जैसे भयंकर शत्रुओं के पास लिये जाता हूँ । मेरे इस कार्य को धिक्कार है । मैं उसी समय क्यों न मर गया ।[3]

कृष्ण के मथुरा-गमन और अक्रूर की कथा से वियोग-शृंगार का आरम्भ होता है और उसकी चरम सीमा उद्धव-सन्देश में होती है । उद्धव अक्रूर की अपेक्षा कृष्ण के अधिक निकट हैं । वे योग और ज्ञान-मार्ग के समर्थक तथा निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं । उन्हें कृष्ण की ब्रज की प्रेम-चर्चा से कोई भी रुचि नहीं है और वे भक्ति-मार्ग द्वारा प्रतिपादित सगुणोपासना का खण्डन करने के लिए सदैव कटिबद्ध रहते हैं इसीलिए कृष्ण उन्हें 'सुमग सखा

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास डॉ॰ रामकुमार वर्मा, पृ॰ ६१८ ।
२ सूर सागर (वेंकटेश प्रेस), पृ॰ ५२५-२६ ।
३ सूरदास, डॉ॰ ब्रजेश्वर वर्मा, पृ॰ ४४१ ।

और निपट जोगी अंग' समझते हैं। कृष्ण के कहने पर वे ब्रजयामिनियों को निर्गुण ब्रह्म की उपासना का सन्देश सुनाने के लिए जाते हैं पर गोपियों के तर्क से पराजित होकर उन्हीं के रंग में रँगे वापस मथुरा लौट जाते हैं। उद्धव और गोपियों का संवाद हिन्दी-साहित्य में भ्रमर-गीत के नाम से प्रसिद्ध है। भ्रमर-गीत के प्रसंग का वर्णन लगभग सभी कृष्ण भक्त कवियों ने किया है, पर भ्रमर-गीत की रचना सूरदास ने सबसे अधिक विस्तार और तन्मयता के साथ की है। अपनी इस कथा का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए 'उद्धव आगमन हेतु' शीर्षक से वे बताते हैं कि श्रीकृष्ण को जब ब्रज की याद आई तब उन्होंने उद्धव को ब्रज भेजने का विचार किया। भ्रमर-गीत के आरम्भ में ही सूरदास सबसे पहले उद्धव के आने का समाचार सखी द्वारा राधा को ही दिलाते हैं। विरह में गोपियों का प्रेम स्थिरता प्राप्त कर चुका है, उद्धव आकर उसे चंचल कर देते हैं परन्तु यह चंचलता क्षणभंगुर है। गोपियों के गम्भीर प्रेम का परिचय पाकर उद्धव अपना समस्त ज्ञान भूल जाते हैं और निर्गुण का उपदेश छोड़ कर सगुण के चेरे बन जाते हैं।[1] भ्रमर-गीत की योजना में कृष्ण भक्त कवियों ने विरहिणी व्रजांगनाओं के हृदय की भावनाओं का बड़ा ही सूक्ष्म चित्रण किया है। भ्रमर-गीत एक ओर विरही हृदय का मार्मिक वर्णन करता है तो दूसरी ओर ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को श्रेयस्कर सिद्ध करता है। कृष्ण भक्ति-मार्ग के हिन्दी कवियों की विरह-व्यवस्था में अक्रूर और उद्धव वस्तुतः दो सोपान हैं एक विरह का वातावरण निर्माण करने में सहायक सिद्ध होता है और दूसरा वियोग की व्यंजना करने के लिए कारण बनता है।

मराठी में भ्रमर-गीत का सर्वथा अभाव है। यद्यपि अक्रूर और उद्धव दोनों पौराणिक व्यक्ति हैं और कृष्ण-कथा में इन दोनों का ही उल्लेख हुआ है तथापि मराठी कृष्ण भक्त कवियों ने विरह-वर्णन के लिए इन दोनों का उपयोग नहीं किया क्योंकि विरह-वर्णन करना उन्हें अभीष्ट नहीं था। इतना ही नहीं मराठी में कृष्ण की मधुरा भक्ति को आरम्भ से ही मान्यता नहीं मिली। मराठी के कृष्ण काव्य का मुख्य आधार भागवत का एकादश स्कन्ध महाभारत तथा गीता ही रहा है। हिन्दी-कवियों की भाँति मराठी-कवियों ने भागवत के दशम् स्कन्ध से ही अपने काव्य की प्रेरणा नहीं ली।

मुरली कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का एक अभिन्न अंग है। हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों ने मुरली का विशद वर्णन किया है। कृष्ण के प्रति सखाओं तथा गोपियों की आसक्ति दोनों मुरली के व्यापक प्रभाव से ओतप्रोत हैं। वस्तुतः कृष्ण-मुरली-गीत और उसका चरित के सम्पूर्ण काव्य में मुरली की लोक-लोकान्तरव्यापी रहस्य चराचर पर प्रभाव मयी ध्वनि निरन्तर विद्यमान रहती है। हरि जब अधर पर मुरली धरते हैं तो स्थिर चलने लगते हैं चर स्थिर हो जाते हैं पवन चकित हो जाता है यमुना का जल-प्रवाह रुक जाता है, घन मोह जाते हैं मृग-यूथ भूल जाते हैं पशु मोहित हो जाते हैं गायें विमोहित होकर मुँह में तृण दबाए रह जाती हैं। शुक-सनकादि सकल मुनि मोहित हो जाते हैं उनका ध्यान नहीं लगता।'[2] मुरली की ध्वनि से सिद्धों की समाधि भंग हो जाती है। यह है मुरली का व्यापक प्रभाव। वह अर्थ

---

१ सूरसागर (वें० प्रे०), पृ ५५१।

२ वही, पद १२१५।

चेतन, पूर्ण-चेतन सभी उसके हृदयाह्लादक प्राण पोषक, मनोहारी नाद से आनन्दित हो उठते हैं। मुरली की धुन सुनकर व्रजांगनाएँ अपनी सुध-बुध भूल जाती हैं। पपीहे टेरने लगते हैं, कोकिलें कूकने लगती हैं और मोर नाचने लगते हैं। मुरली का स्वर अध्यात्म-क्षेत्र में क्या है? कुछ विद्वानों ने मुरली ध्वनि को शब्द-ब्रह्म माना है।[1] जिस प्रकार ब्रह्म सर्वव्यापी है उसी प्रकार उसकी वाणी भी सर्वव्यापी है। अतः मुरली ध्वनि परब्रह्म का शब्द रूप है। कई विद्वानों ने इसे नाम-लीला का रूप दिया है क्योंकि भक्त नाम का जाप करते समय जिस ध्वनि का अपने अन्तःस्तल में श्रवण करता है वही तो वंशी-ध्वनि है। हठयोग में कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत होने पर जो स्फोट और नाद होता है और जो नाद ब्रह्माण्ड भर में गूँजता हुआ सुनाई पड़ता है वह भी वंशी की ही ध्वनि है। वंशी को कहीं-कहीं योग-माया के रूप में देखा गया है, जो प्रभु की अपरा-शक्ति की पर्याय है। श्रेय और प्रेय दोनों मार्ग यहीं से आरम्भ होते हैं।"[2] वैष्णव आचार्यों ने मुरली की व्याख्या इस प्रकार की है। वेणु में तीन अक्षर हैं—व × ए × णु। 'व' ब्रह्म-सुख का द्योतक है, 'ए' सांसारिक सुख को प्रकट करती है इन दोनों प्रकार के सुखों को जो 'णु' अर्थात् मात करने वाली है वह है वेणु। वल्लभाचार्य वेणुनाद का निरूपण करते हुए कहते हैं—जब भक्त को प्रभु का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है तब उसके सामने वंशी बजने लगती है।[3]

हिन्दी कृष्ण-काव्य में श्रीकृष्ण का स्वरूप मुख्यतः मोहन है। इस मोहन-स्वरूप का मुरली एक आवश्यक अंग है। रास-लीला एवं अन्य केलि-क्रीड़ाओं के लिए मुरली ही गोपिकाओं का आवाहन करती है, उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करती है। इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र में संयोग और वियोग-शृंगार की योजना में मुरली वह अलौकिक साधन सिद्ध होती है जो वेद, लोक और कुल की मर्यादा से गोपियों को मुक्त करके कृष्ण के अधीन कर देता है और साथ ही उनके इस व्यवहार को अलौकिक स्वरूप भी प्रदान करता है। गोपियाँ मुरली की सम्मोहन ध्वनि के कारण ही अपनी सुध-बुध भूल जाती हैं और इस आत्म-विस्मृति के लिए वे स्वयं उत्तरदायी नहीं हैं, मुरली उत्तरदायी है। अतः आत्म-विभोर दशा में वे मर्यादा का उल्लंघन करके जो भी कार्य करती हैं उसके लिए एकमात्र कारण मुरली है। यह सच है कि मुरली कृष्ण की सहचरी है, कृष्ण मुरली-वादन में प्रवीण हैं, पर फिर भी मुरली-वादन और उसके प्रभाव को जितनी महत्ता हिन्दी-काव्य में दी गई है उतनी मराठी में नहीं। मराठी काव्य में भी मुरली की मोहकता का पर्याप्त वर्णन हुआ है पर वह कृष्ण चरित्र के एक आवश्यक अंग के रूप में ही हुआ है। उसे विस्तार प्राप्त नहीं हो सका है क्योंकि मराठी भक्त-कवि जितने श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तों से प्रभावित हुए, उतने मुरली-वादन या उनकी केलि-क्रीड़ाओं से नहीं।

---

१ नन्ददास 'रास-पंचाध्यायी' के प्रथम अध्याय में लिखते हैं—

तब लीनी कर कमल जोग माया-सी मुरली, अघटित घटना चतुर बहुरि अधरन धर सुरली,
जाकी धुनि तें निगम अगम प्रगटित बड़ नागर। नाद ब्रह्म की जननि मोहिनी सब सुख सागर।

२ भारतीय साधना और सूर साहित्य डॉ० मुन्शीराम शर्मा पृ० १८१।

३ 'यदा यदु पुत्रः स्मितशुचि भ्रम ...' —श्रीमद्भागवत। स्कन्ध १० पूर्वार्ध अ० २१ वेणु-श्लोक ६ का सुबोधिनी भाष्य।

कृष्ण के अन्य रूप

हिन्दी कृष्ण-काव्य में कृष्ण का मनोहारी लोक-रंजक रूप अधिक चित्रित हुआ है। इस चित्रांकन में परम्परावश उनकी अलौकिक लीलाओं का भी यत्र-तत्र वर्णन हुआ है पर जितना विस्तार और मार्मिकता उनके मनमोहन रूप-वर्णन को द्वारिकाधीश अर्जुन प्राप्त हुई है उतनी उनके शौर्य-वर्णन को नहीं। इतना ही नहीं, सारथी द्रौपदी का भाई कृष्ण के परम्परागत अन्य रूपों को कृष्ण भक्त कवियों ने अपने महाभारत के कृष्ण वर्णन का विषय नहीं बनाया। कदाचित् इसलिए कि भक्त होने के कारण वे उनकी रूप माधुरी के रस से ही सिक्त होना चाहते थे और इसीलिए उन्होंने कृष्ण के द्वारिकाधीश सारथी द्रौपदी का भाई तथा महाभारत में वर्णित रूपों को अपने गुण-गान का विषय नहीं बनाया। उनके कृष्ण नन्द-नन्दन गोपाल रसिक-शिरोमणि रति-नागर, राधावल्लभ गोपी-वल्लभ, निठुर, नीरस कृष्ण हैं। इस दृष्टि से हिन्दी का कृष्ण काव्य, कृष्ण चरित्र के केवल एक ही पक्ष को लेकर विकसित हुआ है। इस विकास में भी भक्तों की निजी रुचि और भावना प्रधान रही है और कृष्ण-चरित्र की परम्परा और चरित्र का व्यापकत्व गौण। पर मराठी का कृष्ण चरित्र-चित्रण के इस दोष से मुक्त रहा है। मराठी के भक्त-कवियों ने अपने काव्य में कृष्ण के समग्र व्यक्तित्व को स्वीकार किया है। कृष्ण का दार्शनिक दृष्टिकोण उनका पराक्रम उनकी नीति उनकी शालीनता इन सबने मराठी कवियों को प्रेरणा दी है और काव्य का सृजन करके परम्परा को बनाए रखा है। इसी प्रकार भक्त और ईश्वर का परस्पर सम्बन्ध बड़ी ही मार्मिकता से द्रौपदी और कृष्ण के परस्पर सम्बन्ध में चरितार्थ होता है। द्रौपदी-वस्त्र-हरण की कथा को लेकर लगभग प्रत्येक मराठी भक्त-कवि ने भगवान् की भक्त-वत्सलता का तथा परम्परागत की रक्षा का बड़ा ही हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। मराठी के कृष्ण गीता-वेत्ता और योगेश्वर होकर भी शालीनता की मूर्ति हैं। वे छोटे-से-छोटा काम करने में भी संकोच नहीं करते। जब भोजन का आयोजन होता है तब जूठी पत्तलें उठाने का कार्य भार भी वे स्वयं ही स्वीकार करते हैं। महाभारत के युद्ध में वे अर्जुन के सारथी बन जाते हैं। सारथी का कार्य करने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता।

कृष्ण के चरित्र चित्रण के लिए हिन्दी और मराठी—दोनों भाषाओं के भक्त कवियों ने भागवत से ही प्रेरणा ली है हिन्दी कृष्ण-कवियों ने भागवत के दशम् स्कन्ध से और मराठी-कवियों ने एकादश स्कन्ध से। दशम् स्कन्ध से मराठी कृष्ण का चरित्र चित्रण कवियों ने केवल कृष्ण की बाल-लीलाएँ ली हैं। भागवत के दशम् स्कन्ध के साथ-साथ हिन्दी-कवियों ने अन्य पुराणों में वर्णित कृष्ण

कर्म-योग को गौण माना। अन्य आचार्यों ने जिस कर्म-योग का उपदेश दिया था वह क्रिया योग भजन पूजनादि में परिवर्तित हो गया, पर महाराष्ट्र ने अधिकतर गीता के निष्काम कर्म योग का ही शुद्ध रूप से उपदेश दिया है। गीता एवं उपनिषदों में वर्णित जो निष्काम कर्म योग मराठी सन्तों के सम्मुख था वह उनके काव्य में ठीक वैसा ही उतरा है। 'चतुःश्लोकी भागवत' पर भाष्य लिखते समय भी एकनाथ गीता के निष्काम कर्म-योग को नहीं भूले और इसीलिए व्यक्ति एवं समाज के सर्वांगीण विकास की ओर जितना ध्यान मराठी भक्त-कवियों ने दिया उतना अन्य किसी भी प्रान्त के भक्ति-सम्प्रदाय ने नहीं दिया।[1] इस विशिष्ट दृष्टि के कारण ही महाराष्ट्र में धर्म संघटन के प्रति विशेष रूप से जागृति दृष्टिगोचर होती है। मराठी भक्त-कवियों का उद्देश्य समाज को केवल भक्ति का उपदेश देना ही न था। अतः ज्ञानेश्वर से तुकाराम तक सभी ने अपने काव्य में धर्म-संस्थापना का उद्देश्य सामने रखा है।

हिन्दी-भक्त कवियों का दृष्टिकोण किंचित भिन्न रहा है। उन्होंने अपने काव्य का सृजन या तो स्वान्तः सुखाय किया है या आचार्यों के निर्देशन में लोकरंजन के लिए। काव्य के ये दोनों प्रकार क्रमशः मीरा तथा अष्टछाप के कवियों की कृतियों में मिलते हैं। अष्टछाप के कवि वस्तुतः भक्त-कवि थे। उनमें ज्ञान के प्रति उतनी जिज्ञासा नहीं थी जितनी भाव की विह्वलता थी। वे सब आचार्य वल्लभ के दार्शनिक सम्प्रदाय के अनुयायी थे। अष्टछाप की स्थापना करने में भी स्वामी विट्ठलनाथ का उद्देश्य भगवद्भजन द्वारा लोकरंजन करना था। अतः इन सब कवियों ने पुष्टि-मार्ग के मन्दिरों में कीर्तन करने के लिए ही अपने पद गाये थे। उनका काव्य भाव भूमि पर ही आधारित था उसे दार्शनिकता का पुट नहीं मिल सका। परिणाम यह हुआ कि भक्तों के साथ भाव की उत्कटता तिरोहित हो गई और जनता के हाथों में भक्तों द्वारा वर्णित भगवान् की केलि-क्रीड़ायें अपने लौकिक रूप में उतर आईं।

मराठी और हिन्दी के कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों की इस आधारभूत विभिन्नता के कारण ही कृष्ण विषयक उनकी मान्यताओं में भी अन्तर आ गया। मीरा के कृष्ण पूर्ण परब्रह्म होते हुए भी मीरा ने उन्हें पति के रूप में देखा और पति-परायणा पत्नी-हृदय की उत्कट भावानुभूति को अपने पदों में व्यक्त किया। अष्टछाप के कवि साम्प्रदायिकता से बद्ध होने के कारण तथा उनके काव्य का हेतु मन्दिरों में भगवान् का गुण-गान होने के कारण उन्होंने अपने अलौकिक आराध्य का लौकिक चित्र ही प्रस्तुत किया। हिन्दी के कृष्ण और विशेषतः सूरदास के कृष्ण भागवत के कृष्ण होते हुए भी उनके अपने कृष्ण हैं। वे सम्पूर्णतः मानवीय रूप में चित्रित हुए हैं पर साथ ही कवि स्थान-स्थान पर उनके अलौकिक रूप का भी स्मरण कराता रहा है। इस चित्रण में भागवत की भाँति कृष्ण का चतुर्भुज अवतार-रूप नहीं है।[2] भागवत में राधा का सर्वथा अभाव है पर अष्टछाप के कवियों ने अपने सम्प्रदाय की उद्देश्य-पूर्ति के लिए राधा को भी स्वीकार किया है। स्वयं सूरदास ने राधा को पुरुष की प्रकृति माना है। वे कहते हैं—

> प्रकृति पुरुष श्रीपति सीतापति अनुक्रम कथा सुनाई।
> सूर इती रस रीति स्याम सौं तैं ब्रजबसि बिसराई ॥[3]

---

१ भावेश्वर महाराष्ट्र धर्म, भावार्थ पुष्पांजली पृ० १११।

२ सूर और उनका साहित्य, डॉ० हरवंशलाल शर्मा, पृ० १४१।

३ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ४७३४।

सर्वाहि बसे आपुहि बिसरायो।
प्रकृति पुरुष एकहि करिजानो बातनि भेद करायो ॥[1]
प्रकृति पुरुष नारी मैं वे पति काहे भूल गई।[2]

सूरदास ने कृष्ण को साक्षात ब्रह्म के रूप में ही माना है—

ब्रजबासी पटतर कोउ नाहीं।
ब्रह्म सनक सिव ध्यान न पावत, इनकी जूठनि लै लै खाहिं ॥
धन्य नंद धनि जननि जसोदा धन्य जहाँ अवतार कन्हाई।
धन्य-धन्य वृन्दावन के तरु जहँ विहरत त्रिभुवन के राई ॥[3]

पर अनेक स्थानों पर उन्होंने विष्णु को ही महत्ता प्रदान की है। मराठी भक्त-कवियों ने कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म माना है तथा अपने सम्पूर्ण काव्य में अपने आराध्य के इस रूप को तनिक भी ओझल नहीं होने दिया। मराठी के कृष्ण भागवत की भाँति दास्य-भक्ति के आलम्बन चित्रित हुए हैं। सख्य और वात्सल्य को लेकर भी पर्याप्त अभंगों की रचना हुई है परन्तु अधिक बल दास्य भाव पर ही दिया गया है। पर सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने सख्य वात्सल्य और मधुर भावों को ही अधिक महत्त्व दिया है। 'सूर के कृष्ण का व्यावहारिक रूप अधिक निखरा हुआ है और उनमें मानवीयता का आरोप इतना प्रबल है कि उसमें अलौकिक रूप ढँक-सा जाता है। सूरदास के काव्य में भगवान् कृष्ण का अनुग्रह भक्तवत्सलता के रूप में प्रकट न होकर प्रेम के रूप में प्रकट हुआ है। यही कारण है कि यहाँ भगवत्कृपा के उल्लेख गौण-से प्रतीत होते हैं। सूर ने कृष्ण के लौकिक सम्बन्धों को लौकिक रूप ही दिया है।[4] सूर के कृष्ण न केवल काव्य के प्रधान नायक हैं वरन् कवि के इष्टदेव भी हैं। उनके स्वभाव की यह विशेषता है कि उन्हें जो जिस भाव से भजता है उसे वे उसी भाव से प्राप्त होते हैं। फलतः भक्ति-भाव की विविधता के अनुरूप उनका व्यक्तित्व भी बहुरूपों में प्रकट हुआ—दास्य भाव के आलम्बन कृष्ण पतित-पावन करुणामय भक्त-वत्सल हैं। वात्सल्य-भाव के आलम्बन कृष्ण एक अनुपम शोभाशाली नवीन-शिशु एवं सुकुमार, मनोहर क्रीड़ामय चंचल धृष्ट बालक हैं। ब्रज की सम्पूर्ण लीला में वे नन्द यशोदा तथा वात्सल्य भाव के आश्रय स्वजन परिजनों को निरन्तर इसी रूप में अपने विविध बाल-कौतुकों से सुख देते हैं। सखाओं के समक्ष बाल और पौगण्ड कृष्ण प्रिय सुहृद सहचर, सहायक और हृदयरंजक हैं। कृष्ण का अन्तिम और सबसे महत्त्वपूर्ण रूप मधुर रति का आलम्बन है। इस रूप में कृष्ण राधा के प्रेम के आलम्बन और आश्रय तथा गोपी-प्रेम के आलम्बन हैं।[5]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-काव्य में कृष्ण का परब्रह्मत्व स्वरूप राधा और गोपियों के परकीया तत्त्व एवं मधुर रति भाव के कारण लौकिक धरातल पर उतर आया पर मराठी काव्य में पुरानी परम्परा निर्बाध गति से बहती रही।

१ सूरसागर, ना. प्र. स. पद १३०८।
२ वही, पद ११८।

ज्ञानदेव एकनाथ आदि के कृष्ण परब्रह्म-रूप हैं। वे रस के सागर हैं, भक्त-वत्सल हैं तत्पर हैं शूर हैं, नीति-निपुण और राजनीति-विशारद हैं। एकनाथ नामदेव और तुकाराम ने भी जहाँ कृष्ण-गोपी प्रेम की चर्चा की है वहाँ भी वे कृष्ण के परब्रह्म-रूप को नहीं भूले हैं। एकनाथ कहते हैं—

कैसे मी म्हणे आत्मारामु। तेथ केवीं रिघे बाहुजा कामु।
माझे कामें गोपिका निष्कामु। काम संभ्रमु त्यां नाहीं॥
जो जोगी स्मरे माझे नामु। तिसते पापूं न शके कामु।
तेथ मी स्वयें पुरुषोत्तमु। तेथ कामकर्म रिघेना॥[1]

अर्थात्—

कृष्ण के सहवास में प्रत्यक्ष काम भी निष्काम बन जाता है फिर भला गोपियों को काम की बाधा कैसे हो सकती है। इसी प्रकार नामदेव का एक अभंग देखिए—

धन्य त्या गोपिका धन्य त्यांचें पुण्य।
गोविंदाशी कृष्ण पूर्णब्रह्म॥
नामा म्हणे होय कामाची ते पूर्ती।
नव्हे वीर्यच्युति गोविंदाची॥[2]

अर्थात्, गोपिकाओं का काम कृष्ण ने शान्त किया पर शारीरिक क्रिया से नहीं क्योंकि इस काम-शान्ति में गोविन्द की 'वीर्यच्युति' नहीं हुई। नरेन्द्र के रुक्मिणी-स्वयंवर के कृष्ण भी ईश्वर-रूप आदर्श पुरुष और पति-रूप हैं। 'शिशुपाल-वध' के रचयिता भास्कर भट्ट ने भी कृष्ण का यही रूप अपने सम्मुख रखा है। 'शिशुपाल-वध' शृंगार-प्रधान ग्रन्थ है पर शृंगार का आश्रय कवि ने अपने तत्त्व-निरूपण के लिए ही लिया है। अतः शृंगार का यथेष्ट वर्णन करते हुए भी कवि का कृष्ण-चरित्र चित्रण लौकिकता के रंग में नहीं रंगा है।

'वत्सहरण' के रचयिता दामोदर पंडित के कृष्ण भी शान्त रस के ही अधिष्ठाता हैं। कृष्ण के चरित्र-चित्रण की इसी परम्परा का पालन वामन पंडित श्रीधर, मोरोपंत आदि ने भी किया है।

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति और मानव का सम्बन्ध अनादि-काल से चला आ रहा है। इस अनादि सम्बन्ध के कारण ही मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति सदैव सजग रही है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है— 'मनुष्य शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध का विच्छेद करने से अपने आनन्द की व्यापकता को नष्ट करता है। बुद्धि की व्याप्ति के लिए मनुष्य को जिस प्रकार विस्तृत और अनेकरूपात्मक क्षेत्र मिलता है उसी प्रकार भावों की व्याप्ति के लिए भी।'[3] 'कविता की आत्मा भाव है और भावों का परिष्कार प्रकृति के विविध रूपों तथा व्यापारों के साथ सामंजस्य होने पर ही सम्भव है।'[4] इसीलिए काव्य में प्रकृति का चित्रण अनायास ही हो जाता

---

१ एकनाथी भागवत, १९ २४-२५।
२ अभंगगाथा (आपटे), अभंग, १६१८।
३ चिन्तामणि दूसरा भाग पृ ५।
४ सूर और उनका साहित्य, डॉ० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ५१४।

है। कवियों की विभिन्न प्रवृत्तियों, रुचियों तथा अनुभूतियों के कारण प्रकृति का चित्रण भी अनेक प्रकार से हुआ है। प्रकृति चित्रण को दो मुख्य विभागों में बाँटा जा सकता है—आलम्बन के रूप में और उद्दीपन के रूप में। संस्कृत के कवियों ने प्रकृति का चित्रण इन दोनों रूपों में किया है। कालिदास के 'रघुवंशम्' और 'कुमारसम्भवम्' में प्रकृति का सुन्दर वर्णन हुआ है। 'मेघदूतम्' का 'पूर्वमेघ' तो उत्तर भारत का सजीव प्राकृतिक चित्र ही है। उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में प्रकृति का उद्दीपन-रूप में अधिक चित्रण हुआ है और अनेक प्रवृत्तियों के साथ हिन्दी और मराठी ने यह प्रवृत्ति भी संस्कृत से ही ग्रहण की है। हिन्दी में कृष्ण भक्त कवियों के पहले प्रेम-मार्गी कवियों ने एक ओर प्रकृति में परमात्मा की रहस्यमय सत्ता का वर्णन किया है और दूसरी ओर लौकिक रूप-वर्णन में प्रकृति के व्यापारों को उद्दीपन रूप में ग्रहण किया है।

सूरदास के कृष्ण व्रज में अवतरित हुए थे तथा उनके व्यक्तित्व का विकास भी प्रकृति की ही गोद में हुआ था। प्रकृति का उन्मुक्त क्षेत्र ही उनकी बाल-लीलाओं तथा केलि क्रीड़ाओं का रंगस्थल था। गो-चारण, असुर-वध, गोवर्धन धारण, रास-लीला तथा राधा और गोपियों के साथ रति क्रीड़ाएँ ये सब प्रकृति की गोद में ही सम्पन्न हुई थीं। कदम्ब के वृक्ष, करील के निकुंज और कालिन्दी कछारों का कृष्ण चरित से अटूट सम्बन्ध है। साथ ही व्रज भूमि कवि की अपनी भूमि थी। कवि के प्रत्येक परमाणु में प्रकृति-तत्त्व व्याप्त था। कवि कहता है—

कहाँ सुख व्रज को सौ संसार।
कहाँ सुखद बंसीबट जमुना, यह मन सदा विचार।
कहाँ बन धाम कहाँ राधा संग, कहाँ संग व्रज बाम।
कहाँ रस रास बीच अन्तर सुख कहाँ नारि तन ताम।
कहाँ लता तरु-तरु प्रति झूलनि कुञ्ज-कुञ्ज नव धाम।
कहाँ विरह सुख बिन गोपिन संग सूर स्याम मन काम।[1]

सूरदास ने प्रकृति की गोद में विचरण करने वाले गोपाल-कृष्ण को ही अपने काव्य का नायक बनाया है। उनके आराध्य गीता के योगेश्वर कृष्ण अथवा महाभारत के राज नीति-विशारद कृष्ण नहीं हैं। सत्य तो यह है कि राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का प्रकृति से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रकृति-वर्णन के बिना राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं एवं व्यापारों का वर्णन किया ही नहीं जा सकता। इसीलिए सूरदास को अपने नायक कृष्ण के जीवन के साथ यमुना, कदम्ब, कुंज, ऋतु-परिवर्तन, दावानल और न जाने प्रकृति के कितने अंग गूँथ देने पड़े।[2] व्रज की प्रकृति ने उन्हें केवल उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के लिए ही सामग्री नहीं दी वरन् वह उनके काव्य के केन्द्र में भी प्रतिष्ठित हो गई है।[3] सूरदास के सभी पात्र प्रकृतिमय हैं। कृष्ण के वियोग में गोपियों की ही भाँति प्रकृति भी पूर्ण वियोग का अनुभव करती है और संयोग में पूर्ण संयोग का। सूर के पात्रों की मनोदशाओं के वर्णन में प्रकृति

१ सूरसागर (सभा) पद ४ ३४।
२ सूर साहित्य की भूमिका डॉ॰ रामरतन भटनागर, पृ॰ ११०।
३ वही, पृ॰ १११।

के विभिन्न रूप और व्यापारों का भी अनायास ही समावेश हो गया है। कहीं-कहीं आलम्बन रूप में भी प्रकृति का वर्णन हुआ है—

बिगसीं कुहकुहानी, चंद की ज्योति पुरानी
रजनी बिहानी, प्राची पियरी प्रभात की।
तारिका दुरानी, तम घट्यौ तमचुर बोले,
भवन भनक परी ललिता के तात की।
भृंग मिले मालती, बिछुरी जोरी कोक मिले,
उतरी पनच अब काम के कमान की।
प्रगटत आए गृह, बहुरि उगत भानु
उठौ प्राननाथ महा बान मनि जानकी।[1]

दूसरा पद देखिए—

जागिए ब्रजराज कुँवर, कमल-कुसुम फूले।
कुमुद-वृन्द संकुचित भये, भृंग लता भूले।
तमचुर खग रोर सुनहु बोलत बनराई।
राँभति गो खरिकनि में, बछरा हित धाई।
बिधु मलीन, रवि प्रकास गावत नर नारी।
सूर स्याम प्रात उठौ, अम्बुज कर धारी।[2]

इसी प्रकार मेघों के उमड़-घुमड़कर घिरने का वर्णन निम्नलिखित पद में हुआ है—

आयौ महा मेह घिरी आयौ।
घर कौं गाइ बहोरौ मोहन, ग्वालनि टेरि सुनायौ।
कारी घटा धुधुम देखियत, अति गति पवन चलायौ।
चारौं दिसा चितै किन देखहु, दामिनि कौंधा लायौ।
अति घनस्याम सुदेस सूर-प्रभु, कर गहि सैल उठायौ।
राखे सुखी सकल ब्रजबासी, सुरपति गरब नसायौ।[3]

पावस का भी कवि ने बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। सावन का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

ऐसे के भावैं री दिन सावन के।
हरित भूमि भरे सलिल सरोवर, मिटे मग मोहन आवन के।
दादुर मोर सोर चातक पिक, सूही निसा सिरावन के।
बरषत कहूँ घन घुमड़ि दामिनी, मदन धनुष धर धावन के।
पहिरि कुसुम सारी कंचुकि तन, भू बनि भू बनि गावन के।
सूरदास-प्रभु तुमहु परत क्यौं लोक त्रिगुन सिर रावन के।[4]

---

१ सूरसागर (सभा) पद १९२७।
२ वही, पद ८२०।
३ वही, पद १४७६।
४ सूरसागर (सभा) पद ३३१४।

है। कवियों की विभिन्न प्रवृत्तियों निरीक्षणों रुचियों तथा अनुभूतियों के कारण प्रकृति का चित्रण भी अनेक प्रकार से हुआ है। प्रकृति चित्रण को दो मुख्य विभागों में बाँटा जा सकता है—आलम्बन के रूप में और उद्दीपन के रूप में। संस्कृत के कवियों ने प्रकृति का चित्रण इन दोनों रूपों में किया है। कालिदास के 'रघुवंशम्' और 'कुमारसम्भवम्' में प्रकृति का सुन्दर वर्णन हुआ है। 'मेघदूतम्' का पूर्वमेघ तो उत्तर भारत का सजीव प्राकृतिक चित्र ही है। उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में प्रकृति का उद्दीपन रूप में अधिक चित्रण हुआ है और अनेक प्रवृत्तियों के साथ हिन्दी और मराठी ने यह प्रवृत्ति भी संस्कृत से ही ग्रहण की है। हिन्दी में कृष्ण भक्त कवियों के पहले प्रेम-मार्गी कवियों ने एक ओर प्रकृति में परमात्मा की रहस्यमय सत्ता का वर्णन किया है और दूसरी ओर मौलिक रूप-वर्णन में प्रकृति के व्यापारों को उद्दीपन रूप में ग्रहण किया है।

सूरदास के कृष्ण ब्रज में अवतरित हुए थे तथा उनके व्यक्तित्व का विकास भी प्रकृति की ही गोद में हुआ था। *प्रकृति का उन्मुक्त क्षेत्र ही उनकी बाल-लीलाओं तथा केलि* क्रीड़ाओं का रंगस्थल था। गो चारण असुर-वध गोवर्धन धारण रास-लीला तथा राधा और गोपियों के साथ रति क्रीड़ाएँ, ये सब प्रकृति की गोद में ही सम्पन्न हुई थीं। कदम्ब के वृक्ष करील के निकुंज और कालिन्दी कछारों का कृष्ण चरित से अटूट सम्बन्ध है। साथ ही ब्रज-भूमि कवि की अपनी भूमि थी। कवि के प्रत्येक परमाणु मे प्रकृति-तत्त्व व्याप्त था। कवि कहता है—

कहाँ सुख ब्रज को सौ संसार।
कहाँ सुखद बंसीवट जमुना यह मन सदा विचार।
कहाँ बन धाम कहाँ राधा संग, कहाँ सग ब्रज बाम।
कहाँ रस रास बीच अन्तर सुख कहाँ नारि तन ताम।
कहाँ लता तरु-तरु प्रति झूमनि कुंज-कुंज नव धाम।
कहाँ विरह सुख बिन गोपिन सग सूर स्याम मन काम।[1]

सूरदास ने प्रकृति की गोद में विचरण करने वाले गोपाल-कृष्ण को ही अपने काव्य का नायक बनाया है। उनके आराध्य गीता के योगेश्वर कृष्ण अथवा महाभारत के राज नीति-विशारद कृष्ण नहीं हैं। सत्य तो यह है कि राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का प्रकृति से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रकृति-वर्णन के बिना राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं एवं व्यापारों का वर्णन किया ही नहीं जा सकता। इसीलिए सूरदास को अपने नायक कृष्ण के जीवन के साथ यमुना कदम्ब कुंज ऋतु-परिवर्तन वातावरण और न जाने प्रकृति के कितने अंग गूँथ देने पड़े।[2] ब्रज की प्रकृति ने उन्हें केवल उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के लिए ही सामग्री नहीं दी वरन् वह उनके काव्य के केन्द्र में भी प्रतिष्ठित हो गई है।[3] सूरदास के सभी पात्र प्रकृतिमय हैं। कृष्ण के वियोग में गोपियों की ही भाँति प्रकृति भी पूर्ण वियोग का अनुभव करती है और संयोग में पूर्ण संयोग का। सूर के पात्रों की मनोदशाओं के वर्णन में प्रकृति

१ सूरसागर (सभा) स्क० ४ ह४।
२ सूर साहित्य की भूमिका डॉ. रामरतन भटनागर, पृ. ११०।
३ वही, पृ. १११।

के विभिन्न रूप और व्यापारों का भी अनायास ही समावेश हो गया है। कहीं-कहीं आलम्बन रूप में भी प्रकृति का वर्णन हुआ है—

फिरई चुहचुहानी, चाँद की ज्योति पुरानी
रजनी बिहानी, प्राची पियरी प्रवान की।
तारिका दुरानी, तम भट्‌यो, तमचुर बोले,
श्रवन भनक परी ललिता के तान की।
भूँ न मिले मारका, बिछुरी जोरी कोक मिले
उतरी पनच सब काम के कमान की।
प्रफुलित भाए पुहु, बहुरि प्रकाश भानु
उठो प्राणनाथ महा जान मनि जानकी।[1]

दूसरा पद देखिए—

जागिए, व्रजराज कुँवर, कमल-कुसुम फूले।
कुमुद-वृन्द संकुचित भये, भृंग लता भूले।
तमचुर खग रोर सुनहु बोलत बनराई।
राँभति गो खरिकनि में, बछरा हित धाई।
बिधु मलीन रवि प्रकास गावत नर नारी।
सूर स्याम प्रात उठौ, अम्बुज कर धारी।[2]

इसी प्रकार मेघों के उमड़-घुमड़कर घिरने का वर्णन निम्नलिखित पद में हुआ है—

गाजो महा मेह घिरि आयो।
घर की बाट बहोरौ गोकुल, म्वालनि टेरि सुनायो।
कारी घटा कुसुम देखियत, अति गति पवन चलायो।
चारौं दिसा चितै किन देखहु, दामिनि कौंधा लायो।
अति घनस्याम सुदेस सूर-प्रभु, कर मह्दि सैल उठायो।
राखे सुखी सकल ब्रजवासी, सुरपति गरब नवायो।[3]

पावस का भी कवि ने बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। सावन का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

कैसे के भरिहैं री दिन सावन के।
हरित भुमि भरे सलिल सरोवर, मिटे मग मोहन आवन के।
दादुर मोर सोर चातक पिक, सुही निसा सिरावन के।
गरज चहुँ घन घुमड़ि दामिनी मदन धनुष धर आवन के।
चहुँदिर कुसुम सारो कंचुकि सम, चु बनि चु बनि गावन के।
सूरदास-प्रभु तुमहु मदन क्यों लोक तिपुन तिर रावन के।[4]

---

१ सूरसागर (सभा) पद २८६७।
२ वहीं, पद ८२०।
३ वहीं, पद १४८६।
४ सूरसागर (सभा) पद ३३३४।

इसी प्रकार सूरदास के काव्य में शरद् आदि ऋतुओं का भी बड़ा ही सुन्दर दृश्य चित्रित हुआ है।

सूर का प्रकृति-वर्णन यद्यपि उद्दीपन-रूप में ही हुआ है तथापि वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसमें वह मनोदशा है जो मानव को यहाँ की संकुचित परिधि से निकालकर विश्व के पदार्थ-मात्र से तादात्म्य स्थापित करने के योग्य बनाती है और प्रकृति के विभिन्न पदार्थों में प्राण प्रतिष्ठा कर उन्हें मानव का अनुभूतिशील हृदय प्रदान करती है। तभी तो कृष्ण के वियोग में कालिन्दी की ऐसी दशा हो जाती है कि वह विरहिणी गोपियों की उपमान बन जाती है।[1]

देखियति कालिन्दी अति कारी।

कहौ पथिक कहियौ उन हरि सौं भई विरह जुर जारी।[2]

सूरदास ने अलंकार के रूप में भी प्रकृति का प्रयोग किया है। उनकी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ बहुत ही सुन्दर बन पड़ी हैं। 'अद्भुत एक अनूपम बाग' वाला उनका पद तो अतिशयोक्ति में अपना सानी नहीं रखता। परन्तु उनके अधिकतर उपमान परम्परानुकूल तथा कवि-समय सिद्ध ही हैं। कई स्थानों पर सूरदास ने उपमा और उत्प्रेक्षा लादने की भी भरसक चेष्टा की है जिसके कारण उनकी कल्पना क्लिष्ट भी हो गई है।[3] जैसे 'हरि कर राजत माखन रोटी के प्रसंग में मनो बराह भूधर-सह पृथ्वी धरी दसनन की कोटी।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि सूरदास ने भावों के उद्दीपन के लिए ही प्राकृतिक वातावरण उपस्थित किया है। प्राकृतिक दृश्य कवि की भावना और कल्पना को सजग और मूर्त करते हैं। अतः प्रकृति चित्रण की विविधता उनके काव्य में नहीं मिल सकती। फिर भी उनके चित्रणों में सौन्दर्य-प्रियता के प्रचुर प्रमाण हैं।[4]

सूरदास की ही भाँति विद्यापति ने भी उद्दीपन विभाव में ही वसन्तादि का चित्रण किया है। एक उदाहरण देखिए—

बाल बसन्त तरुन भए धाओल बढ़ए सकल संसारा।
दखिन पवन घन अंग उगामए किसलय कुसुम परागे
सुललित हार मजरि घन कज्जल अँखितो अंजन लागे।
नव बसन्त रितु अनुसर जौवति विद्यापति कवि गावे
राजा सिवसिंघ रूप नरायन सकल कला मन भावे।

मीराबाई राजस्थान की रहने वाली थीं। उनकी लीला-क्रीड़ा राजस्थान में ही सम्पन्न हुई थी यद्यपि अन्तिम समय उन्होंने द्वारकाधाम में ही व्यतीत किया था। राजस्थान मरुस्थल है तथा बालुकामय अनुर्वर क्षेत्र है, जहाँ वर्षा अति विरल है। इसीलिए वर्षा में पिया की आगमन-वार्ता की कल्पना करके मीरा कहती है—

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज।
महल चढ़-चढ़ जोऊँ मेरी सजनी कब आवें महाराज।

१ सूर और उनका साहित्य डॉ. हरवंशलाल शर्मा, पृ. ३२१।
२. सूरसागर (सभा) पद १८ ६।
३ सूर और उनका साहित्य, डॉ. हरवंशलाल शर्मा, पृ. ३२४।
४ सूरदास, डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० ४२८।

दादुर मोर पपइया बोले कोयल मधुरे साज।
उमंग्यो इन्द्र चहुँ दिस बरसै दामिन छोड़ी लाज।
धरती रूप नवा नवा धरिया इन्द्र मिलन के काज।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर, बेग मिलो महाराज॥

बसन्त और होली का वर्णन करते हुए मीरा कहती है—

फागुन के दिन चार रे, होरी खेल मना रे।
बिन करताल, पखावज बाजै अनहद की झनकार रे॥
बिनसुर राग छतीसू गावै रोम-रोम रग सार रे।
सील संतोख की केसर घोली प्रेम प्रीत पिचकार रे॥
उड़त गुलाल लाल भयो अम्बर बरसत रंग अपार रे।
घट के सब पट खोल दिए हैं लोक लाज सब डार रे॥
होरी खेलि पीव घर आए सोइ प्यारी पिय प्यार रे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण-कँवल बलिहार रे॥

इस प्रकार मीरा ने भी प्रकृति-वर्णन उद्दीपन के रूप म ही किया है। वस्तुतः हिन्दी क सभी कृष्ण भक्त कवियों ने अपने आराध्य कृष्ण को परमेश्वर मानते हुए भी संयोग और वियोग शृंगार की योजना द्वारा अपने इष्टदेव के अलौकिक रूप को लौकिकता प्रदान की है, जिसके परिणामस्वरूप प्रकृति के प्रत्येक आह्लादकारी परिवर्तन के साथ-साथ उनके हृदयों में उमंग उठी और उनका मानस अपने प्रिय से मिलने के लिए विह्वल हो उठा। मीरा के प्रकृति वर्णन में नवविरही की यही मनोदशा व्यक्त हुई है। सूर आदि अष्टछाप के कवियों तथा विद्यापति की यही मनोदशा राधा और गोपियों के मनोभावों में अभिव्यक्त हुई है। इस दृष्टि से मराठी भक्त कवियों का प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण कुछ भिन्न-सा रहा है। उन्होंने कृष्ण के रसिक-शिरोमणि रूप को स्वीकार नहीं किया है और इसीलिए माधुर्यभाव की व्यंजना के लिए उन्होंने हिन्दी-कवियों की भाँति राधा और अन्य गोपियों का आश्रय नहीं लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके काव्य में प्रकृति का जहाँ कहीं भी वर्णन हुआ है वह प्रसंगानुसार और स्वाभाविक है। उद्दीपन के रूप में प्रकृति का वर्णन भी उन्होंने किया है और वह अत्यन्त मनोहर बन पड़ा है। वास्तव में ये कवि चराचर विश्व में एक हरि को ही देखते हैं वहाँ प्रकृति का अलग अस्तित्व ही नहीं रहता। ज्ञानेश्वर क बड़े भाई निवृत्तिनाथ कहते हैं—

हरिवीण न दिसे जनवन आम्हां नित्य तो पूर्णिमा षोडशकळी॥
चन्द्र सूर्य रश्मी न देखो तारांगणें। अवघा हरि होवें हि पेखो॥
न देखो हे पृथ्वी आकाश पोकळी, सरसाते गोपाळी घुमघुमीत॥[1]

(सोलह कलाओं के पूर्णावतार श्रीकृष्ण के अतिरिक्त जन-वन में हमें और कुछ भी नहीं दिखाई देता। हमारे सम्मुख न तो चन्द्र है न सूर्य न रश्मि और न तारे। हम तो समस्त पृथ्वी और आकाश में गोपाल को ही व्याप्त देखते हैं।

मराठी कृष्ण-काव्य में प्रकृति का आश्रय उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं और रूपकों के

1 सकलसंत गाथा, आवटे, श्री ज्ञानेश्वर महाराजांच्या गाथा।

लिए भी किया गया है। महानुभाव पंथ के सुविख्यात कवि दामोदर पंडित कृष्ण का वर्णन करते हुए कहते हैं—

इन्द्रनीलाची दीप्ती नीलोत्पलाची कांती
एकवटली-तैसी सांवळी श्रीमूर्ति मिरवतुसे ॥[१]

(साँवली श्रीमूर्ति ऐसी दिखाई दे रही है मानो इन्द्रनील की दीप्ति तथा नीलकमल की कान्ति ही उसमें आ मिली हो।)

जीव और शिव के मिलन का वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वर कहते हैं—

पडतां महोदधीसी। गंगा वेगु सांडि जैसी।
का कामिनी कांतापासी। स्थिर होय (१८- १०८१)

(सागर से मिलते ही जैसे गंगा का प्रवाह शान्त हो जाता है उसी प्रकार पति से मिलते ही स्त्री स्थिर हो जाती है।)

प्रकृति के आलम्बन रूप में वर्णन भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। मुरलीवादन के चराचर पर प्रभाव का वर्णन करते हुए एकनाथ कहते हैं—

मुरलिकेसे वेणुनादें। वेणु वाजविला गोविंदें ॥
पांगुळलें यमुनाजळ। पक्षी राहिले निश्चळ ॥[२]

(कृष्ण की बंसी के निनाद ने सबको मोहित कर लिया है। यमुना-जल का प्रवाह रुक गया और पक्षी निश्चल हो गए।)

इसी प्रकार मिळोबा का कथन है—

वेणु वाजवीत यमुनेच्या तटीं। उभा कान्हया सांवळा जगजेठी ॥

× × ×

पवन निश्चल होऊनियां ठेला। सूर्य अस्तमाना जाऊं विसरला ॥
वासरें न पिती देहभाव ठेला। मुखींचा कवळ गाईमुखीं राहिला ॥[३]

(यमुना के तीर पर साँवले कृष्ण खड़े मुरली बजा रहे हैं। मुरली ध्वनि के कारण पवन शीतल होकर बहने लगा, सूर्य अस्त होना भूल गया बछड़ों ने मुँह से स्तन छोड़ दिया और गौओं के मुँह का ग्रास मुँह में ही रह गया।)

मराठी के अन्य प्राचीन कवियों की अपेक्षा रुक्मिणी-स्वयंवर के रचयिता महानुभाव कवि नरेन्द्र का प्रकृति की ओर अधिक ध्यान गया है। मुक्तेश्वर के काव्य में भी प्रकृति के कई वर्णन उपलब्ध हैं पर उनसे भी अधिक प्रकृति-वर्णन नरेन्द्र ने किया है। ये वर्णन कहीं मूल दृष्टि से न होकर उद्दीपन रूप में ही अधिक हुए हैं। नरेन्द्र का चन्द्रोदय-वर्णन सर्वो स्पष्ट बन पड़ा है। चन्द्रोदय के कारण रुक्मिणी के हृदय में उद्भूत बेचैनी चिन्ता तथा विरह-सन्ताप की वृद्धि आदि का कवि ने बड़ा ही उत्कृष्ट वर्णन किया है। इसी प्रकार चाँदनी की शुभ्रता का वर्णन कवि ने बड़ी ही निपुणता से किया है। कवि कहता है—

भु गोलोकासीं सिंचारसाची रजनी तैसीराति दीसताये चांदिणी
की गगना पासली पवसनी : कमल-रसाची

१ वत्सहरण दामोदर पंडित कृत, ओवी ११४।

कीं छाया—पृथ्वीयेचा पोकळी कापुराची सोवाळी
कीं गगन भरलें कळियानी मृणालाची
कीं श्रीकृष्णाचा देखावया अवतार हर्ष्ये आला क्षीर-सागर
तैसा चांदिणेयाचा निखाळ : जेथ रत्नें वर्तेंची
गगन-सरोवरीचे राजहंस तैसे चांदणेनि दिसती सारस
कीं ते धौति साधिताय आकास चंद्र-किरणांची
चक्रिका चक्रवाकें गवसतें राजहंसा सारिखीं दिसतें
म्हणौनि रात्री विपळतें : वोळखेति येकमेकातें
चांदिणेया सारिखा नाहीं लाघवी जो अंधकाराचे डोंगर लपवी
आधार-विण आपणीं लोपवी : क्षीर-सागरा तें
मनोजा-सारिखी भोगे गोरी तिया कामिनिया मीसळली चंद्रकरीं
चंद्राचीये राणिवे-भीतरी : जग वेढी धवलिमेची
यहु कोसळा अति प्रचंडु जैसे हीडळ रस मंडु
मसलें काई वेगु : म्हणौनि विरहोपचारु ।[1]

(आज रात की चाँदनी गोकुल में शरद् पूर्णिमा की रस सिद्ध चाँदनी के समान है या आकाश कमल-दलों से आच्छादित हो गया है ? या रिक्त भूलोक में कर्पूर का गवाक्ष खुल गया है या आकाश मृणालों से भरा हुआ है ? या श्रीकृष्ण का दर्शन करने के लिए पुलकित होकर क्षीर सागर आ गया है ? (चन्द्र-प्रकाश रूपी क्षीर-सागर में तारे उद्दीप्त रत्नों के समान दिखाई दे रहे हैं।) शुभ्र चाँदनी में विचरण करने वाले सारस राजहंस के समान दिखाई दे रहे हैं अथवा राजहंसों के समान दिखाई देने वाले सारस चाँदनी से ही बने हुए हैं। चाँदनी में चक्रवाक भी राजहंस के समान दिखाई देते हैं अतः एक-दूसरे को न पहचान पाने के कारण सारी रात वियोग ही में कट रही है। किसी भी वस्तु को छिपाकर रखने के लिए अन्धकार की आवश्यकता होती है परन्तु चन्द्रमा इतना कुशल है कि उसने अपने प्रकाश से ही क्षीर-सागर को छिपा लिया है। (चाँदनी की सफ़ेदी में क्षीर-सागर की सफ़ेदी विलीन हो गई है। मदनों के समान सौन्दर्य कामिनियों के बदन चन्द्र-किरणों में अदृश्य हो गए हैं। चन्द्रमा के राज्य में मानो चाँदनी में ऐसा लगता है कि समस्त संसार ने श्वेत वस्त्र धारण कर लिया है।)

सायंकालीन शोभा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

संकोचली कमळें : पक्षिये ठाकिली आविसरळें
चक्रवाकें होति व्याकुळें वीयोगें प्रियातेनि ।[2]

(कमल संकुचित हो गए और पक्षियों ने अपने नीड़ों में बसेरा करना आरम्भ कर दिया। चक्रवाक प्रिय के वियोग में व्याकुल हो उठे हैं।)

नरेन्द्र कवि ने नानाविध नैसर्गिक दृश्यों का वर्णन किया है। नरेन्द्र की ही भाँति भास्कर भट्ट बोरीकर नामक महानुभावी कवि ने भी अपने 'शिशुपाल-वध' ग्रन्थ में वसंत,

---

१ नरेन्द्र कवि कृत 'रुक्मिणी स्वयंवर' सं० डॉ० वि० भि० कोलते, ओवी २१०–२१९।
२ रुक्मिणी-स्वयंवर, ओवी ४७८।

वृक्ष और जल-क्रीड़ा का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। दामादेर पण्डित के 'वत्सहरण' में प्रकृति का आलम्बन तथा उद्दीपन दोनों रूपों में अत्यन्त मनोहारी चित्रण उपलब्ध है।

रस-निष्पत्ति, परम्परा निर्वाह तथा मौलिक उद्भावना

मानव-मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है अभिव्यक्ति। और अभिव्यक्ति का कारण है भाव। अभिव्यक्ति की अवस्था के साथ-साथ मानव-मन में सौन्दर्य के प्रति आकर्षण भी स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहता है। यही कारण है कि वह अपने चारों ओर सब-कुछ सुन्दर देखना चाहता है। इस प्रवृत्ति के कारण ही मनुष्य अपने भावों को सुन्दरतम रूप में प्रकट करने के लिए लालायित रहता है। जिन साधनों से वह अपने भाव प्रकट करता है वह कला-पक्ष है और जिसे व्यक्त करता है वह है भाव-पक्ष। इसी आधार पर काव्य के ये दोनों पक्ष माने गए हैं। साथ ही रस को काव्य की आत्मा माना गया है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं'। मानव-हृदय में स्थित भावों की संख्या अनंत है। परन्तु उनके विशिष्ट लक्षणों पर विचार करते हुए आचार्यों ने उन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित किया है—इन्द्रियजन्य प्रज्ञात्मक और गुणात्मक। इन्द्रियजन्य भाव वे हैं जो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान से उत्पन्न होते हैं। प्रज्ञात्मक भाव वे हैं जो भूत वर्तमान या भविष्य के अनुभव से इन्द्रियजन्य भावों को उद्दीप्त करते हैं। भावों का उदय किसी स्थूल वस्तु से सम्बन्धित होता है। यह वस्तु विभाव कहलाती है। विभाव के दो प्रकार माने जाते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन विभाव वे हैं जो मन में किसी चित्र को उदित करते हैं तथा कल्पना द्वारा उपस्थित होते हैं। उत्पन्न भावों को उद्दीप्त करने वाले भावों को उद्दीपन विभाव कहा गया है।

गम्भीरता की दृष्टि से भावों को दो भागों में बाँटा गया है—संचारीभाव और स्थायीभाव। संचारीभावों का उदय क्षणिक होता है तथा वे स्थायीभाव को रस स्थिति तक पहुँचाने में सहायक होते हैं तथा उसमें घुल-मिल जाते हैं। जो भाव रसास्वादन तक बने रहते हैं तथा संचारीभावों से उद्दीप्त होते हैं वे स्थायीभाव कहलाते हैं।

विभावों द्वारा स्थायीभाव के उद्दीप्त होने पर अंतःस्थित भावों के जो चिह्न-बाह्य आकृति और चेष्टाओं के रूप में प्रकट होते हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं। स्थायीभाव अनुभाव विभाव और संचारीभावों के योग से ही रस की निष्पत्ति होती है। रस काव्य की आत्मा है। बिना रस के काव्य निष्प्राण है। आत्मा आनन्द रूप है। दूसरे शब्दों में आनन्ददायी तत्व के बिना काव्य की रचना सम्भव नहीं हो सकती। अतः काव्य की उपादेयता के लिए उसमें रस का अस्तित्व आवश्यक है। स्थायीभावों से उद्भूत रस नौ माने गए हैं—शृंगार, हास्य करुण अद्भुत भयानक बीभत्स वीर, रौद्र और शान्त। संस्कृत के आचार्यों ने 'शृंगार' को रसराज कहा है।

हिन्दी भक्त-कवियों के काव्य में इन सभी रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है, पर परम्परानुसार उनका विशेष झुकाव 'शृंगार' की ही ओर अधिक रहा है। विद्यापति की समस्त पदावलि शृंगार रस से परिपूर्ण है। शृंगार के अन्तर्गत कवि ने संयोग और वियोग दोनों का बड़े ही सुन्दर रूप से वर्णन किया है। विद्यापति का शृंगार 'उत्तान-शृंगार' की कोटि में आता है।

मीरा ने कान्त-भाव से ही अपने आराध्य गिरिधर की उपासना की है। वह स्वयं गोपी भाव की प्रतीक है। अतः मीरा के पदों में भी अधिकतर शृंगार के ही दर्शन होते हैं। पर उसका शृंगार सात्विक शृंगार है, उत्तान नहीं। कृष्ण मीरा के पति हैं परन्तु साथ ही वे सच्चिदानन्द स्वरूप भी हैं, आनन्द के आधार हैं। वह उनसे एकरूप हो जाना चाहती है। यही तो मीरा का शृंगार है।

अष्टछाप के कवियों के काव्य का मूल स्रोत भागवत, पद्मपुराण और ब्रह्मवैवर्त में वर्णित हरि-लीलाएँ रही हैं। भागवत में शृंगार का विशद् वर्णन मिलता है। परन्तु भागवत कार शृंगार-वर्णन को अश्लीलता की सीमा पर नहीं पहुँचने देता। जहाँ कहीं भी वह अतिशयता का अनुभव करने लगता है वहीं वह उसे आध्यात्मिकता से रँग देता है। सूर में भी इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। सूरदास ने शृंगार रस का यथेष्ट वर्णन किया है, पर साथ ही उस पर आध्यात्मिक तथा रहस्यात्मक संकेतों का आवरण डालना भी वे नहीं चूके हैं। अष्टछाप के सभी कवियों की रचनाओं में शृंगार-रस का पूर्ण परिपाक हुआ है और साथ ही वात्सल्य का भी। प्राचीन रस-शास्त्रियों ने वात्सल्य को शृंगार के ही अन्तर्गत माना है। सूरदास और परमानन्ददास के काव्य में वात्सल्य का जैसा स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी परिपाक हुआ है, वैसा अन्य कवियों के काव्य में उपलब्ध नहीं होता। कुंभनदास के अतिरिक्त अष्टछाप के सभी कवियों ने वात्सल्य का वर्णन किया है परन्तु सूर और परमानन्ददास का वर्णन सर्वोत्कृष्ट है। इनके वर्णनों में वात्सल्य के संयोग और वियोग दोनों पक्षों की रचनाएँ समाविष्ट हैं। शृंगार-रस के परिपाक में भी अन्य कवियों की अपेक्षा सूर की रचनाएँ सर्व श्रेष्ठ हैं। सूर के बाद नन्ददास, परमानन्ददास और कुंभनदास की रचनाएँ आती हैं। इन कवियों ने राधा और कृष्ण की लीलाओं के अनेक प्रसंगों का मनोहर वर्णन किया है। नन्द-दास और कुंभनदास की रचनाओं में मधुर रति का प्राधान्य है।

भरतमुनि ने शृंगार रस के व्यापक महत्त्व का वर्णन यह कहकर किया है कि संसार में जो भी पवित्र, उत्तम, उज्ज्वल और दर्शनीय है, वह सब शृंगार-रस के अन्तर्गत है।[1] अष्टछाप के कवियों का भी आधार यही दृष्टिकोण रहा है। अपनी रचनाओं द्वारा इन कवियों का उद्देश्य श्रीकृष्ण के प्रति अपनी भक्ति-भावना का प्रदर्शन करना ही था। नन्ददास ने अपने ग्रन्थ 'रस-मंजरी' में लिखा है—

नमो-नमो आनन्द घन, सुन्दर नन्द कुमार।
रसमय, रसकारन, रसिक, जग जाके आधार॥
रूप, प्रेम, आनन्दरस, जो कुछु जग में आहि।
सो सब गिरिधर देव को, निधरक बरनों ताहि॥

आचार्यों ने शृंगार-रस का स्थायीभाव 'रति' माना है। रति का सांगोपांग वर्णन करते हुए नन्ददास कहते हैं—

रचित बाम काम तो करे। जाते नहीं कवन अनुसरे॥
सुख-स्वाद सबै बिध जाय। गुरुजन डर कछु रंचक आय॥

---

१ 'यत्किंचिल्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते'-नाट्यशास्त्र।

मन की गति पिय में इकसार। समुझ मिली जिमि गंग की धार॥
तनक बात जो पिय की पावै। सो सिरियौं तपत हूँ भावै॥
यदपि विघन गन आवहिं भारे। जो रति-रस के मेटनहारे॥
तदपि न भृकुटी रंचक मटकै। एक कमाचित्त रसहूँ मटकै॥
स्तम्भ-स्वेद पुनि पुलकित अंग। नैनन जल-कन भव स्वर-भंग॥
तन बिबरन हियकंप जनावै। बीच-बीच मुरझाई आवै॥
यह प्रकार जाकी तन लहिए। सो वह रंग भरी 'रति' कहिए॥

अष्टछाप के कवियों की रचनाओं में ऐसी ही 'रति' का वर्णन मिलता है। कृष्णदास का एक पद देखिए—

पौढ़ि रहे सुख-सेज छबीली, दिनकर किरन झरोखहिं आई॥
उठि बैठे लाल बिलोकि बदन बिधु, निरखत नैना रहे लुभाई॥
अधखुले पलक ललन-मुख चितवत, मृदु मुसकात हँसि लेत जंभाई॥
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर नागर लटकि-लटकि हँसि कंठ लगाई॥

अष्टछाप के कवियों ने संयोग-शृंगार और वियोग-शृंगार दोनों का पर्याप्त वर्णन किया है तथा शृंगार रस-विषयक विभिन्न प्रसंगों के बड़े ही चित्ताकर्षक चित्र अंकित किए हैं। इन कवियों ने राधा और कृष्ण के पारस्परिक अनुराग के क्रमिक विकास उनके संयोग और वियोग की अनेक चेष्टाओं तथा उनके मान उपालम्भ मिलन आदि का बड़ी ही कुशलता से चित्रण किया है। इन वर्णनों में नायिका भेद की अधिकांश सामग्री आ गई है।

अष्टछाप के कवियों ने स्वकीया भक्ति को ही प्रश्रय दिया है और इसीलिए उनकी राधा स्वकीया है। पर नन्ददास ने 'रूपमंजरी' में परकीया-भक्ति को भी महत्त्व दिया है। वे कहते हैं—

रस में जो उपपति-रस आहीं।
रस की अवधि कहत कवि ताहीं॥

शृंगार से भी अधिक सूर के काव्य में वात्सल्य रस कूट-कूटकर भरा हुआ है। आचार्य शुक्ल कहते हैं—

"वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आए। उक्त दोनों के प्रवर्तक रति-भाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके उतनी का और कोई नहीं। हिन्दी साहित्य में शृंगार का रसराजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया है तो सूर ने।"[1]

सूर साहित्य में शृंगार और वात्सल्य के साथ-साथ अन्य रसों का भी सुन्दर परिपाक हुआ है। परन्तु वात्सल्य रस ही उनकी अपनी विशेषता है। कृष्ण के बाल-रूप का वर्णन करते हुए सूरदास कहते हैं—

बलि गइ बाल-रूप मुरारि।
पाइ पैंजनि रटति रुन-झुन नचावति नन्द-नारि।

---

[1] सूरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १६७।

कबहुँ हरि कौं लाइ अँगुरी, चलन सिखावति ग्वारि।
कबहुँ हृदय लगाइ हितकरि, मेलि अंचल डारि।
कबहुँ हरिकौं चितै चूमति कबहु गावति गारि।
कबहुँ लै पाछे दुरावति ह्याँ नहीं बनवारि।
कबहुँ अंग भूषन बनावति, राइ-लोन उतारि।
सुर-सुर नर सबै मोहे, निरखि यह अनुहारि।[1]

वात्सल्य रस के समस्त तत्त्व इस पद में उपलब्ध हैं।

हिन्दी ही की भाँति रस-शास्त्र की इस परम्परा का पालन मराठी के कृष्ण भक्ति काव्य में भी हुआ है। रस को ज्ञानेश्वर ने अन्तःकरण की द्रवावस्था माना है।[2] हेमचन्द्र ने भी कहा है कि सम्भोग शृंगार-रस तथा विशेषतः शान्त, करुण तथा विप्रलंभ शृंगार में माधुर्य के कारण चित्त द्रवावस्था को प्राप्त होता है।[3] एक दूसरी ओवी में ज्ञानेश्वर शान्त रस को काव्य की आत्मा बतलाते हैं। वे कहते हैं—

जे साहित्य आणि शांती। हे रेखा दिसे बोलती॥
जैसी लावण्यगुणयुवती। आणि पतिव्रता॥[4]

(जिस प्रकार कोई युवती सौंदर्य-गुण-युक्त होती है और साथ ही पतिव्रता भी होती है उसी प्रकार भाषण-शैली में साहित्य और शान्त रस है।) उपर्युक्त ओवी से सूचित होता है कि अनेक रसों का अपने काव्य में परिपाक करना संत ज्ञानेश्वर को अभीष्ट था। ज्ञानेश्वरी का ग्यारहवाँ अध्याय रसों का प्रधान-शीर्ष माना जाता है। इस अध्याय में मुख्य रस शान्त-रस होते हुए भी अद्भुत तथा अन्य रसों का बड़ा ही सुन्दर परिपाक हुआ है। शान्त और अद्भुत रसों की धारा में गीता-सरस्वती गुप्त रूप से विद्यमान रहने के कारण स्वयं सन्त ज्ञानेश्वर ने इस अध्याय को त्रिवेणी-संगम कहा है।[5] ज्ञानेश्वरी का आरम्भ वीर रस से हुआ है तथा उसमें रौद्र तथा भयानक के साथ-साथ करुण रस का सुन्दर परिपाक हुआ है।[6] ग्यारहवें अध्याय में विश्व रूप दर्शन का प्रसंग करुण और अद्भुत-रस प्रधान है परन्तु बीच-बीच में भयानक रस का भी दर्शन होता है। ज्ञानेश्वरी में शृंगार रस का स्वतन्त्र रूप से परिपाक नहीं हुआ है पर रसिकों को प्रसन्न रखने के लिए कवि ने दृष्टान्तों का आश्रय लिया है। जन्म जरा आदि वर्णनों में बीभत्स रस का विधान है। चौथे अध्याय में हास्य-रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। इस प्रकार ज्ञानेश्वरी में सभी रसों का परिपाक होते हुए भी ज्ञानेश्वरी शान्त रस की ही गंगा है।

---

१ सूरसागर ना० प्र० स०, पद ७१६।
२ जनु बोलाचे वाद न वाढे। तैसे अभिप्रायेंचि अभिप्रायासी भिडे।
भावाचा फुलोरा होतु जाये। मनोवृत्ती॥
अपेक्षेचि संकल्पाचा गुप्त बोसरे। परि हरयालासा सादल्यो बोले।
जेंव बुध्दिचा बरी पालुटे। मत्वाचा रसु॥—ज्ञानेश्वरी ६ २८ व २९।
३ काव्यानुशासन, ४ २ ३।
४ ज्ञानेश्वरी ४.२१५।
५ श्री ज्ञानेश्वर वाङ्मय आणि कार्य, स० ८ प्रारम्भ, पृ० २०२।
६ वही।

नरेन्द्र कवि के 'रुक्मिणी-स्वयंवर' में भी सब रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। नरेन्द्र ने संयोग और वियोग दोनों का बड़ा ही सरस वर्णन किया है। रुक्मिणी-स्वयंवर का शृंगार स्वकीया तत्त्व पर आधारित है क्योंकि रुक्मिणी कृष्ण की पत्नी है। रुक्मिणी की विरहावस्था का वर्णन तो बहुत ही मर्मस्पर्शी बन पड़ा है।

नरेन्द्र कवि की ही भाँति भास्कर भट्ट के 'शिशुपाल-वध' में कृष्ण का रुक्मिणी के प्रसाद में आगमन उपवन की वसन्त-शोभा रुक्मिणी की विरहावस्था आदि को लेकर शृंगार का जो वर्णन हुआ है वह अद्वितीय है। रुक्मिणी का रस-युक्त विरह-वर्णन कवि ने आठ सौ पंक्तियों में किया है। शृंगार-रस के इस वर्णन में भी कवि का ध्येय मोक्ष-प्राप्ति ही था। अपने ग्रन्थ के विषय में कवि स्वयं कहता है—

हा शिशुपालवध। आइकता तुटे भवबन्धु।

अर्थात्—इस 'शिशुपाल-वध' को सुनते ही भव का बन्धन टूट जाता है।

कवि का यह उद्देश्य होते हुए भी ग्रन्थ में शृंगार की प्रधानता होने के कारण भास्कराचार्य के गुरु-बन्धु ने उसे निवृत्ति-मार्ग के योग्य नहीं माना।

महदम्बा के 'धवळे' भक्ति-रस प्रधान है तथा एल्हण का 'अष्ट-विवाह' शृंगार रस प्रधान। इस ग्रन्थ में भगवान् श्रीकृष्ण के आठ स्वयंवरों का वर्णन है तथा अन्तिम अध्याय में वसन्त क्रीड़ा का रोमांचकारी चित्र प्रस्तुत किया गया है। वसन्त क्रीड़ा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

तयां कामिनीच्या अंगवता। निरहु मलयानिळ दिसे मातला।
रळे न समाळिवी पुढता। तोंवि परिमळें फुलांचा।

(उन कामिनियों के रूप का स्पर्श करके मलयानिल मतवाला हो उठा है और पागल-सा बह रहा है। फूलों का परिमल भी उनके शरीर में दाह उत्पन्न कर रहा है।)

× × ×

कीं तारुण्यजळें भरतीं भरिलीं, विकार तरंगी हेलावे वेलीं।
तियां सौन्दर्याचियां सरितीं। लोटल्या सुखसमुद्रावरी।

(उसकी सौन्दर्य रूपी सरिता में यौवन रूपी जल लबालब भरा होने के कारण उस पर भाव ऊर्मियाँ उठकर सुख-रूपी समुद्र की ओर सक्षेपित हो रही हैं।)

दामोदर पंडित का 'वत्सहरण' यद्यपि भक्ति-रस प्रधान काव्य है फिर भी उसमें सभी रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। श्रीकृष्ण-चरित्र में समाविष्ट नौ रसों का उल्लेख करते हुए कवि कहता है—

बैयाचा बहुरूप ठेला खेळतां। योगीए परमसिद्धी पावतां
शान्तरस निधारतां। सख्यत्व वसति
जे देवो रात कृष्ण खेळिजता। तें शृंगार म्हणिजे आता
गौळणी विनोदें नाचविता। तें हास्य रसु
यशोदा भेडविता। तें करुणारसु उठवता

असे श्रीमुख शाकविलें । तें अद्भुतास्य आलें
विस्मयाम्य प्रकटीलें । तें भयानक
दैत्यांकरी संहार । तें बिभत्स आणिक वीर
शांतु तो निरंतर । दैवमि असे
ऐसें नवरस नाटक । देखों देखें जनमोहक
विश्व रूप ते बहुरंगिका । आवडे नुपे ।[1]

(भावार्थ है—भगवान् के रास में शृंगार रस, गोपियों को नचाने में हास्य रस यशोदा को डराने में करुण रस, कालिय-मर्दन में रौद्र रस माता को दर्शन देने में अद्भुत-रस विश्व रूप दर्शन में भयानक रस दैत्यों के संहार में बीभत्स रस तथा वीर रस और भगवान् स्वयं शान्त रूप होने के कारण शान्त रस की स्थिति है ।)

एकनाथ के रुक्मिणी-स्वयंवर में शृंगार-रस का सुन्दर परिपाक होते हुए भी प्रधान रस शान्त ही है । अपने ग्रन्थ के विषय में कवि का अपना कथन है—

ये ग्रन्थींचे निरूपण । जिवा शिवा होतसे लग्न ।
अर्थ पाहता सावधान समाधान सात्त्विकां ।

(इस ग्रन्थ में परमात्मा और आत्मा के विवाह का निरूपण है । इसका अर्थ सावधानी से समझना चाहिए । इससे सात्त्विक जनों का समाधान होगा ।)

इस ग्रन्थ के विषय में मराठी साहित्य के इतिहासकार पांगारकर कहते हैं— भावुकों को कृष्ण-कथा में आनन्द आता है जीव और शिव के ऐक्य का प्रतिपादक सिद्धान्त ज्ञानी और दार्शनिकों के लिए आकर्षक है और विवाह, वसन्त-क्रीड़ा आदि के मनोहर वर्णनों में काव्य रसिकों को शृंगार का आस्वाद मिलता है ।[2] एकनाथ की ही भाँति तुकाराम की वाणी से भी शान्त रस की ही वर्षा हुई है क्योंकि तुकाराम ने सर्वत्र एक पांडुरंग को ही देखा है—

पांडुरंग ध्यानी पांडुरंग मनी । जागृति स्वप्नी । पांडुरंग ।

(पांडुरंग का ही ध्यान है । पांडुरंग ही मन में है । जाग्रत अवस्था और स्वप्नावस्था दोनों में एक पांडुरंग ही है ।)

तुकाराम के समकालीन मुक्तेश्वर का काव्य रचना-शैली, शब्दावली, अलंकार आदि कलात्मक गुणों से ओतप्रोत है, क्योंकि मुक्तेश्वर की दृष्टि और सृष्टि एक भक्त की न होकर कवि की है । मुक्तेश्वर का काव्य शृंगार रस-प्रधान है । उन्होंने महाभारत का मराठी में अनुवाद किया है पर उसे पढ़ते ही पाठक को 'काव्य' पढ़ने का आनन्द उपलब्ध होता है । आदि-पर्व में दमयंती का रूप-वर्णन शृंगार रस निरूपण में कवि की कुशलता का एक छोटा-सा उदाहरण है—

जैसी सुवर्ण चंपक कळी कीं ओतिली मन्मथ पुतळी ।
अत्यन्त तारुण्य भरें भरली । परी विनत सुकुमार ।
विराजे राजवदन चन्द्रिका । भाळी रेखिला कस्तुरी तिळका ।
आकर्ण पर्यन्त कज्जल रेखा । नयन रेखें दीपती ।

१ एकनाथ, सं० मि० मि० भोसले, पृ० ११ १६ ।
२ मराठी वाङ्मयाचा इतिहास, पांगारकर, दूसरा खण्ड, पृ० ७१५ ।

नरेन्द्र कवि के 'रुक्मिणी-स्वयंवर' में भी सब रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। नरेन्द्र ने संयोग और वियोग दोनों का बड़ा ही सरस वर्णन किया है। रुक्मिणी-स्वयंवर का शृंगार स्वकीया तत्व पर आधारित है क्योंकि रुक्मिणी कृष्ण की पत्नी है। रुक्मिणी की विरहावस्था का वर्णन तो बहुत ही मर्मस्पर्शी बन पड़ा है।

नरेन्द्र कवि की ही भाँति भास्कर भट्ट के शिशुपाल-वध में कृष्ण का रुक्मिणी के प्रसाद में आगमन उपवन की वसन्त-शोभा, रुक्मिणी की विरहावस्था आदि को लेकर शृंगार का जो वर्णन हुआ है वह अद्वितीय है। रुक्मिणी का रस-युक्त विरह-वर्णन कवि ने आठ सौ पंक्तियों में किया है। शृंगार-रस के इस वर्णन में भी कवि का ध्येय मोक्ष-प्राप्ति ही था। अपने ग्रन्थ के विषय में कवि स्वयं कहता है—

हा शिशुपालवध। आइकतां तुटे भवबन्धु।

अर्थात्—इस 'शिशुपाल-वध' को सुनते ही भव का बन्धन टूट जाता है।

कवि का यह उद्देश्य होते हुए भी ग्रन्थ में शृंगार की प्रधानता होने के कारण भास्कराचार्य के गुरु-बन्धु ने उसे निवृत्ति-मार्ग के योग्य नहीं माना।

महदम्बा के धवळे भक्ति-रस प्रधान है तथा एकनाथ का 'अष्ट-विवाह' शृंगार रस प्रधान। इस ग्रन्थ में भगवान् श्रीकृष्ण के आठ स्वयंवरों का वर्णन है तथा अन्तिम अध्याय में वसन्त क्रीड़ा का रोमांचकारी चित्र प्रस्तुत किया गया है। वसन्त क्रीड़ा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

तयां कामिनींच्या अंगवता। विरहा मलयानिळ शिवे मातला
रंगे न समाळिजे मुसळा। सौंदे परिमळे फुलांचा।

(उन कामिनियों के रूप का स्पर्श करके मलयानिल मतवाला हो उठा है और पागल-सा बह रहा है। फूलों का परिमल भी उनके शरीर में दाह उत्पन्न कर रहा है।)

× × ×

की तारुण्यजळें भरली भरिता, विकार तरंगी हेलावे देता।
तियां सौन्दर्याचिया सरिता। लोटल्या सुखसमुद्रावरी।

(उनकी सौन्दर्य रूपी सरिता में यौवन रूपी जल लबालब भरा होने के कारण उस पर भाव उर्मियाँ उठकर सुख-रूपी समुद्र की ओर उद्वेलित हो रही हैं।)

दामोदर पंडित का 'वत्सहरण' यद्यपि भक्ति-रस प्रधान काव्य है, फिर भी उसमें सभी रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। श्रीकृष्ण चरित्र में समाविष्ट नौ रसों का उल्लेख करते हुए कवि कहता है—

देवाचा बहुरूप वेषु देखतां। गोपीए परमसिद्धी पावतां
तापभय निवारतां। अद्भुत जाणिजे
जे देखे रास क्रीडा देखिजतां। ते मुर्ते शृंगार जाला
गोवळी विनोदें नाचविता। तें हास्य रसु
यशोदा भेडविता। तें करुणारसु उदेवला
विदारू कालिया जितता। तें रौद्रु जाला

रासीं श्रीमुख शृंगारिलें । तें अद्भुतरम्य बाळें
विश्वरूप प्रकटीलें । तें भयानकु
दैत्यांकरी संहारु । तें विभत्सु आथिला विरु
शांतु तो निरंतरु । ऐसेनि असे
ऐसें नवरस नाटक । देखी कैसे जनमोहक
निज रूप तें ब्रह्मादिका । कारणें स्तुवे ।[1]

(भावार्थ है—भगवान् के रास में शृंगार रस, गोपियों को भगाने में हास्य रस, यशोदा को डराने में करुण-रस, कालिय-मर्दन में रौद्र-रस, माता को दर्शन देने में अद्भुत रस, विश्व रूप दर्शन में भयानक रस, दैत्यों के संहार में बीभत्स-रस तथा वीर रस और भगवान् स्वयं शान्त रूप होने के कारण शान्त रस की स्थिति है।)

एकनाथ के 'रुक्मिणी-स्वयंवर' में शृंगार-रस का सुन्दर परिपाक होते हुए भी प्रधान रस शान्त ही है। अपने ग्रन्थ के विषय में कवि का अपना कथन है—

ये रुक्मिणीचे निरूपण । जिवा शिवा होतसे लग्न ।
अर्थ पहावा सावधान । समाधान सात्त्विकां ।

(इस ग्रन्थ में परमात्मा और आत्मा के विवाह का निरूपण है। इसका अर्थ सावधानी से समझना चाहिए। इससे सात्त्विक जनों का समाधान होगा।)

इस ग्रन्थ के विषय में मराठी साहित्य के इतिहासकार पांगारकर कहते हैं— भावुकों को कृष्ण-कथा में आनन्द आता है, जीव और शिव के ऐक्य का प्रतिपादक सिद्धान्त ज्ञानी और दार्शनिकों के लिए आकर्षक है और विवाह, वसन्त क्रीड़ा आदि के मनोहर वर्णनों में काव्य रसिकों को शृंगार का आस्वाद मिलता है।[2] एकनाथ की ही भाँति तुकाराम की वाणी से भी शान्त रस की ही वर्षा हुई है क्योंकि तुकाराम ने सर्वत्र एक पांडुरंग को ही देखा है—

पांडुरंग ध्यानी पांडुरंग मनी । जागृति स्वप्नी । पांडुरंग ।

(पांडुरंग का ही ध्यान है। पांडुरंग ही मन में है। जाग्रत अवस्था और स्वप्नावस्था दोनों में एक पांडुरंग ही है।)

तुकाराम के समकालीन मुक्तेश्वर का काव्य रचना-शैली, शब्दावली, अलंकार आदि कलात्मक गुणों से ओतप्रोत है क्योंकि मुक्तेश्वर की दृष्टि और सृष्टि एक भक्त की न होकर कवि की है। मुक्तेश्वर का काव्य शृंगार रस-प्रधान है। उन्होंने महाभारत का मराठी में अनुवाद किया है, पर उसे पढ़ते ही पाठक को 'काव्य' पढ़ने का आनन्द उपलब्ध होता है। आदि-पर्व में शर्मिष्ठा का रूप-वर्णन शृंगार-रस निरूपण में कवि की कुशलता का एक छोटा-सा उदाहरण है—

जैसी सुवर्ण चंपक कळी, की ओतिली मन्मथ पुतळी ।
अत्यंत तारुण्य भरें लवली । परी विलास सुकुमार ।
विपायें रामवरन पत्रिका । भाळीं रेखिला कस्तुरी टिळा ।
आकर्ण पर्यंत कज्जल रेखा । नयन दैवें लोभलों ।

---

१ [illegible], सं० वि० भि० कोलते, पृ० १९-२१ ।
२ मराठी वाङ्मयाचा इतिहास, पांगारकर, दूसरा खण्ड, पृ० ११६ ।

दृढ बिल्व पीन स्तन । वरी मुक्तावळी विराजमान ।
हृदयीं पदक दैदीप्यमान । तेज फाके हृदयाम्बरी ।
करि शावक शुंडादंड । तसे सरळ भुज दण्ड ।
कंकणें रुणझुणती प्रचण्ड । मदनातें चेतवावया ।

(जैसे वह चम्पा की कली हो या मन्मथ द्वारा ढाली गई पुत्तलिका हो। वह तारुण्य के भार से झुकी है पर सुकुमारता से लता की तरह विनत है। उसका श्रीमुख चन्द्रिका की तरह दैदीप्यमान है और माथे पर कस्तूरी की बिन्दी शोभायमान है। आकर्ण कज्जल-रेखा से उसके नेत्र अत्यन्त शोभायमान लग रहे हैं। बिल्व-फल के समान उसके स्तन कठोर और सुडौल हैं और उन पर मोतियों की माला सुशोभित हो रही है। हृदय पर पदक दैदीप्यमान हो रहा है। शावक की सूंड के समान उसके बाहु सुडौल हैं। कंकणों की रुनझुन-रुनझुन की प्रचण्ड ध्वनि मदन को चेतावनी दे रही है।

शृंगार रस के दूसरे यशस्वी कवि वामन पंडित माने जाते हैं। वामन पंडित का 'राधाविलास' या 'कात्यायनी व्रत' उत्तम शृंगार रसात्मक मधुर काव्य है। 'कात्यायनी व्रत' में गोपियों के स्नान का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

गोपनितम्बिनींची वदनें जसि पद्मवनें अति शोभति नीरीं ।
उदक बिन्दु मरन्द तयावरी षट्पदसे कुटिलालक भारी ।
देखुनियां उदयाद्रि वरी शशी । उपजती कुमुदें जसि नीरीं ।
कृष्णकदम्ब तरूवरि शोधनि उत्पल लोचनी त्या व्रजनारी ।

(यमुना-जल में गोपिकाओं के मुख इस प्रकार शोभायमान हो रहे हैं जैसे सरोवर में कमल पुष्प हों। उनके मुख पर पानी की बूँदें मकरन्द बिन्दुओं के समान हैं और उनकी कुटिल केशराशि उन मकरन्द-बिन्दुओं के चारों ओर भ्रमरों की भाँति मँडरा रही है। उदयाचल पर चन्द्रमा को उदित होता हुआ देखकर जिस प्रकार पानी में कुमुदिनी-समूह विकसित होता है, उसी प्रकार कदम्ब वृक्ष पर श्रीकृष्ण को देखकर कमल-लोचनी व्रजांगनाओं के मुख मण्डल विहसित हो रहे हैं।)

'रासक्रीड़ा' अथवा 'गोप-वधू विलास' में शृंगार रस का इतना सुन्दर परिपाक हुआ है कि कवि स्वयं आत्म विश्वास से कहता है—

इयाहि उपरी काव्य नाटक मिषें शृंगार जो पाहणें
या श्रीकृष्ण कथामृतीं न रमतें भिन्न-भिन्न रसानें हिनें ।

(श्रीकृष्ण-कथामृत रूपी मेरा काव्य पढ़कर भी जो शृंगार रस के लिए अन्य काव्य-नाटकों का आश्रय लेता है उस पर धिक्कार है।)

अपने काव्य में शृंगार की चरम-सीमा का विधान करके भी कवि पाठक को शृंगार रस से सावधान करना नहीं भूला है। वह कहता है—

शृंगारामृत सेविं त्या त्यजुनियां दुर्वासना कामना ।

(शृंगारामृत का ग्रहण दुर्वासना और कामना को छोड़कर ही करो।)

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि पंडित कवियों की प्रवृत्ति काव्य-गुणों और शृंगारिक वर्णनों की ओर अधिक थी तथा वह कृष्ण-लीला के वर्णनों में प्रकट हुई। परन्तु

प्राचीन कृष्ण चरित्र की परम्परा, सन्त-काव्य की भावभूमि और तत्कालीन राष्ट्रीय भावना के कारण उनके शृंगारिक वर्णनों में भी आध्यात्म का ही बार-बार दर्शन होता है। और इसका मुख्य कारण यही है कि रसों के परिपाक में परम्परा का निर्वाह करते हुए भी मराठी कृष्ण भक्त कवियों ने शान्त रस को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया। परन्तु हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों का इस दिशा में कोई निजी दृष्टिकोण नहीं दिखाई देता। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि रस-परम्परा के अन्तर्गत शृंगार का परिपाक करते समय उनकी दृष्टि शृंगार की ओर कदापि नहीं थी। उनका हृदय तो सर्वदा अपने आराध्य के प्रति अटूट भक्ति-भावना से ओत-प्रोत था और इसीलिए उनके शृंगारिक वर्णनों में भक्ति की अमिट छाप दृष्टिगत होती है।

रूपगोस्वामी ने शृंगार को भक्ति के अन्तर्गत माना है तथा कृष्णरति को भक्ति-रस का स्थायीभाव माना है[1] तथा उसके अनेक भेद-उपभेद भी किये हैं। 'मधुर रस' को रूपगोस्वामी ने निवृत्त लोगों के लिए उपयोगी तथा दुरूह बताया है। इसके आलम्बन कृष्ण तथा कृष्ण प्रिया हैं। उद्दीपन मुरली निस्वनादि अनुभाव नयनकोण से देखना और स्मित आदि व्यभिचारी आलस्य उग्रता के अतिरिक्त अन्य सब तथा स्थायी मधुरा रति है। विप्रलम्भ तथा सम्भोग नाम से इसके दो भेद होते हैं तथा विप्रलम्भ के भी पूर्वराग मान, प्रवास आदि अनेक भेद हो सकते हैं। स्पष्ट है कि मधुर-रस शृंगार रस का ही भक्तिपरक नाम है।[2] डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित कहते हैं—"रूपगोस्वामी का कथन है कि विप्रलम्भ के बिना सम्भोग की पुष्टि नहीं होती। विप्रलम्भ के पूर्वराग, मान प्रेमवैचित्त्य तथा प्रवास नामक चार भेद किये गए हैं। पूर्वराग के अन्तर्गत दर्शन श्रवण तथा उनके भेदों का रूप वर्णन किया गया है। साथ ही रतिजन्म के हेतु अभियोगादि पूर्वराग में भी कारण-स्वरूप माने जाते हैं। यह भी प्रौढ़ समंजस तथा साधारण नाम से तीन प्रकार का होता है। समर्थ रति को प्रौढ़ कहते हैं जिसमें लालसा आदि मरण तक की दशाएँ आ जाती हैं।'[3]

सम्भव है कि अपने शृंगार रस-परिपाक में कृष्ण भक्त कवियों की यही विशिष्ट दृष्टि रही हो। परन्तु प्राचीन आचार्यों ने भक्ति को रस के रूप में स्वीकार न करके उसे भाव के रूप में ही स्वीकार किया है। प्राचीन और अर्वाचीन मराठी-लेखक भी भक्ति-रस को स्वीकार नहीं करते। प्रो० वि० परांजपे भक्ति को शान्त में समाविष्ट मानते हैं और प्रो० जोग-ळेकर शृंगार में।[4] परन्तु डॉ० वाटवे ने मानसशास्त्र का आश्रय लेकर भक्ति-रस का समर्थन किया है।

भक्ति-रस को लेकर आधुनिक विद्वानों की चाहे जो धारणाएँ रही हों इतना निश्चित रूप से मानना पड़ेगा कि हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों का अभीष्ट सामाजिक में शृंगार रस का उद्रेक करना न होकर भक्ति भाव उत्पन्न करना ही था।

---

१ रस-सिद्धान्त, स्वरूप विश्लेषण डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, पृ० २०१-०२।
२ वही, पृ० २०८।
३ रस-सिद्धान्त, स्वरूप विश्लेषण डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, पृ० २०६।
४ रस-विमर्श, डॉ० वाटवे, पृ० २६२।

हृद बिल्व पीन स्तन। वरी मुक्तावळी विराजमान।
हृदयीं पदक देदीप्यमान। तैसा फांके हृदयाम्बी।
करि शावक शुण्डा भुज। तैसे सरस सुख वध।
कंकणें रुणझुणती प्रबन्ध। मदनातें चेतवावया।

(जैसे वह चम्पा की कली हो या मन्मथ द्वारा ढाली गई पुत्तलिका हो। वह तारुण्य के भार से झुकी है, पर सुकुमारता से लता की तरह विनत है। उसका श्रीमुख चन्द्रिका की तरह देदीप्यमान है और माथे पर कस्तूरी की बिन्दी शोभायमान है। आकर्ण कज्जल-रेखा से उसके नेत्र अत्यन्त शोभायमान लग रहे हैं। बिल्व-फल के समान उसके स्तन कठोर और सुडौल हैं और उन पर मोतियों की माला सुशोभित हो रही है। हृदय पर पदक देदीप्यमान हो रहा है। शावक की सूंड के समान उसके बाहु सुडौल हैं। कंकणों की रुनझुन-रुनझुन की प्रबन्ध ध्वनि मदन को चेतावनी दे रही है।)

शृंगार रस के दूसरे यशस्वी कवि वामन पंडित माने जाते हैं। वामन पंडित का 'राधाविलास' या 'कात्यायनी व्रत' उत्तम शृंगार-रसात्मक मधुर काव्य है। 'कात्यायनी व्रत' में गोपियों के स्नान का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

गोपनितम्बिनींची वदनें वसि पद्मवनें मसि शोभति नीरीं।
उदक बिन्दु मरन्द तयावरी षट्पदते कुटिलालक भारी।
देखुनियां उदयाद्रि वरी शशी। उमलती कुमुदें जसि नीरीं।
कृष्णकदम्ब तरूवरि वीक्षति उत्पल लोचनी त्या व्रजनारी।

(यमुना-जल में गोपिकाओं के मुख इस प्रकार शोभायमान हो रहे हैं जैसे सरोवर में कमल पुष्प हों। उनके मुख पर पानी की बूंदें मकरन्द-बिन्दुओं के समान हैं और उनकी कुटिल केशराशि उन मकरन्द बिन्दुओं के चारों ओर भ्रमरों की भाँति मँडरा रही है। उदयाचल पर चन्द्रमा को उदित होता हुआ देखकर जिस प्रकार पानी में कुमुदिनी-समूह विकसित होता है उसी प्रकार कदम्ब वृक्ष पर श्रीकृष्ण को देखकर कमल-लोचनी व्रजांगनाओं के मुख मण्डल विहसित हो रहे हैं।)

'रासक्रीड़ा' अथवा 'गोप-वधू विलास' में शृंगार रस का इतना सुन्दर परिपाक हुआ है कि कवि स्वयं आत्म विश्वास से कहता है—

इयाहि उपरी काव्य नाटक मिळें शृंगार जो पाहुनें
या श्रीकृष्ण कथामृतीं न रमवें धिक्-धिक तयाचें जिणें।

(श्रीकृष्ण-कथामृत रूपी मेरा काव्य पढ़कर भी जो शृंगार रस के लिए अन्य काव्य-नाटकों का आश्रय लेता है उस पर धिक्कार है।)

अपने काव्य में शृंगार की चरम-सीमा का विधान करके भी कवि पाठक को शृंगार रस से सावधान करना नहीं भूला है। वह कहता है—

शृंगारामृत हेंचि घ्या त्यजुनियां दुर्वासना कामना।

(शृंगारामृत का ग्रहण दुर्वासना और कामना को छोड़कर ही करो।)

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि पंडित कवियों की प्रवृत्ति काव्य-गुणों और शृंगारिक वर्णनों की ओर अधिक थी तथा वह कृष्ण-लीला के वर्णनों में प्रकट हुई। परन्तु

अध्याय—५

मराठी और हिन्दी कृष्ण काव्य का साम्य और वैषम्य : कला-पक्ष

काव्य का अंतरंग उसका भाव-पक्ष और उसका बहिरंग कला-पक्ष माना जाता है। कला-पक्ष का कार्य काव्य के अंतरंग को समुचित रूप और अभिव्यक्ति देना होता है। जिन साधनों से काव्य के अंतरंग को रूप अथवा अभिव्यक्ति मिलती है उनमें से प्रमुख हैं भाषा प्रयोग अलंकार-योजना तथा छंद विधान।

भाषा-प्रयोग तथा शब्द-योजना

काव्य-रचना में शब्द-योजना का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। शास्त्रीय दृष्टि से अभिव्यंजना के इस तत्त्व का अन्तर्भाव वृत्तियों अनुप्रास तथा वर्ण-विन्यास-वक्रता में हो जाता है। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने वर्ण-योजना का निर्देश किया है तथा आदर्श वर्ण-योजना के कतिपय मापदण्ड बताए हैं। इन मापदण्डों के अनुसार वर्ण-योजना का प्रस्तुत विषय के अनुकूल होना नितान्त आवश्यक है। प्रसाद गुण की रक्षा वर्ण-योजना का प्रथम उद्देश्य माना जाता है। वर्ण-योजना में आग्रह की अति तथा असुन्दर वर्णों का प्रयोग निषिद्ध माना जाता है।

इन मानदण्डों को लेकर मराठी और हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों की वर्ण-योजना पर विचार करने के पहले यह देखना आवश्यक है कि उनके पूर्व कला-सौष्ठव का कोई ऐसा ठोस आधार विद्यमान था या नहीं जिसका आश्रय इन कवियों ने लिया हो। सूर के काव्य सौष्ठव पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"इन पदों के सम्बन्ध में सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की उक्तियाँ सूर की जूठी-सी जान पड़ती हैं। अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीति-काव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।"[1]

डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह के शोध के फलस्वरूप सूरदास के समय से पहले का ब्रजभाषा काव्य प्रकाश में आया है। इस शोध के आधार पर सूर-पूर्व ब्रजभाषा-काव्य में गीति-काव्य की

१ सूरदास 'रामचन्द्र शुक्ल' पृ॰ १२८।

मौखिक परम्परा स्थापित की जा सकती है तथा ब्रजभाषा का अस्तित्व भी माना जा सकता है परन्तु उसमें कला-सौष्ठव का कोई भी ऐसा ठोस आधार नहीं मिलता जिससे यह कहा जा सके कि सूरदास के पदों की प्रगल्भता और काव्यांगपूर्णता का कोई पूर्व आधार हिन्दी-जगत् में विद्यमान था। डॉ० सावित्री सिन्हा के शब्दों में "कला के क्षेत्र में नये भावों का उद्घाटन सूरदास, नन्ददास और उनके समकालीन भक्तों ने ही किया। उनकी कला-चेतना का प्रादुर्भाव तत्कालीन परिस्थितियों के फलस्वरूप हुआ था, कला के पुनरुत्थान-युग में उनकी प्रतिभा प्रस्फुटित होकर विकसित हुई। उत्तराधिकार रूप में उन्हें जो परम्परा प्राप्त हुई थी वह पूर्ण अविकसित थी। भाव, भाषा शैली किसी भी दृष्टि से मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों पर उसका ऋण नहीं स्वीकार किया जा सकता।"[1] यदि डॉ० सावित्री सिन्हा की धारणा सही मान ली जाए तो भी इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि अष्टछाप के कवियों के पूर्व ब्रजभाषा में मौखिक गीति-काव्य अस्तित्व में था और वह संगीत योग्य होने के कारण कुछ समय से कण्ठ-काव्य के रूप में प्रवाहित था। अतः अष्टछाप के कवियों को चाहे उसके शिल्प में निखार लाना पड़ा हो परन्तु उसका कलेवर उनके लिए चिर-परिचित था।

मराठी में वस्तुस्थिति इसके ठीक विपरीत रही है। संत ज्ञानेश्वर के प्रादुर्भाव के पूर्व महाराष्ट्र में संस्कृत के प्रति लोगों का आदर कम होने लगा था और उसका स्थान प्राकृत ने ले लिया था। संत ज्ञानेश्वर के पहले महानुभाव पंथ के प्रणेता स्वामी चक्रधर ने धर्म प्रसार के लिए मराठी का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया था, परन्तु उनके वचन लिपिबद्ध न होने के कारण सर्व-साधारण की पहुँच के बाहर थे। संत ज्ञानेश्वर ने इस वस्तुस्थिति को समझा और 'ज्ञानेश्वरी' की रचना के लिए लोक-भाषा मराठी को चुना। यह प्रयास सर्वथा नवीन होने के कारण संत ज्ञानेश्वर को ही भाषा का स्वरूप निर्धारित करने तथा उसे नियमबद्ध करने का दुहरा कार्य करना पड़ा। यह कार्य ज्ञानेश्वर ने अत्यन्त सुचारु रूप से किया। भाषा-प्रयोग की दिशा में यह प्रथम प्रयास होते हुए भी संत ज्ञानेश्वर ने जिस काव्य-चातुर्य का परिचय दिया है वह अत्यन्त सराहनीय है। ज्ञानेश्वर के भावानुकूल शब्द चयन के विषय में श्री म० र० फाटक लिखते हैं—"भावानुकूल शब्द-चयन काव्य-कला का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। ज्ञानेश्वरी में इस अंग के स्थान-स्थान पर दर्शन होते हैं। ऐसा दिखाई देता है कि प्रसंगानुकूल कर्णकटुताहीन शब्दों के चयन का ज्ञानेश्वर ने विशेष ध्यान रखा है। ज्ञानेश्वर ने अपने प्रतिपादन के लिए एक ही अर्थ के अनेक शब्दों का बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रयोग किया है।[2] वे आगे कहते हैं—"गीता में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्दों की ज्ञानेश्वर ने व्याख्या की है।"[3] 'अहिंसा' शब्द की व्याख्या करते हुए ज्ञानेश्वर लिखते हैं—

आणि जगाचिया सुखोद्देशें। शरीरवाचामानसें।
राहाटणें तें अहिंसे। रूप जाण॥[4]

---

१ ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प, डॉ० सावित्री सिन्हा, पृ० १७।
२ श्री ज्ञानेश्वर, वाङ्मय आणि कार्य, म० र० फाटक पृ १७७-७८।
३ वही, पृ० १८१।
४ ज्ञानेश्वरी, अ० १३, ओवी, ११४।

(और संसार के सुख उद्देश्य के लिए मनसा वाचा कर्मणा जपते रहना ही अहिंसा है।)

संत ज्ञानेश्वर की दूसरी विशेषता यह है कि वे गहन-से-गहन विषय को अत्यन्त सरल शब्दों में सुबोध बनाकर पाठक के सम्मुख रखते हैं। ज्ञानेश्वर के काव्य में प्रसाद और माधुर्य गुणों का मणि-कांचन योग हुआ है। उन्होंने सुशील शब्द अर्थ के योग्य पद-शैली नाद-माधुर्य आदि की ओर विशेष ध्यान दिया है तथा पारमार्थिक सत्य की प्रतीति कराने के लिए अनेक दृष्टान्त भी दिए हैं। किसी महत्त्वपूर्ण बात को समझाने के लिए कहीं-कहीं उन्होंने कम से सात-आठ दृष्टान्त भी दिए हैं। ज्ञानेश्वर के काव्य-सौष्ठव की चर्चा करते हुए प्रो॰ पटवर्धन कहते हैं—

Unparalled in Marathi literature, Jnaneshvari is so exquisite, so beautiful so highly poetic in its metaphors and comparisons similies and anological illustrations, so perspicuous and lucid in style, so lofty in its flights, so sublime in tone, so melodious in word music so original in its concepts, so pure in taste that, notwithstanding the profundity the recondite nature of the subject, and the inevitable limitations attendant upon the circumstance that the author's main object was to make the original intelligible rather than add anything new the reader is simply fascinated, floats rapturously on the crest of the flow and is lost in the cadence of rhythm and the sweet insinuating harmonies till all its thanks-giving and thought is not.[1]

संत ज्ञानेश्वर-जैसा चमत्कार संत एकनाथ के काव्य में नहीं दिखाई देता, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी काव्य-सम्पदा अमूल्य नहीं है। एकनाथ ने कवित्व की अपेक्षा सुगम शब्दों में भागवत का मर्म समझाने की ओर विशेष ध्यान दिया है। बुद्धि का चमत्कार एकनाथी भागवत में नहीं दिखाई देता परन्तु वेदान्त-जैसा गहन विषय सरल शब्दों में समझाना एकनाथ का ही काम है और यह उन्होंने अत्यन्त सफलता से किया है। संत तुलसी दास की तरह उनका काव्य भी विविध है। पंडित वेदान्ती भावुक मुमुक्षु, अज्ञानी रसिक आदि अपनी-अपनी रुचि का काव्य एकनाथी वाङ्मय में सुलभता से पा सकते हैं। काव्य-विषयक अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए एकनाथ कहते हैं—

अफाट न करावा ग्रन्थ : शब्दीं बोलावा मुख्यार्थ
पदीं असावा परमार्थ : हा निजस्वार्थ कवित्वाचा।[2]

(ग्रन्थ बहुत बड़ा न हो। उसमें मुख्यार्थ का ही प्रतिपादन हो। पदों में परमार्थ समाविष्ट हो। इसीमें कवित्व चरितार्थ होता है।)

संत एकनाथ की ही भाँति सन्त तुकाराम और सन्त नामदेव की भाषा-शैली भी सुबोध एवं सरल है। गूढार्थ की अभिव्यंजना के लिए कई स्थानों पर उन्होंने सुन्दर रूपकों का भी प्रयोग किया है। अपनी भाषा को सम-सुगम बनाने के लिए इन कवियों ने ऐसे अरबी और फ़ारसी शब्दों का भी प्रयोग किया है जो उस समय जनता में रूढ़ हो गए थे। एकनाथ के 'भारूड' नामक छंद प्रकार में ऐसे कई शब्द आ गए हैं। मराठी भाषा में संस्कृत शब्दों की बहुलता होने के कारण मराठी कृष्ण-काव्य में संस्कृत की तत्सम और तद्भव दोनों शब्दावलियों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है जो भाषा की विशेषता को देखते हुए स्वाभाविक ही है।

१ मिस्टिसिज्म ऑफ महाराष्ट्र प्रो॰ आर॰ डी॰ रानडे, पृ॰ १० से उद्धृत।
२ मराठीचा भागवतधर्म, डॉ॰ श्रीधर कुलकर्णी, पृ॰ १६४।

अपने विषय के प्रतिपादन के लिए सरल शब्दों का प्रयोग संत ज्ञानेश्वर की विशेषता रही है। परन्तु अनेक स्थानों पर उन्होंने संस्कृत के कठिन शब्दों का तथा संस्कृत-मराठी के सामासिक शब्दों का भी प्रयोग किया है। एक उदाहरण देखिए—

ऐसें कलुषकरिकेसरी। जितरप तिमिरतमारी।
धीवरवरी नरहरी। बोलिले तेथें॥[1]

संत ज्ञानेश्वर की सुबोध व्याख्या-पद्धति का दर्शन निम्नोक्त ओवी से हो सकता है—

एथ वडिल जें जें करिती। तया नाम धर्म ठेविती।
तेंचि येर अनुष्ठिती। सामान्य सकळ॥[2]

(यहाँ जो कुछ भी बड़े आदमी करते हैं उसे धर्म समझकर सामान्य जनता उसका पालन करती है।)

यह प्रसंग गीता के तृतीय अध्याय के इक्कीसवें श्लोक का अनुवाद है, जो इस प्रकार है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

'रुक्मिणी-स्वयंवर' के रचयिता नरेन्द्र कवि ने संगीत और वास्तुकला से सम्बन्धित अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है जैसे स्वर, श्रुति ताल, प्रबंध, ओडव ग्राम, जाति मूर्च्छना, राग रागांग उपांग देशांग भाषांग ध्रुपद ध्रुपदांग, अर्गल छाजाम खांब, गवाक्ष चन्द्रा कवाड माड भीतभंग चारोपा चारसंका चारवंठ, चंवरा आदि। इसके अतिरिक्त लहरों के प्रतिपक्ष-सम्बन्धी निर्झरों तथा वृक्ष एवं वनस्पति के नाम-सम्बन्धी अनेक शब्दों का प्रयोग नरेन्द्र ने किया है। अष्टछाप के कवियों की ही भाँति नरेन्द्र कवि ने भी तत्सम तद्भव और अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है। इनमें से कुछ शब्द हैं—

पण ईश्वर, सिद्धि विद्या, मनोरथ, कवि दीपक, साहित्य, सारस्वत, रस, उत्तम हियें, वेग बिठी मिसी माया मिलावा, पाउल, भाला बीज, चाँद आदि।

नरेन्द्र के काव्य में कन्नड़ और तेलुगु के जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं वे इस प्रकार हैं—

कन्नड़—परी कुसरी, बोलाय मिरमिरी माणु, किडाल, मीड ओलगे, गुडी चवी पिसी, पाकल पोट, पहुड, ओवरी करे बाप दाटी, ओळखली मासुर्डे पोळी, बोनें, सरी, केवार, हुडा, परिये, तथा

तेलुगु—उब, उबारा आदि।

दामोदर पंडित ने नरेन्द्र की अपेक्षा तद्भव शब्दों का प्रयोग अधिक किया है जैसे निरभिमान निर्वाळन, पाखांड कालिपु, अमासु, ईश्वर त्रिभ त्रिभित भिटक दिव्ही हिर्मु लिला, चिर चिर, विना संगर भीतान मीष्टि, वळण, वसण सपण, नयण पधिमि दसन देस पसु आदि।

उपर्युक्त कवियों की ही भाँति संत एकनाथ संत तुकाराम तथा संत नामदेव ने भी

---

१ ज्ञानेश्वरी अध्य ३।२१।
२, वही, अभंग, १२८।

तत्सम तद्भव और अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है। स्थानाभाव के कारण यहाँ इन शब्दों की विस्तृत सूची देना आवश्यक नहीं है।

व्रजभाषा के विकास तथा रूप निर्माण में अष्टछाप के कवियों का विशेष हाथ रहा है। उन्होंने तत्सम तद्भव और देशज तीनों प्रकार के शब्दों का अपने काव्य में प्रयोग किया है। 'तत्सम शब्दों का प्रयोग इन कवियों ने अधिकतर व्याख्यात्मक तथा कल्पना-प्रधान अप्रस्तुत योजनाओं के चमत्कारवादी स्थलों पर किया है। लीला-प्रधान अनुभूत्यात्मक और विवरणात्मक स्थलों में प्रधानता तद्भव शब्दों की है और विदेशी शब्दों का पुट प्रायः सर्वत्र ही विद्यमान है परन्तु उन पर व्रज भाषा का रंग इस प्रकार चढ़ाया गया है कि उनका विदेशीपन प्रायः बिलकुल छिप गया है।[1] तत्सम शब्दों के प्रयोग का उदाहरण है—

रूप गन्ध रस शब्द (स्पर्श) ये पंच विषय वर।
महाभूत पुनि पंच पावन पानी अम्बर धर॥
दस इन्द्रिय मन अहंकार महू तत्व त्रिगुन मन।
यह सब माया कर विकास कहें परम हंस मन॥
जागृति स्वप्न सुषुप्ति धाम पर-ब्रह्म प्रकासे।
इन्द्रिय गन मन प्रान इन्होंहि परमातम भासे॥[2]

कल्पना-प्रधान स्थल में तत्सम शब्द का प्रयोग निम्नलिखित पद में देखा जा सकता है—

वैभव मूरति मैं बल बिहारी।
कंजन कमल कुरंग कोटि सत वारहि छिनु टारे वृ वारी।
विद्रुम अरु बन्धूक बिम्ब सत, कोटि त्याग करि जिय मैं बिचारी।
वारयो दामिनी कुन्द कोटि सत दूरि किये रवि पम हारी।
तिल प्रसून सत कोटि, मधुप सत कोटि, हीन भरे मन मारी।
धनुष कोटि सत मदन कोटि सत कोटि काम न्यौछावर उतारी॥[3]

अष्टछाप के कवियों ने तद्भव शब्दों का अत्यधिक प्रयोग किया है। ऐसा उन्होंने अनुभूत्यात्मक प्रतिपादन के लिए ही किया है। विभिन्न कवियों द्वारा प्रयुक्त कुछ तद्भव शब्द हैं—

लकुटावलि साँकरी चन्द परसनी भरोसा फागुनी अचरज भाग पावन पीठि हिय बीजु पाहुन पावस कोख अकारथ पहुने पाती बास सँवार तिहारे मरतो आरति न्यौछावर, पहेली कसौटी ठगौरी तुक करनी हम सौंस बँधियारी सोहना मोहना सगुन परस टेर मार थाक अँधरा कामह टेक गहि पूत रावत आरति निहारन सभा सुमन्त, बँसुरी उमगि सिंघासन काम सुहाग।

विदेशी प्रयुक्त शब्द हैं—

मेहमान मुसाहिब कुलफ अमारी खवासी सरकार, ताज बेसरम दाम

---

१ व्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प डॉ॰ सावित्री सिन्हा, पृ॰ ६० ।
२ श्रीकृष्ण सिद्धान्त पंचाध्यायी, पृ॰ १८, नन्ददास ग्रन्थावली ब्रजरत्नदास।
३ चतुर्भुजदास वि॰ वि॰ कांकरौली, पृ॰ १०३।

अमानत, गुलाम कसब असीली, मुजरा अवास इत्यादि।

सूरदास की भाषा के विषय में डॉ० प्रेमनारायण टंडन कहते हैं—'अरबी-फ़ारसी और तुर्की के अनेक शब्द उत्तर भारत में सामान्य बोल-चाल की भाषा में प्रचलित हो गए थे। यही कारण है कि इन विदेशी भाषाओं का विधिवत् अध्ययन न करने वाले ब्रजभाषा और अवधी के तत्कालीन कवियों ने भी इनका स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग किया और इस प्रकार अपनी-अपनी भाषा को व्यावहारिक रूप देने में समर्थ हो सके।'[1]

सूर की शब्द-योजना भाषा में संगीत और लय का समावेश करने तथा उसे भावानुकूल बनाने के लिए ही हुई है। वह सहज ही पद में निहित अर्थ को साकार रूप प्रदान करने में सहायक होती है। नृत्य की मुद्राओं और घुँघरू की छमछम का एक उदाहरण देखिए—

नृत्यत स्याम स्यामा हेत।
मुकुट लटकनि भृकुटि-मटकनि, नारि मन सुख देत।
कबहु चलत सुधंग गति सौं, कबहुँ उघटत बैन।
लोल कुण्डल गंड मण्डल, चपल नैननि सैन।
स्याम की छबि देखि नागरि, रही इकटक जोहि।[2]
सूर प्रभु उर लाइ लीन्हीं, प्रेम-गुन कर पोहि।

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास ने वर्ण-योजना का प्रयोग साधन रूप में ही किया है। परमानन्ददासजी ने काव्य के बाह्य विधान की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है फिर भी उनकी वर्ण-योजना प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल ही होती है। इस दृष्टि से परमानन्ददासजी की तुलना संत एकनाथ से की जा सकती है। कृष्णदास में काव्य चेतना पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगत होती है। वर्णों के माधुर्य का उन्होंने विशेष ध्यान रखा है, जैसा कि निम्नोक्त पंक्तियों से दृष्टिगत होगा—

पौढ़ि रही सुख सेज सजीली दिनकर किरन झरोखनि आई।
उठि बैठे लाल, बिलोक बदनविधु निरखत मैया रही लुभाई।
अधर धुले पलक सजल सुख चितवत मृदु मुसकात हँसि लेत जँभाई।
कृष्णदास प्रभु गिरधर नागर लटकि-लटकि हँसि कण्ठ लगाई।[3]

नन्ददास की वर्ण-योजना अत्यन्त संगीतमय है। घुँघरुओं की झंकार, मुरली की मींड और मृदंग आदि वाद्यों के स्वरों का वातावरण कवि के निम्नोक्त पद में बहुत ही सुन्दरता से प्रकट हुआ है—

नूपुर कंकन किंकिनि करतल मंजुल मुरली।
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली॥
मृदुल मुरज टंकार तार झंकार मिली धुनि।
मधुर जन्त्र को तार भँवर गुंजार रली पुनि॥

१ सूर की भाषा : डॉ० प्रेमनारायण टंडन, पृ० २९२।
२ सूरसागर, ना० प्र० स०, दशम स्कन्ध पद ११४८।
३ अष्टछाप परिचय : सं० प्रभुदयाल मित्तल, पृ० २२८।

तैसिय मृदु पद पटकनि चटकनि करतारन की।
लटकन मटकनि झलकनि कल कुण्डल हारन की॥[१]

अष्टछाप के कवियों ने प्रचलित लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है, जैसे एक पन्थ है काज वान को गाँव पयार से आने मैतल के नहिं मैन मैन के नहिं मैन जहाँ ब्याह तहँ गीत आई आगे पेट पुरावति स्वान पूँछ कोउ कोटिक लासो सूधी कोउ न करे, आँधी की आँधी जग जाको सूर स्वभाव तजे नहिं कारो कीने कोटि उपाय आदि।

मीरांबाई की रचना में वैराग्य और नम्रता के दर्शन नहीं होते। उसकी भावाभिव्यक्ति नितान्त सीधी है। उसमें व्यंग्य या उपालम्भ के लिए स्थान नहीं है। परन्तु मीरां द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द उसकी आत्मानुभूति को सही-सही व्यक्त करता है। अपने अन्तर्मन के दैन्य और विवशता को व्यक्त करने के हेतु अपनी भाषा को शक्तिशाली बनाने के लिए मीरां ने भी मुहावरों का प्रयोग किया है जिनमें से कुछ ये हैं—

ठाढ़ी पंथ निहारूँ माटी में मिल जासी बात बनावत चित चढ़ी मतलब के गरजी तारा गिण गिण रैन बिहानी नाचन लागी तो घूँघट कैसो, मुख मोरयो बतियाँ कहत बनाय कहँ सीस चढ़ाय घट के पट खोल दिए है आदि।

ये मुहावरे खीझ और कुण्ठा से उत्पन्न नारी-हृदय के सहज उद्‌गारों को अभिव्यक्त करने में अत्यन्त सफल सिद्ध हुए हैं।

मीरां की शब्द-सृष्टि में राजस्थानी ब्रजभाषा तथा गुजराती के शब्दों का समावेश हुआ है, क्योंकि इन्हीं तीन प्रदेशों में उनका जीवन बीता था। मीरां की भाषा जन-साधारण की भाषा है। उसमें आचार्यत्व के गुण नहीं हैं। परन्तु हृदय की पीर जितनी उनके पदों में मुखरित हुई है उतनी हिन्दी के अन्य किसी भी कृष्ण भक्त कवि की वाणी में नहीं हुई।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं के कवियों ने मुख्य रूप से अपनी-अपनी बोल-चाल की भाषाओं को ही अपने काव्य का माध्यम बनाया। संस्कृत शब्दों के प्रयोग के द्वारा उन्होंने इन भाषाओं को समृद्ध और परिष्कृत किया तथा विदेशी शब्दों का प्रयोग करने में भी उन्होंने संकोच नहीं किया।

हिन्दी और मराठी के कृष्ण भक्त कवियों ने अभिधा शक्ति का प्रयोग अधिकतर वर्णनात्मक स्थलों पर ही किया है। परन्तु मराठी कृष्ण-काव्य अधिकतया व्याख्यात्मक होने के कारण मराठी कृष्ण-भक्त कवियों ने शब्द की लक्षणा शक्ति का प्रयोग व्याख्यात्मक पदों में प्रचुरता से किया है। गीता के द्वितीय अध्याय में—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरो पराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

श्लोक की व्याख्या करते हुए संत ज्ञानेश्वर कहते हैं—

जैसें जीर्णवस्त्र सांडिजे। मग नूतन वेढिजे।
तैसे देहांतरातें स्वीकारिजे। चैतन्यनाथे॥[२]

१ नन्ददास ग्रन्थावली, रासपंचाध्यायी, ब्रजरत्नदास, पृ० ११-१२।
२ ज्ञानेश्वरी, ओवी १४४।

(जिस प्रकार जीर्ण वस्त्र छोड़कर नया वस्त्र धारण करते हैं, उसी प्रकार मरण के समय चैतन्यभाव को स्वीकार कर लेना चाहिए।)

इस ओवी में कवि ने पूरे श्लोक की अभिव्यंजना लाक्षणिक अर्थ में की है। परन्तु अष्टछाप के कवियों ने व्याख्यात्मक पदों की रचना नहीं की। उन्होंने तो केवल कृष्ण के रूप-वर्णन वात्सल्य-वर्णन संयोग-शृंगार इत्यादि वर्णनात्मक और भाव प्रसंगों का ही वर्णन किया है। इन वर्णनों में अभिधा-शक्ति का ही प्रयोग हुआ है जिसके कारण कहीं-कहीं ये वर्णन नीरस हो उठे हैं। सूरदास के निम्नोक्त पद में इसी नीरसता का दर्शन होता है—

भोजन भयो भावते मोहन, तातोई जेंइ जाहु गौ दोहन।
खीर खाँड़ खीचरी सँवारी, मधुर महेरी गोपनि प्यारी।
राइ भोग लियो भात पसाई, मूँग ढरहरी हींग लगाई।
सद माखन तुलसी दै तायो, घिरत सुवास कचौरा नायो।
पापर बरी अचार परम सुचि। अदरख अरु निबुअनि ह्वै है रुचि।[1]

मीरां की दर्द भरी अनुभूतियों में भी अभिधा का सौन्दर्य ही निखरा है।

लाक्षणिक प्रयोगों का चमत्कार सबसे अधिक मुहावरों के रूप में ही हुआ है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि हिन्दी के कवियों की अभिव्यंजना में लक्ष्यार्थ है ही नहीं। लक्षणा के सूक्ष्म रूप हिन्दी कृष्ण-काव्य में भी यत्र-तत्र मिलते हैं परन्तु उनकी भाषा की चित्रात्मकता उनकी प्रतीक-योजना से ही सम्पन्न हुई है।[2]

हिन्दी और मराठी के कृष्ण-कवियों ने व्यंजना-शक्ति का उपयोग वस्तु-अभिव्यंजना में ही किया है। बाल-लीला का माखन-चोरी प्रसंग, राधा-कृष्ण के प्रेम से सम्बन्धित प्रसंग, मुरली-प्रसंग मान-लीला खण्डिता प्रसंग तथा भ्रमरगीत आदि प्रसंगों को अष्टछाप के कवियों ने व्यंजना-शक्ति के द्वारा ही मार्मिक बनाया है। सूरदास के पद—

"सुनहु महरि अपने सुत के गुन कहा कहौं किहि भाँति बनाई।"[3]

में गोपी-हृदय में आन्दोलित आनन्द की ही ध्वनि निकलती है।

निरखति अंक स्यामसुन्दर के बार-बार लावति छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलिकै ह्वै गई स्याम-स्याम की पाती।

अंक और स्याम शब्दों के व्यंग्यार्थ से ही इस पद में निहित भावनाओं का मूल्यांकन किया जा सकता है। स्याम का पत्र स्वयं कृष्ण-रूप बन जाता है तथा उसे हृदय से लगाकर राधा कृष्ण को हृदय से लगाने का सुख अनुभव करती है।

ईश्वर को ईश्वरत्व प्रदान करने वाले भगवान् के पापी भक्त ही होते हैं इस वस्तु स्थिति का उद्घाटन करते हुए सन्त तुकाराम कहते हैं—

कैसें तुम्ह म्हणों रूप जाति नांव। पतित हे देव तुम्हे आम्हीं।
नाहीं तरी तुम्ह कोण हो पुसतें। निराकारी तैंचे एकाएकी॥[4]

---

१ सूर सागर, ना० प्र० स०, दशम स्कन्ध, पद १९११।
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ८००।
३ सूर सागर, ना० प्र० स० दशम स्कन्ध, पद ९११।
४ तुकाराम वचनामृत, प्रो० रा० द० रानडे, पृ० ४४।

(तुम्हारे रूप और नाम को बनाने वाला तुम्हारा पापी भाग्य हम भक्त ही हैं, नहीं तो तुम्हें पूछने वाला कौन था ! तुम तो निराकार और एकाकी ही थे ।)

इसी प्रकार रुक्मिणी के मुख से श्रीकृष्ण की निन्दा करवाकर नरेन्द्र कवि रुक्मिणी की आत्म-विमुग्धता को निम्नोक्त पद में ध्वनित करता है—

तया जाति ना कुळ गणगोत्रजी: नेणों मायबापु वाढविला गौळी
वाढविले ठसा बढ़विला गोवळीं मनुष्यत्व—पणावा ।

(कृष्ण की न तो कोई जाति है न कुल । उनके माता पिता का भी कुछ पता नहीं है । ग्वालिनों ने उनका पालन-पोषण किया है । इन ग्वालिनों ने व्यर्थ में ही मनुष्यपन कृष्ण पर लादा है । ध्वनि यह है कि कृष्ण में मनुष्यता का कोई भी चिह्न नहीं है वे मनुष्यता-विहीन हैं ।)

यह कथन अष्टछाप के कवियों द्वारा विरचित भ्रमरगीत में गोपियों के उपालम्भों से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है ।

हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों ने वर्णनात्मक तथा कथोपकथन शैलियों का ही प्रयोग किया है । वर्णनात्मक शैली के अन्तर्गत श्रीकृष्ण की लीलाओं का समावेश होता है और कथोपकथन शैली के अन्तर्गत मुख्यत: भ्रमर-गीत का । परन्तु मराठी के कृष्ण भक्त कवियों ने मुख्यत: वर्णनात्मक शैली के साथ-साथ व्याख्यात्मक शैली का भी प्रयोग किया है । ज्ञानेश्वरी समग्र रूप से एक व्याख्यात्मक काव्य है ।

अलंकार-योजना

साहित्य-शास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने साहित्य विद्या को अलंकार-शास्त्र के नाम से अभिहित किया है । राजशेखर ने अलंकार-शास्त्र को वेदांग कहा है तथा उसकी उत्पत्ति भगवान् शंकर से मानी है परन्तु शास्त्रीय ढंग से अलंकार-शास्त्र की चर्चा संस्कृत साहित्य में भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक चलती रही । इस दीर्घकाल में कई काव्य-सम्प्रदाय चले परन्तु इनमें से सभी ने काव्य के लिए अलंकारों का महत्त्व स्वीकार किया है । संस्कृत की यह परम्परा हिन्दी और मराठी, दोनों भाषाओं ने अपनाई है । हिन्दी में कृष्ण भक्त कवियों के पूर्व निर्गुण सम्प्रदाय के सन्त-कवि अपनी वाणियों में अन्योक्ति रूपक, उपमा आदि अलंकारों का प्रयोग कर चुके थे । इसी प्रकार प्रेम-मार्गी कवियों ने भी अलंकारों से अपनी कविता-कामिनी को अलंकृत किया है । विद्यापति की रचनाओं में तो अलंकारों को स्पष्ट रूप से महत्त्व मिला है। उनके काव्य में साम्यमूलक अलंकारों तथा शब्दालंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है । मराठी कृष्ण-भक्त कवियों की ही भाँति अष्टछाप के कवियों ने भी शोभा के लिए अपनी कविता-कामिनी को अलंकृत नहीं किया । अलंकार तो उनकी कल्पना-सृष्टि के अन्तर्गत अनायास ही आ गए हैं । हिन्दी के कृष्ण-काव्य में अनुप्रास, अन्त्यानुप्रास छेकानुप्रास वृत्त्यानुप्रास उपमा उत्प्रेक्षा, रूपक रूपकातिशयोक्ति, स्वभावोक्ति, विरोधाभास विभावना, पुनरुक्तिप्रकाश वीप्सा यमक अप्रस्तुत प्रशंसा व्याजस्तुति आदि अलंकारों का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है । कवि नन्ददास के विषय में तो प्रसिद्ध ही है कि—

'और सब गढ़िया, नन्ददास जड़िया ।'

अष्टछाप के कवियों की अप्रस्तुत योजना को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) सादृश्यमूलक (२) विरोधमूलक (३) अतिशयमूलक।

इन कवियों के काव्य में सादृश्यमूलक योजनाओं का ही अधिक प्रयोग हुआ है। इसे चार भागों में बाँटा जा सकता है—

रूप-साम्य, धर्म-साम्य, प्रभाव-साम्य और कल्पना-साम्य। इनका एक-एक उदाहरण देखिए—

रूप-साम्य प्रथमहिं सुभग स्याम बेनी की सोभा कहौं बिचारि।
मनो रह्यो पन्नग पीवन को ससि मुख सुधा निहारि।[1]

धर्म-साम्य मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै,
जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिर जहाज पर आवै।[2]

प्रभाव-साम्य पिया बिनु नागिन कारी रात,
कबहुँ क जामिनि उवत जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात।[3]

कल्पना-साम्य उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पट पीत उढ़ाये।
नील जलद पर उडुगन निरखत, तजि सुभाव जनु तड़ित छपायें।[4]

विरोधमूलक अप्रस्तुत योजनाओं का प्रयोग 'भ्रमरगीत' में अनेक स्थानों पर हुआ है। एक उदाहरण लीजिए—

कहँ अबला कहँ दसा दिगम्बर सम्मुख करो पहिचानी
कहँ रस रीति कहाँ तन सोधन सुनि-सुनि लाज मरौ
चंदन छाँड़ि बिभूति बनावत यह दुख कौन जरौ।[5]

अतिशय-मूलक योजनाओं का प्रयोग भाव के उद्दीपन के लिए ही हुआ है। कृष्ण के रूप-वर्णन गोपियों की विरह-वेदना आदि में कवियों की भावनाएँ अतिशयोक्ति से रंजित हो उठी हैं। एक उदाहरण लीजिये—

दिन दिनि सीत समीरहिं रोकत अंचल ओट दिये।
मृगमद मलय परसि तन तलफत जनु विष विषम पिये।[6]

सूरदास का काव्य भावों का उमड़ता हुआ सागर है। इसीलिए कवि की भावाभिव्यक्ति ने भाषा की सीमाओं की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है। यही कारण है कि सूर-साहित्य में चमत्कारपूर्ण वक्र-कथन भरपूर मात्रा में मिलते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत है—

'सूर में जितनी सहृदयता है उतनी ही वाग्विदग्धता। सूर का वाग्वैदग्ध्य सहृदयता से समन्वित है और इसीलिए उनके पदों में अलंकारों का कृत्रिम प्रयोग नहीं दिखाई पड़ता। अलंकारों का प्रयोग कवि ने सौन्दर्य-बोध के लिए ही किया है और वह अत्यन्त स्वाभाविक जान पड़ता है। सूर की रचनाओं में मुख्यतः उपमा रूपक उत्प्रेक्षा रूपकातिशयोक्ति,

१ सूरसागर, ना० प्र० स० दशम स्कन्ध पद १८२७।
२ वही, पद १६८।
३ भ्रमरगीत सार, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १११।
४ सूरसागर, ना० प्र० स० पद १०४८।
५ वही, ना० प्र० स०, दशम स्कन्ध, पद ३५५१।
६ वही, पद ४११८।

प्रतिवस्तूपमा के ही दर्शन होते हैं। कवि का हेतु रूप-सौन्दर्य-चित्रण द्वारा भाव-सौन्दर्य का पोषण करना था। अतः उनके काव्य में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का ही प्रयोग अधिक हुआ है। शब्दालंकारों का उपयोग सूरदास ने केवल 'साहित्यलहरी' में किया है। शब्दालंकारों में उन्होंने यमक, अनुप्रास श्लेष, वीप्सा और वक्रोक्ति का ही विशेष रूप से प्रयोग किया है। श्लेष और यमक कवि के दृष्टिकूट पदों में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। 'अनुप्रास का प्रयोग तो सूर-काव्य में अत्यन्त ही स्वाभाविक है क्योंकि अनुप्रास द्वारा जहाँ एक ओर ध्वन्यात्मक सौन्दर्य का विधान होता है वहाँ दूसरी ओर उससे वातावरण की सृष्टि भी होती है। वीप्सा अलंकार कवि के हृदय की भक्ति-भावना का ही परिचायक कहा जा सकता है, क्योंकि उसका प्रयोग उन्होंने राधा और कृष्ण के अंग प्रत्यंग के सौन्दर्य-रस-पान से तृप्त न होकर बार-बार स्वरूप-वर्णन में किया है। वक्रोक्ति का प्रयोग व्यंग्योक्तियों में है। व्यंग्य को शृंगार रस का सर्वस्व कहा जा सकता है और शृंगार के संयोग और वियोग—दोनों ही पक्षों में प्रेमी और प्रेमिकाओं द्वारा इसका आधार ग्रहण किया जाता है। सूर के काव्य में व्यंग्य को भी महत्त्वपूर्ण स्थान मिलता है। उनके वात्सल्य में भी हमें व्यंग्य के दर्शन होते हैं। विरहिणी गोपियों की उक्तियाँ तो उनके भावों के साथ व्यंग्य को भी लेकर निकलती हैं इसलिए उनमें वक्रोक्ति के सुन्दर उदाहरण भरे पड़े हैं।'[1] सूरदास ने सांगरूपक का प्रयोग सबसे अधिक किया है। निम्नलिखित पद में सूरदास पतितों के राजा चित्रित हुए हैं—

हरि हौं सब पतितन को राजा
निन्दा परमुखपूरिरह्यौ जग यह निसान नित बाजा।
तृष्णा देस अरु सुभट मनोरथ, इन्द्री खड्ग हमारी।
मंत्री काम कुमति दीबे कौं क्रोध रहत प्रतिहारी।
गज अहंकार चढ्यौ दिगविजयी, लोभ छत्र करि सीस।
फौज असत-संगति की मेरैं ऐसौ हौं मैं ईस।
मोह-मय बन्दी गुन गावत मागध दोष अपार।
सूर पाप को गढ़ दृढ़ कीन्हौ, मुहकम लाइ किवार।[2]

इसी प्रकार सांसारिक विषयों का नाच-नाचकर कवि अन्त में भगवान् से कहता है—

अब हौं नाच्यौ बहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलना कंठ विषय की माल।
महामोह के नूपुर बाजत निन्दा-शब्द रसाल।[3]

अप्रस्तुत प्रशंसा का बहुत ही सुन्दर प्रयोग निम्नलिखित पद में हुआ है जहाँ गाय के माध्यम से माया का सुन्दर वर्णन हुआ है—

माधौ जू यह मेरी इक गाय।
अब आज तें आप आगे दई, लै जाइ मैं चराइ।

१ सूर और उनका साहित्य, डॉ. हरवंशलाल शर्मा, पृ० ४११-४० से उद्धृत।
२ सूर सागर (सभा), पद १४४।
३ वही, पद १५३।

यह मति तुम्हारी हठवंत हूँ बहुत भमारग जाति ।
फिरति बेद-बन-ऊख उखारति, सब दिन अरु सब राति ।
हित करि मिले लेहु गोकुल पति, अपने गोधन माँहु ।
सुख सोऊं सुनि बचन तुम्हारे, देहु कृपा करि बाँहु ।
निगरक रहौ सूर के स्वामी जनि मन जानो फेरि ।
मन-ममता रुचि सौं रखवारी, पहिले लेहु निबेरि ।[1]

कृष्ण की मुख-छवि-वर्णन के प्रसंग में उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण देखिए—

मुख-छवि कहा कहौं बनाइ ।
निरखि निसिपति बदन-सोभा गयो गगन दुराइ ।
अमृत अलि मनु पिवन आए, आइ रहे लुभाइ ।
निकसि सर तैं मीन मानो, लरत कीर छुराइ ।[2]

इसी प्रकार प्रतीप सन्देह, अतिशयोक्ति सम्भावना व्यतिरेक अपह्नुति आदि के उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं—

प्रतीप

मुख-छवि देखि हो नन्द घरनि ।
सरद निसि को अंसु अगनित इन्दु आभा हरनि ।
ललित श्री गोपाल-लोचन-लोल-आँसू-ढरनि ।
मनहुँ वारिज बिलखि बिभ्रम, परे पर-बस परनि ।
कनक-मनि-मय-जटित-कुण्डल-जोति जगमग करनि ।
मित्र-मोचन मनहुँ आए, तरल गति द्वै तरनि ।
कुटिल कुन्तल, मधुप मिलि मनु, कियौ चाहत लरनि ।
वदन कान्ति बिलोकि सोभा सकै सूर न बरनि ।

अतिशयोक्ति

जब मोहन कर गही मथानी ।
परसत कर दधि, माट नेति, चित उदधि सैल, वासुकि भय मानी ।
कबहुँक तीनि पैग भुव मापत, कबहुँक देहरि उलँघि न जानी ।

रूपकातिशयोक्ति

खंजन, मीन, भृंग, वारिज, मृग पर हम अति रुचि पाई ।

व्यतिरेक

उपमा नैन न एक रही ।
कवि जन कहत-कहत सब आए, सुधिकरि नाहिं कही ।
कहि चकोर बिधु-मुख बिनु जीवत, भ्रमर नहीं उड़ि जात ।

---

१ सूर सागर (सभा), पद २१ ।
२. वही, पद १७० ।

हरि-मुख-कमल-कोष बिछुरे तें, ठाले क्यों ठहरात।
ऊधौ बधिक व्याध ह्वै आए, मृग सम क्यों न पलात।[1]

अपह्नुति

बालक न होइ कोउ बिरहिनी नारि।
अजहूँ पिय पिय रटनि पुरति करि भूलैहि मौपत बारि।[2]

नन्ददास के अलंकार प्रयोग में कई मिश्रित शैलियों के दर्शन होते हैं। रास-पंचाध्यायी में उन्होंने अधिकतर साम्यमूलक अप्रस्तुत योजनाओं का ही प्रयोग किया है। रूप-साम्य और गुण-साम्य का एक उदाहरण देखिए—

कृपा रंग रस-ऐन मैन रतनन रतनारे।
कृष्ण रसासव पान अलस कुछ घूम घुमारे।[3]

साम्य-मूलक अप्रस्तुत-योजना में लाक्षणिक उपमानों का प्रयोग करके उन्होंने सौन्दर्य और अनुभूति का मणि-कांचन-योग प्रस्तुत किया है। इसका एक उदाहरण है—

कोमल किरन अरुनिमा बन में ब्यापि रही यस।
मनसिज खेल्यौ फाग घुमड़ि घुरि रह्यौ गुलाल अस॥

नन्ददास की अप्रस्तुत योजनाओं में लाक्षणिकता का एक दूसरा उदाहरण है—

मन्द-मन्द चलि चारु चन्द्रिका अस छबि पाई।
झलकति है पिय रमा-रमन कौं मनु तकि आई॥[4]

अतिशयोक्ति के चमत्कार और अनुभूति का एक उदाहरण देखिए—

वा सुन्दरि की दसा देखि कहत न बनि आवै।
बिरह भरी पुतरी जु होई तो कुछ छबि पावै॥[5]

अंत्यानुप्रास छेकानुप्रास और वृत्यानुप्रास का एक उदाहरण देखिए—

ए बादल! कुसमन्दल सब कहु बरस सिराबहु
नन्द-नन्दन जगवन्दन चन्दन, हमहिं मिलाबहु।[6]

पुनरुक्ति प्रकाश और यमक के कुछ उदाहरण हैं—

छोटो सो कन्हैया, मुख मुरली मधुर छोटी
छोटे-छोटे ग्वाल-बाल, छोटी पाग सिरन की।
छोटे-छोटे कुण्डल कान मुनिन हू के छूटे ध्यान
छोटे पर छोटी लट छूटी अलकन की।

---

१ सूरसागर, पद ४११।
२ वही (वें० प्रे०) पृ० ४११।
३ रास-पंचाध्यायी, पृ० १ दो० ५।
४ वही, पृ० ७ दो० ४५।
५ वही पृ० ४४ दो० ४४।
६ नन्ददास ग्रन्थावली, रास-पंचाध्यायी, ब्रजरत्नदास पृ० ११।

छोटी-सी लकुटि हाथ छोटे-छोटे बछरा साथ।
छोटे से कान्हैं देखन गोपी आई घरन की।[1]
× × ×
रही न तलक अमेत तुम बिन नन्दकुमार पिय
निपट विकल मह बैठ बाल-प्राय अनुबन माहै।[2]

चतुर्भुजदास के अलंकारों का प्रयोग भी परम्परागत है। जैसे—

उपमा कहौ न जाइ कुंवर मुख मोहन।
बालक कुंद गम्भीर प्रकटे पूरनचन्द।[3]

पुरुष की रस-लोलुप और स्त्री की एकनिष्ठ भावनाएँ भी परम्परागत उपमानों के माध्यम से ही व्यक्त की गई हैं—

तुम वृन्दावन मालती तुम भोगी भौंर सुजान हो।[4]

एक रूपक में कवि कहता है—

रजनी राज लियो निकुंज नगर की रानी।
मदन महीपति जीति महीं रघु सम-बल सहित संभारी।
परम सूर सौन्दर्य सुबुद्धि पशु अभिसारे मैन बास सयानी।
दास चतुर्भुज प्रभु गिरिधर रस-सम्पति बिलसी मौं मनमानी।[5]

छीतस्वामी और परमानन्ददास के काव्य में अलंकारों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। यदि कहीं अलंकारों का प्रयोग हुआ भी है तो वह अधिकतर विचारों या सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए ही हुआ है। जैसे—

श्री विठ्ठल आगें और पन्थ जैसे जलकूप।[6]

इसी उपमान का दूसरा प्रयोग श्रीकृष्ण के रूप-चित्रण में हुआ है।

नैननि निरखौ हरि के रूप।
निकसि सकत नहिं मायनि-निधि तें मानौं पर्‌यौ कोउ कूप।[7]

छीतस्वामी के अनुप्रास का एक उदाहरण देखिए—

आयो रितुराज साज पंचमी बसन्त आज
बौरे द्रुम अति अनूप अम्ब रहे फूली।
बेलो लपटी तमाल सेत पीत कुसुम लाल
उड़वत रँग स्याम भाम भँवर रहे भूली।[8]

सूरदास की ही भाँति मीराँबाई का काव्य भी भावमय है। उनके पदों में विरहिणी की तीव्र

---

१ अष्टछाप पदावली, [illegible], पृ० ११८।
२ वही, पृ० ११९।
३ चतुर्भुजदास, पृ० ४३।
४ वही पृ० १२८।
५ वही, पृ० १२८।
६ छीतस्वामी और उनके पद, पृ० १०।
७ वही, पृ० ४९।
८ वही, सि० वि० कांकरोली, पृ० २०।

वेदना है। अत उनके पदों में अलंकारों का समावेश स्वाभाविक ही है। उनके काव्य में रूपक के ही अधिक उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

ज्ञान की गोल बँधो अति भारी

उपमा उत्प्रेक्षा, अत्युक्ति, विभावना विभावोक्ति, अर्थान्तरन्यास, श्लेष, वीप्सा, अनुप्रास के निम्नलिखित उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं—

उपमा

जल बिन कँवल चन्द बिन रजनी, ये बिन जीवन जाय।

उत्प्रेक्षा

कुण्डल की झलक-झलक, कपोलन पर छाई।
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई॥

अत्युक्ति

पिसतां पिसतां घँस गया, रेखा आंगलियां की सारी।

विभावना

बिनि करताल पखावज बाजे, अणहद की झणकार रे।

विभावोक्ति

बसो मोरे नैनन में नन्दलाल।

अर्थान्तरन्यास

हेरी म्हां दरद दिवाणी, म्हारां दरद न जाण्यां कोय,
घायल री गत घाइल जाणैं और न जाणैं कोय।
जौहर की गत जौहरी जाणें, क्या जाण्या जिन कोय।

श्लेष

जोह जिरमिर आँ मिला साँवरो।
जोस मिली तन गाती।

वीप्सा

झंपि-झंपि व्याकुल भई
पुलि पिय-पिय बानी हो।

अनुप्रास

समरथ सरण तुम्हारी साइयाँ
सरब सुधारण काज।

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मीरां के काव्य में अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है पर उन्हें काव्य के सौन्दर्य-वृद्धि के लिए यत्नपूर्वक नहीं ठूँसा गया है, अपितु भावना की गहराई और अनुभूति की तीव्रता के कारण ही काव्य में उनका समावेश अत्यन्त स्वाभाविक रूप से हो गया है।

पहले कहा गया है कि अलंकार काव्य का एक आवश्यक अंग है और काव्य-सर्जना में उसका प्रयोग अभिव्यक्ति की पूर्ति के लिए आप-से-आप हो जाता है। केशव की भाँति यदि कवि कविता-कामिनी को असाद् अलंकारों से लाद दे तो दूसरी बात है पर ऐसी दशा में

में ये काव्य के सौन्दर्य के साधक न रहकर बाधक बन जाते हैं और काव्य का स्वाभाविक सौन्दर्य कृत्रिम चमचमाहट से ढँक जाता है।

हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों की ही भाँति मराठी कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में भी अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है परन्तु मराठी के भक्त-कवियों का अलंकारों के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण रहा है। उन्होंने अपने काव्य में अलंकारों को केवल प्रयुक्त ही नहीं किया वरन् उनके गुणों पर भी उन्होंने प्रसंगवश विचार किया है। ज्ञानेश्वरी के उपसंहार में ज्ञानेश्वर कहते हैं—

शब्दु कैसा घडिजे । प्रमेय कैसे पां जडिजे
अलंकार म्हणिजे । काइ तें मैसें ।[1]

(शब्द का कैसे प्रयोग करना चाहिये, प्रतिपाद्य विषय का किस प्रकार निरूपण करना चाहिए तथा अलंकार किसे कहना चाहिए, यह सब मैं नहीं जानता।)

तथा

जैसे आंगिचेनि सौन्दर्यपणें, लेणेयासि आंगचि होय लेणें
तेथ अलंकारलें कवण कवणें, हे निवडेना ॥[2]

(सुन्दर शरीर पर अलंकार पहनाने से शरीर में जो सुन्दरता आती है उससे अलंकारों का शरीर ही अलंकार बन जाता है।)

उपर्युक्त दोनों ओवियों से काव्य-सृजन के लिए काव्य-गुणों की आवश्यकता अनिवार्य होती है। इसी प्रकार एक दूसरी ओवी में जाकर कवि कहते हैं—

पुराणींचे वलकाडे । रसालंकारे ताचडे
पूरलेनि माचो न निवडे । कवा विवासि ॥[3]

(रस और अलंकार के विषय में कलाकार गरीब और भोले होने के कारण समूह के मर्म को ग्राह्य नहीं समझते।)

तुकाराम कहते हैं—

शब्दाचीया रत्नेंकरूनी अलंकार, तेणें विश्वम्भर पूजियेला ॥[4]
येथे अलंकार शोभती सकळ । भावबळें फळ इच्छेचें ॥[5]

(शब्द के रत्नों से अलंकार बनाकर उनसे विश्वम्भर की पूजा की। यहाँ सभी अलंकार शोभायमान हैं और यह सब भावों की प्रबलता के ही कारण है।)

संत ज्ञानेश्वर द्वारा प्रयुक्त अनुप्रास का एक उदाहरण देखिए—

ऐसें निजधनानंदें । तिये अवतारिलेनें ।
बोलिलें मुकुंदे । संजयो म्हणे ॥[6]

---

१ ज्ञानेश्वरी, १८-१७४४।
२ वही, १०-१४३।
३ अमृतानुभव ११।
४ तुकाराम गाथा अभंग ४००४।
५ वही अभंग १०७३।
६ ज्ञानेश्वरी, १५।११२।

उनका काव्य उपमा, दृष्टान्त रूपक उत्प्रेक्षा निदर्शना, अनन्वय अपह्नुति एकावली इत्यादि अलंकारों से परिपूर्ण है। उपमा और दृष्टान्त अलंकारों का तो बहुत ही प्रयोग हुआ है। उपमा का एक उदाहरण देखिए—

की पार्थाचा मेरु जैसा एकवट मिरवतसे तैसा।[1]

(अर्जुन का रथ पंखधारी मेरु पर्वत के समान है।)

निम्नोक्त ओवियों में दृष्टान्त अलंकार का प्रयोग हुआ है—

तो तू परब्रह्मचि असतें। मज दैवें विसतासि हस्तोदकें।
तरी आतां भेटु कासया वें। देखावा कवणें।
जी भानुबिंबाचा आभारी। रिगालियामरीहि उबारा।
परि राजेपणें आळूंमरा। शोभा हे तुम्ही।[2]

(ऐसे तुम परब्रह्म को भाग्य ने मेरे हाथ पर उदक छोड़कर मुझे दान दे दिया है। तो अब भेद है ही कहाँ? उसे कौन और कहाँ देखे? यदि यह कहा जाए कि सूर्यमा की किरण के अन्तर्भाग में प्रवेश कर लेने पर भी गर्मी लग रही है तो ऐसा कहना शोभा नहीं देगा। परन्तु हे श्रीकृष्ण, आप अपने बड़प्पन में असम्बद्ध बातें कर रहे हैं।)

अनन्वय का उदाहरण है—

जैसी अमृताची चवी निवडिजे।
तरी अमृताचि सारिखी म्हणिजे॥[3]

(अमृत के स्वाद का वर्णन किया जाए तो उसे अमृत के समान ही कहना होगा उसी प्रकार ज्ञान को ज्ञान की ही उपमा देनी होगी।)

मराठी संत-कवियों के पदों में आये हुए अलंकार-वाचक शब्दों का सूक्ष्म विवेचन करते हुए डॉ० माधव गोपाल देशमुख कहते हैं—

"उपमा श्लेष तथा वर्णक—इन संज्ञाओं के उल्लेखों से विदित होता है कि ज्ञानेश्वर और महानुभाव कवियों के समय में सादृश्यमूलक अलंकारों के विषय में संस्कृत साहित्य शास्त्र को देखते हुए एक स्वतन्त्र तथा पृथक दृष्टिकोण था। संस्कृत में भिन्न वस्तुओं के साधर्म्य को ही उपमा कहा गया है। यह साधर्म्य यदि समानता अथवा तुलना से दिखाया गया हो तो उसे स्वतन्त्र अलंकार नाम नहीं दिया गया है परन्तु महानुभाव कवियों के विचार में वही उपमा अथवा सादृश्य है।[4] वे आगे कहते हैं—'प्राचीन मराठी कवियों को श्लेष शब्द की अनेकार्थता का अर्थ अभिप्रेत नहीं था। उन्होंने उपमा, श्लेष तथा वर्णक को परम्परागत साहित्य-शास्त्र से भिन्न अलंकार माना है। उपमान और उपमेय का तुल्य भाव हो तो 'उपमा' होती है। तुल्य भाव दिखाकर उपमान को दूषण देने से श्लेष होता है और श्रेष्ठ उपमान देकर उपमेय की प्रशंसा करने से वर्णक अलंकार होता है।[5]

---

१ ज्ञानेश्वरी, १।१११।
२. वही, १०।११९–२१।
३ वही, ४।१८२।
४ मराठीचे साहित्य शास्त्र, डॉ० माधव गोपाल देशमुख, पृ० १७५।
५ वही, पृ० १८३।

इतना अवश्य है कि मराठी के कवियों की अलंकारों के विषय में अपनी निजी धारणाएँ होते हुए भी उनके काव्य में परम्परागत वर्णित अलंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। ज्ञानेश्वर, एकनाथ नामदेव और तुकाराम ने उपमा, रूपक दृष्टान्त आदि का बहुलता से प्रयोग किया है। महानुभाव कवि नरेन्द्र का 'रुक्मिणी-स्वयंवर' अलंकार वैभव का भाण्डार ही है। उन्होंने उपमा, दृष्टान्त उत्प्रेक्षा अपह्नुति तथा रूपक का विशेष रूप से प्रयोग किया है तथापि उत्प्रेक्षा और अपह्नुति की ओर उनकी सबसे अधिक रुचि रही है। कुछ उदाहरण देखिए—

उपमा

कांस्मिराचिये करंडिये जैसे मीरिस मूर्ति प्रकाशे ।
पातळा सुपटेयांतुनि तैसे आवयव दिसत ती ॥

(पारदर्शक स्फटिक पात्र में रखी हुई प्रतिमा के समान बारीक वस्त्र में से उनके अवयव सुन्दर दिखाई दे रहे थे।)

उत्प्रेक्षा

तवं उचित-चन्द्रिका म्हणे सूर्या अस्ताचळीं होत उपेणें
जैसे तेजाचें सांडवले बोपणें : मढीं पश्चिमेचा
कीं कुंकुम-वर्णी सरागु सांपडत शृंगार-विहंगु
कीं त्रिनेत्रें तापसा अनंगु रिपत पश्चिम-समुद्रीं
कीं देखिला प्रकाशाचा पुंज चालतां पेणे होत परता
कीं श्रीकृष्णें अर्पिला पश्चिमिली अर्घ्य : कमळ-कांतिचेनि
कीं संध्या-सरोवरीं सारसिया मिळत : कनक माला सोनेयाचा सारसु
तैसा सूर्या होताय भवेषु अस्ताचेळीं ।[1]

(अस्ताचल के सूर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है—तब चन्द्रिका उचित ही कहती है—'अस्ताचल पर सूर्य का आगमन ऐसा लग रहा है मानो भूमि के मठ में प्रकाश की राशि संगृहीत हो उठी हो या अस्तमान सूर्य पर अनुरक्त शृंगार विहग झपट पड़े हों या भगवान् त्रिनेत्र की क्रोधाग्नि से त्रस्त मदन पश्चिमी सागर में छिप रहा हो या प्रकाश का पुंज पाताल जाने की बात सोचकर आरक्त हो रहा हो या श्रीकृष्ण ने पश्चिमी तट पर कमल-कान्ति का अर्घ्य दिया हो, या संध्या-सरोवर में सारसी को खोजने के लिए सोने का सारस आ गया हो।)"

अपह्नुति

कीं चन्द्र नव्हे तें स्वेत द्वीप : मावारि सांवळें तें श्रीकृष्णाचें रूप
धरि टाकौनि पाहों आले स्वरूप : कीं चकोरांचें
कीं भूपीसकाचा प्रसादीं जैसा माळिया अमृताचा भारिला
तैसे श्रीकृष्णाचा विरहा ठसा : कलंकु नव्हे तो ।[2]

(चन्द्रोदय का वर्णन करते हुए कवि कहता है—या यह चन्द्रमा न होकर श्वेत द्वीप हो।

---

१ नरेन्द्र कवि कृत रुक्मिणी स्वयंवर, सं० डॉ० वि० भा० कोलते, पृ० ५६ ।
२ वही, पृ० ४२ ।

चन्द्रमा का कलंक श्रीकृष्ण का ही साँवला रूप हो जो श्री चक्रधर (महानुभाव पन्थ के प्रवर्तक स्वामी चक्रधर, जो श्रीकृष्ण के ही अवतार माने जाते हैं) का स्वरूप देखने के लिए ऊपर आया हो या चन्द्रमा भू-मोहन के प्रासाद में लगे हुए अमृत का आईना हो। चन्द्रमा में श्रीकृष्ण का रूप ही बिम्बित हुआ है। यह कलंक नहीं है।)

नरेन्द्र की ही भाँति भास्कर कवि का काव्य भी शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों से भरा पड़ा है। मुख्य अलंकार हैं उपमा उत्प्रेक्षा दृष्टान्त तथा यमक।

नामदेव की वक्रोक्ति का एक सुन्दर प्रयोग निम्नोक्त पंक्तियों में देखा जा सकता है—

पतीतपावन नाम ऐकुनी आलों मी द्वारां।
पतीतपावन न होसि म्हणुनीं जातों माघारा॥
घेसी तेव्हां देसी ऐसा अससी उदार,
काय देवा रोधूं तुमचें कृपणाचें दार।[१]

(आप पतितपावन हैं यह सुनकर ही मैं आपके द्वार आया था परन्तु आप पतितपावन नहीं हैं इसलिए अब वापस जाता हूँ। आप इतने उदार हैं कि पहले लेते हैं तब कहीं देते हैं इसलिए हे भगवान्, आप-जैसे कृपण का द्वार मैं क्योंकर रोके रहूँ।)

संत तुकाराम के काव्य में अनायास ही अनुप्रास दृष्टान्त उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का समावेश हो गया है। कुछ उदाहरण देखिए—

अनुप्रास

पिकलेनिया पाहे पुष्पांचा परिमळ।[२]

दृष्टान्त

निलाजिरवाणी जैसा नावडे आरसा
मूर्खालागीं तैसा शास्त्रबोध।[३]

(जिस प्रकार नकटे व्यक्ति को आईना नहीं भाता, उसी प्रकार मूर्ख व्यक्ति को शास्त्रबोध नहीं सुहाता।)

उत्प्रेक्षा

हरिनामवेली पावली विस्तार
फळीं पुष्पीं भार बोल्हावली
तेथें मज या मना होईं पक्षिराज
साधावया काज तृप्तीचें या।[४]

(हरिनाम रूपी कलिका जहाँ पनपी और फूली हो वहीं हे मेरे मन तुम पक्षीराज बनकर तृप्ति का कार्य साधने के लिए निवास करो।)

वामनदर पंडित श्रीधर मोरोपन्त वामन आदि परवर्ती कवियों का काव्य तो अलंकारों की निधि ही माना जाता है। इन कवियों की अलंकार-योजना से उनकी कविता

१ मराठीचा परिमळ, दा० न० शिखरे, पृ० ६७।
२ तुकाराम, रा० श० हर्षे, पृ० १४५।
३ वही, पृ० १४१।
४ वही।

कामिनी अधिक शोभायमान ही हुई है, बोझिल नहीं। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा कि हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों की ही भाँति मराठी के कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में अलंकार-योजना परम्परागत होती हुई भी उसका विधान भावाभिव्यंजना के लिए ही हुआ है।

मनोरंजक एवं कल्पनामय वाक्य-रचना को काव्य कहा जाता है। ऐसी रचना गद्य में हो सकती है और पद्य में भी। पद्य रचना में पाद या चरण हुआ करते हैं। ये पाद या चरण गद्य रचना में नहीं होते। यही गद्य और पद्य में अन्तर है। छंद तथा संगीतात्मकता इसके अतिरिक्त पद्य में लयबद्धता होती है। पद्य की रचना जिन निश्चित नियमों से होती है उन्हें छन्द कहते हैं। लय के विषय में लीलाधर गुप्त लिखते हैं—

'लय की उत्पत्ति भावावेग से है और भावावेग को उत्तेजित करने की उसमें विशेष क्षमता है। लय हमें हँसा सकती है लय हमें रुला सकती है, लय हमें आकृष्ट कर सकती है लय हमें उत्कृष्ट कर सकती है लय हमें सुला सकती है लय हमें जगा सकती है, लय हमें शान्त कर सकती है लय हमें उन्मत्त कर सकती है लय हमें संसार में अनुरक्त कर सकती है। लय हमें उदासीन कर सकती है, लय हमें हमारा सच्चा रूप दिखा सकती है, लय हमें प्रभु-प्राप्ति की ओर उन्मत्त कर सकती है, लय हमारे शरीर में हरकत कर देती है हम ताल देने लगते हैं, हम नाचने लगते हैं। लय हमारे हृदय हमारे फेफड़े, हमारी नाड़ियों को प्रभावित कर देती है। लय के प्रभाव के हेतु लय का विवेक सम प्रयोग होना चाहिए। भाव की जहाँ जैसी गति हो वहाँ वैसी ही लय होनी चाहिए।'[1]

आगे चलकर गुप्तजी पद्य की लय पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—

'पद्य की लय में एकरूपता और नियमितता होती है। उसमें लय और पद का ढाँचा भी होता है, ऐसा व्यवस्थित ढाँचेदार पद ही छन्द होता है। छन्द का काव्यात्मक मूल्य और भी अधिक है। छन्द प्रवेक्षण (Anticipation) की प्रवृत्ति को उत्तेजित करके शब्दों का एक-दूसरे से सम्बन्ध घनिष्ठ कर देता है। छन्द विस्मय द्वारा चेतना को धीमा करके मोह निद्रा-सी ले आता है और सुविकारिता सूक्ष्मता और संवेदनशीलता की वृद्धि करता है। छन्द अपनी गति और ध्वनि से अर्थ प्रकाशन करता है। यदि भावावेग अति तीव्र हो तो छन्द उसकी तीव्रता कम कर देता है और यदि भावावेग मन्द हो, तो छन्द उसको उत्कृष्ट कर देता है। छन्द कविता का वातावरण उपस्थित कर देता है काव्यात्मक अनुभव को छन्द साधारण जीवन के दोषों से पृथक कर देता है। छन्द काव्यात्मक अनुभव की अभिव्यक्ति को स्थिर और परिभाषित कर देता है। छन्द कल्पना को प्रस्फुटित करके कवि को ऐसी दृश्यमान और बोधगम्य प्रतिमाएँ प्रदान करता है, जिनसे उसके अनुभव की अभिव्यक्ति स्पष्ट और प्रेरक हो जाती है।'[2]

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य की कलात्मकता में छन्दों का एक विशिष्ट महत्त्व है और इस महत्त्व को बहुत प्राचीन काल से स्वीकार किया गया है।

---

१ पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त, लीलाधर गुप्त, पृ० २२६-२७।
२ वही, पृ० ११८।

गायत्री त्रिष्टुप अनुष्टुप जगती आदि वैदिक छन्द और मन्दाक्रान्ता द्रुतविलम्बित, शार्दूल विक्रीडित शिखरिणी आदि लौकिक संस्कृत के छन्दों का इसी क्रम के आधार पर विकास हुआ है।

छन्द-शास्त्र की इस परम्परा का पालन काव्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में मराठी और हिन्दी के कृष्ण-भक्ति-काव्य में स्वाभाविक रूप से ही हुआ है। हिन्दी भक्त-कवियों की रचनाएँ गेय-पद शैली में होने के कारण उनके अधिकांश पद कीर्तनोपयोगी संगीत पर आधारित हैं और इसलिए छन्द-शास्त्र की कठिन कसौटी पर उन्हें नहीं कसा जा सकता। हम पहले कह चुके हैं कि अष्टछाप के अधिकांश काव्य की रचना कीर्तन के लिए ही हुई है अतः पिंगल-शास्त्रीय छन्दों की अपेक्षा संगीत-शास्त्रीय राग रागिनियाँ ही उनके काव्य में दिखाई देती हैं। ठीक यही बात मीरा के पदों के बारे में भी कही जा सकती है। उसके सभी पद इकतारे पर गाये हुए पद हैं। इसलिए उसके पदों में भावों की अभिव्यक्ति और संगीत की झंकार का अनूठा समन्वय हुआ है। फिर भी मीरा के काव्य में कम-से-कम पन्द्रह छन्द मिलते हैं जिनमें से मुख्य हैं—सरसी सार, विष्णुपद दोहा उपमान समान सवैया, शोभन ताटंक कुण्डल, चन्द्रायण।

डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने अपने ग्रन्थ 'सूरदास' में सूर के छन्दोविधान पर विशेष रूप से विचार किया है और छन्दों की दृष्टि से 'सूरसागर' के वर्णनात्मक एवं गेय सभी अंशों का विश्लेषण करते हुए दिखाया है कि सूर की रचनाओं में निम्नलिखित छन्द हैं—[1]

वर्णनात्मक प्रसंगों के छन्द—

१ चौपई चौपाई दोहा रोला तथा उनसे मिश्रित नवीन छन्द।

२ चन्द्र (१० ७) भानु (६, १५) कुंडल (१२, १०) सुखदा (१२ १०) राधिका (१३ ६) उपमान (१३ १०) हीर (६, ६ ११) तोमर (१२ १२) शोभन (१४ १०) रूपमाला (१४ १०) गीतिका (१४ १२) विष्णुपद (१६ १०) सरसी (१६ ११) हरिपद (१६ ११) सार (१६ १२) लावनी (१६ १४) वीर (१६ १५) समान-सवैया (१६ १६) मत्त-सवैया (१६, १६) हंगाल (२० १७) और हरिप्रिया (१२, १२, १०)

अन्य अष्टछाप कवियों की रचनाओं में निम्नलिखित छन्द प्रयुक्त हुए हैं—सार, चौपाई दोहा रोला आदि। रोला छन्द का प्रयोग नन्ददास ने 'रुक्मिणी-मंगल' 'रास पंचाध्यायी' और 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' में किया है। नन्ददास के 'भँवरगीत' में रोला-दोहा का मिश्रित छन्द प्रयुक्त हुआ है।

मराठी कृष्ण-काव्य में छन्द-विधान पर विचार करते समय विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य बात यह है कि मराठी भक्त-कवियों का उद्देश्य अपनी रचना द्वारा लोक-जागृति करना ही था।[2] अतः कीर्तनोपयोगी काव्य की रचना करते समय उन्होंने इस दृष्टिकोण को बराबर अपने सामने बनाए रखा। लोक-जागरण का यह उद्देश्य तभी पूरा हो सकता था जब वे लोकप्रचलित भाषा और छन्दों का प्रयोग करके अपने काव्य को सरल सुबोध एवं लोकप्रिय

---

१ सूरदास डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० ५७४ तथा ५७६।

२ श्री ज्ञानेश्वर, [illegible]

बनाते । अतः जिन छन्दों का मराठी कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों ने प्रयोग किया वे सब-के-सब लोक-प्रचलित छन्द थे । वे छन्द इस प्रकार हैं—

ओवी—ओवी का अर्थ होता है—गुम्फित या ग्रथित । प्रत्येक ओवी में तीन चरण होते हैं । शब्द-योजना अनुप्रासयुक्त होती है और तीनों चरणों के अन्त में यमक होता है । चौथे चरण की स्थिति गाने की टेक के समान होती है । यह तीन पाद की पदावली एक भाव-विशेष को गुम्फित करने के कारण ही 'ग्रन्थ' कहलाती है । कहा जाता है कि ओवी का जन्म कहावतों और पहेलियों से हुआ है । ग्यारहवीं शताब्दी में रचित 'अभिलषितार्थ चिन्तामणि' में ओवी का उल्लेख है । ओवी जन-मनोहर छन्द है यहाँ तक कि महाराष्ट्र की ग्रामवासिनी स्त्रियाँ अपने दैनिक व्यवहार के विविध प्रसंगों पर ओवियाँ गाती हैं ।

'ज्ञानेश्वरी' की रचना ओवी छन्द में ही हुई है । ज्ञानेश्वर के अतिरिक्त नरेन्द्र कवि भास्कर कवि संत एकनाथ दामोदर पंडित आदि सभी ने ओवी छन्द में अपने काव्य की रचना की है । नरेन्द्र कवि का 'रुक्मिणी स्वयंवर', 'एकनाथी भागवत' भास्कर कवि की 'उद्धव गीता' तथा 'शिशुपाल वध' दामोदर पंडित का 'वत्सहरण' तथा मुक्तेश्वर का 'भारत' सभी ओवी-बद्ध ग्रन्थ हैं ।

अभंग—अभंग छन्द मराठी लोक-छन्द है । इसकी लम्बाई की कोई सीमा नहीं होती, इसीलिए इसे अभंग (अटूट) कहते हैं । एक अभंग में दो से लेकर दो सौ श्लोक भी आ सकते हैं । अभंग के एक पंक्ति-समूह में चार चरण होते हैं और चार चरणों का एक श्लोक होता है । इन चरणों में यम मात्रा और अक्षर का एक भी नियम लागू नहीं होता । ज्ञानेश्वर, एकनाथ तुकाराम आदि ने ओवी के साथ-साथ अभंगों में भी पर्याप्त रचना की है । 'एकनाथी गाथा'[1] में एकनाथ के सारे अभंग संग्रहीत हैं । इन अभंगों में एकनाथ ने भागवत धर्म का निरूपण और स्वानुभव का वर्णन किया है । स्फुट अभंगों की अपेक्षा आख्यानपरक अभंगों में एकनाथ की वाणी अधिक रमणीय सिद्ध हुई है । पर तुकाराम के स्फुट अभंग ही अधिक सुन्दर और प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं ।

भारूड—जनता में बहुत रूढ़ होने के कारण ही इस गीत-शैली का नाम भारूड पड़ा । इसमें धार्मिक पाखंडों के प्रति व्यंग्य किया जाता है । समाज की रूढ़ि पर व्यंग्य करना भारूड का मुख्य ध्येय है । व्यंग्य में बोध होता है पर कटुता नहीं होती और इसलिए हँसी-हँसी में ही उपदेश दिया जा सकता है । भारूड की इस विशेषता के कारण ही यह गीत-शैली जनता में अत्यन्त लोकप्रिय हुई । पाखण्ड की खिल्ली उड़ाकर लोक में जागृति उत्पन्न करने के लिए यह शैली अत्यन्त उपयुक्त होने के कारण प्रायः सभी प्राचीन सन्तों ने इसका उपयोग किया है पर, एकनाथ के भारूड अनूठे तीक्ष्ण और मर्मस्पर्शी हैं ।

गौळण—गौळण का अर्थ मराठी में ग्वालिन होता है । मराठी कृष्ण-भक्त कवियों ने 'गौळण'—अभंगों में गोपियों के कृष्ण-प्रेम को अभिव्यंजित किया है । तुकाराम ने कई गौळणें लिखी हैं । कई भक्त कवियों ने राधारूपिणी वृत्ति को गौळण कहा है क्योंकि वह श्रीकृष्ण की मुरली सुनते ही उसीमें तन्मय हो जाती है ।[2]

---

१ एकनाथी गाथा आवृत्ति ।

२. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, आचार्य विनयमोहन शर्मा, पृ० २१० ।

ध्रुवपद—पन्द्रहवीं शताब्दी में इसका चलन आरम्भ हुआ। भक्त-कवियों ने भक्ति के पद गाने के लिए इसका प्रयोग किया है।

साखी—संत तुकाराम ने साखी छन्द का भी उपयोग किया है। संत तुकाराम की एक साखी का उदाहरण देखिए—

तुकाराम संबोलताव रामु तैसा आपनी हात
वैनु बधरा छोर न्याव प्रेम न छुटे साथ।

आर्या—आर्या छन्द का प्रयोग मोरोपन्त ने बहुलता से किया है। मोरोपन्त की आर्या और वामन पंडित के श्लोक मराठी साहित्य की अमूल्य निधि माने जाते हैं।

पवळे—पवळे अभंग छन्द के समान चार चरणों का अनियमित अक्षर संख्या का छन्द है। मराठी की आद्य कवयित्री महदम्बा स्वामी चक्रधर के प्रमुख शिष्य नागदेवाचार्य की चचेरी बहन थीं। विवाह प्रसंग पर गाने योग्य कृष्ण भक्ति-रस से परिपूर्ण 'धवळे' उसने लिखे हैं।

श्लोक—वामन पंडित ने अपनी रचना श्लोकों में की है। संस्कृत साहित्य की परंपरा का पोषण महाराष्ट्र के पंडित कवियों का ध्येय था। छन्द चयन में भी उन्होंने संस्कृत-छन्द को ही अपनाया। वामन पंडित के श्लोक महाराष्ट्र में अत्यन्त लोकप्रिय हुए हैं। लोकोक्ति भी है—

सुश्लोक वामनाचा प्रसिद्ध वाणी अभंग तुकयाची।
ओवी ज्ञानेशाची किंवा आर्या मयूरपन्ताची।

(अर्थात् वामन पंडित के श्लोक, तुकाराम के अभंग ज्ञानेश्वर की ओवी तथा मोरोपंत की आर्या प्रसिद्ध हैं।)

लावणी—लावनी को मराठी में 'लावणी' कहा जाता है। यह गीत का एक प्रकार है। इसका लावण्य से सम्बन्ध है। इसका मुख्य भाव शृंगार होता है। पेशवाकालीन महाराष्ट्र में विलासप्रियता की अभिवृद्धि के समय जनता लावणियों की ओर प्रवृत्त हुई थी। इस समय कई कवियों ने उत्तान शृंगारपरक कई लावणियों की रचना की थी। लावणियों का विषय मुख्यतः लौकिक हुआ करता है परन्तु—

आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई है,
न तरु राधिका गोविंद सुमिरन को बहानों है

के अनुसार कई लावनीकारों ने अपनी लावणियों का विषय राधा-कृष्ण तथा महादेव-पार्वती को भी बनाया है।

हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों ने प्रभु के गुणगान के लिए ही अपने काव्य की रचना की थी तथा भगवान् के सम्मुख गा-गाकर लोकरंजन का कार्य किया था। काव्य-सृजन का उद्देश्य भी मूर्ति का गुणगान करना होने के कारण इन कवियों के काव्य में गेय तत्त्व को प्रधानता मिली। गीति काव्य का चरम उद्देश्य आत्म-कल्याण और परमानन्द की प्राप्ति होता है। यही उद्देश्य अष्टछाप के काव्य में भी अभिलक्षित होता है।

'कवि अपने आध्यात्मिक विकास के लिए चित्त-वृत्ति के संयम से गीति-काव्य में अपने कल्याणकारी उद्गारों को व्यक्त करता है। उसे संसार से कोई विशेष संपर्क नहीं रखना पड़ता। आत्म-संतोष के लिए भक्ति भाव अथवा दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों से विशुद्ध

होकर वह गीत की सृष्टि करता है। उसे गीत में एक अलौकिक ज्योति की अनुभूति होती रहती है और उसके अंतःकरण में प्रकाश की उज्ज्वल किरणें प्रसारित होने लगती हैं। वह अलौकिक आनन्द में तन्मय हो जाता है। इस प्रकार के गीत पदों के रूप में मिलते हैं।"

इसके अतिरिक्त अष्टछाप के समय में ग्वालियर, व्रज और अकबरी दरबार संगीत के प्रधान केन्द्र थे। वृन्दावन में गोकुल और गोवर्धन के वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रवर्तित कीर्तन में संगीत की साधना होती थी। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु के उपदेश से हरिनाम-संकीर्तन की जो संगीत-लहरी उमड़ी थी, उसका प्रभाव भी वृन्दावन पर पड़ा था। चैतन्य महाप्रभु विद्यापति की रचनाओं का गायन करके आनन्द-विभोर हो जाते थे। विद्यापति ने पन्द्रहवीं शताब्दी में संगीत और काव्य-कला से ओत-प्रोत पदावली की रचना करके हिन्दी गीति काव्य की जिस नवीन शैली का प्रचलन किया था उसका विशेष प्रचार चैतन्य और उनके शिष्यों ने किया था। चैतन्य के वृन्दावन-निवासी शिष्यों द्वारा विद्यापति की रचनाओं का गायन होता था और उसका प्रभाव भी अष्टछाप की शैली पर पड़ा। इस गीतिमय वातावरण और कीर्तन की आवश्यकता के कारण ही अष्टछाप के कवियों की कृतियों में राग रागिनियों का विधान हुआ।

सूर के पदों की गेयता के विषय में डॉ० मुंशीराम शर्मा लिखते हैं—

"इस गायन-शैली में ऐसी कौन-सी रागिनी है जो सूरसागर में न आई हो। कहा जाता है कि सूर के काल ऐसे राग और रागिनियों में हैं, जिनमें से कुछ के तो लक्षण भी अब प्राप्त नहीं हैं। ऐसी राग-रागिनियाँ या तो सूर की अपनी सृष्टि हैं या अब उनका प्रचार नहीं है।"[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं—

"'सूरसागर' में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी। इससे वह संगीत-प्रेमियों के लिए भी बड़ा भारी खजाना है।'"[2]

सूरदास की ही भाँति मीरा के पदों में भी नाना प्रकार की राग-रागिनियों का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः गीतात्मकता ही उसके पदों की विशेषता है। कान्ताभाव की तीव्र अनुभूति के कारण ही उसके पद गीतों में फूट पड़े हैं।

हिन्दी के भक्त-कवियों की भाँति यद्यपि मराठी के भक्त-कवियों ने अपनी रचनाएँ राग रागिनियों की कसौटी पर नहीं कसीं फिर भी उनमें गीति-तत्व बराबर विद्यमान है। इतना ही नहीं इन सभी संतों ने संकीर्तन की महिमा पर विशेष बल दिया है और अपने काव्य का उपयोग कीर्तनों और कथाओं के लिए करके समाज को भगवद् भजन की ओर अग्रसर करने के अपने उद्देश्य को पूरा किया है। अभंग ओवी श्लोक पवाड़े, गौळण आदि सभी भजनोपयोगी छन्द हैं। संत नामदेव एकनाथ तुकाराम आदि के अभंग महाराष्ट्र में आज भी गाये जाते हैं परन्तु हिन्दी के भक्त-कवियों के पदों की भाँति उनके अभंग या ओवियाँ शास्त्रीय राग रागिनियों में नहीं हैं। उनमें गेयात्मकता की अपेक्षा भाव-तत्व का ही अधिक प्राधान्य है। इस दृष्टि से मराठी कृष्ण-काव्य लोक-गीतों की संगीत-पद्धति के अधिक निकट प्रतीत होता है।

---

१ सूर सौरभ, तृतीय संस्करण, पृ० ६८।

२ सूरदास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तृतीय संस्करण, पृ० २००।

अध्याय–६

मराठी और हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति-पद्धति तथा दार्शनिक दृष्टि

भक्ति-पद्धति

भक्ति की उत्पत्ति भज् धातु से हुई है जिसका अर्थ है भजना। नारद भक्ति को परमप्रेम रूपा और अमृतरूपा मानते हैं जिसे पाकर मनुष्य तृप्त हो जाता है।[1] भगवान् को प्राप्त करने के साधनों में कर्म ज्ञान और भक्ति-मार्ग की गणना होती है।

भक्ति का स्वरूप सरलता से साध्य होने के कारण आचार्यों ने भक्ति-मार्ग को प्रमुखता दी है।[2] भक्ति-मार्ग का प्रमुख सम्प्रदाय भागवत-धर्म है तथा ग्रन्थ हैं 'श्रीमद्भगवद्गीता' 'महाभारत का शान्ति-पर्व' 'भागवतपुराण' 'हरिवंशपुराण' तथा दक्षिणी आचार्यों के ग्रन्थ। भक्ति भाव है या रस इस विषय को लेकर विद्वानों के कई मत रहे हैं। कोई उसे रस मानता है तो कोई केवल भाव। रूप गोस्वामी ने 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्ति को रस मानकर उसका शास्त्रीय विवेचन किया है। भक्ति का उद्गम दक्षिण में माना जाता है। प्रसिद्ध है—

भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द
परगट किया कबीर ने सप्त द्वीप नव खण्ड।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि अनिमित्त भाव से अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मों का पालन करके अहिंसा-सहित पूजा-अर्चा आदि अनुष्ठान करने वाला भक्ति और गुणों के श्रवण मात्र से ही मुझमें लीन हो जाता है।[3] गीता में भी इसी मत की पुष्टि हुई है।[4] भक्ति के नौ उपकरण माने गए हैं। इसीलिए भक्ति को नवधा भक्ति भी कहा जाता है। ये उपकरण हैं— श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवा अर्चन वन्दन दास्य सख्य और आत्मनिवेदन। भक्ति के अन्तर्गत भगवान् के प्रति भक्त का प्रेम भाव होना अनिवार्य है। भक्ति के बिना भक्त के जीवन की समस्त गतिविधि व्यर्थ और बन्धन में डालने वाली होती है। भक्ति ही ऐसा व्यापक धर्म

---

१ 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा, अमृतस्वरूपा च' ना. भ. सू. २-३।
२ अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ' ना. भ. सू. ५८।
३ श्रीमद्भागवत अ० २९, स्क० ३ श्लोक १२, १३।
४ गीता, ११ ५४।

है जिसका पालन मनुष्य-मात्र के लिए सम्भव है। हरि से पूर्ण अनुरक्ति होना ही भक्ति है। परन्तु मायामय संसार से अलिप्त हुए बिना मन हरि में अनुरक्त हो ही नहीं सकता। इसी लिए कृष्ण-कवियों ने संसार और अन्य साधन-मार्गों की निन्दा की है और सांसारिक विषयों को बुरा भला कहा है।

भगवद्भक्ति के लिए भक्त का भगवान् की शरण जाना अनिवार्य है। उसकी कृपा से ही भक्त संसार के समस्त व्यापारों से विरत हो जाता है। भक्ति भक्त के सम्पूर्ण भाव-लोक की अधिकारिणी होती है क्योंकि संसार और प्रभु एक साथ दोनों के प्रति अनुराग सम्भव नहीं है। इसीलिए मराठी और हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों ने बारम्बार संसार के प्रति वैराग्य की भावना दृढ़ करने की आवश्यकता पर जोर देकर राग-द्वेष को गर्हित माना है। संसार के विषय में वैराग्य को दृढ़ करने से ही भक्ति पूर्ण होती है तथा उसमें आत्म-समर्पण का भाव आ जाता है। इस प्रकार संसार-सम्बन्धी बौद्धिक ज्ञान आत्मानुभूति में परिणत होकर भक्त हरिभजन को ही अपना एक-मात्र कर्तव्य समझने लगता है। भक्ति के लिए इष्टदेव का सगुण रूप अपेक्षित होता है। इसीलिए भक्त-कवियों का आराध्य निराकार ब्रह्म न होकर सगुण ब्रह्म होता है। तुकाराम कहते हैं—

इच्छिती तयांसी व्हावें जी अरूप।
आम्हांसी स्वरूपस्थिति चाड ॥[1]

(जो तुम्हें निराकार देखना चाहते हैं उनके लिए भले ही निराकार बन जाओ परन्तु हमें तो सुस्वरूप की ही इच्छा है।)

इसी प्रकार सूरदास की गोपी कहती है—

निरगुन कौन देस कौ बासी ?[2]

तथा नन्ददास की गोपी सगुण की स्थापना का तर्क देती हुई कहती है—

जो मुख नाहिन हुतो कहौ किन माखन खायो
पांइन बिन गो संग कहौ को बन-बन धायो ?

मराठी के कृष्ण भक्त कवियों ने भक्ति के अन्तर्गत निवृत्ति-मार्ग और प्रवृत्ति-मार्ग दोनों का समन्वय किया है। सन्त तुकाराम तो सरल मार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

न लगे सायास जावें वनांतरा। सुखें येतो घरा नारायण।

(संन्यास लेकर वन में जाने की आवश्यकता नहीं। स्वयं नारायण ही घर घर आ जाते हैं।)

इसी प्रकार सन्त एकनाथ का कथन है—

अवताराचें सामर्थ्य पूर्ण। प्रपंच परमार्थी सावधान।[3]

(अवतार में पूरा सामर्थ्य होता है वह प्रपंच और परमार्थ दोनों के बारे में सावधानी से काम लेता है।)

सम-दृष्टि को भक्ति का आवश्यक अंग मानते हुए सन्त तुकाराम कहते हैं—

---

१ श्री तुकारामांची गाथा (देवळेकर), अभंग २५६४।
२ सूरसागर-सार, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० १६१।
३ सन्त वाङ्मयाची सामाजिक फलश्रुति, गं० बा० सरदार, पृ० ३९।

शिव मस्तकीं धरिला । भेद भक्तांचा काढिला ॥[1]

(विट्ठल की मूर्ति ने मस्तक पर शिवलिंग धारण करके भक्तों के भेदभाव को दूर कर दिया।)

भक्ति का मुख्य लक्षण है इष्टदेव के साथ भक्त का व्यक्तिगत सम्बन्ध और अनन्य भाव तथा भगवद्-कृपा। हिन्दी और मराठी के कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में इष्टदेव के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध और अनन्य भाव के सर्वत्र दर्शन होते हैं।

भक्ति के लक्षण

व्यक्तिगत सम्बन्ध के भाव के कारण ही सूरदास और तुकाराम अद्वैत ब्रह्म को अपने स्वामी, इष्टदेव, विष्णु, हरि राम कृष्ण आदि नाम और रूप में सीमित करके स्वयं को उनसे भिन्न मानते हैं। वे अन्य किसी भी देवी-देवता को नहीं मानते। अंबरीष प्रह्लाद द्रौपदी गणिका गीध सीता और अजामिल का उद्धार करने वाले प्रभु सूरदास के हरि और तुकाराम के ही विट्ठल हैं। इष्टदेव के प्रति अपनी निकटता को सूचित करने के लिए ही सूरदास ने अपने आराध्य को पिता माता और स्वामी की उपमा दी है। सूरदास कहते हैं—

बासुदेव की बड़ी बड़ाई।
जगत-पिता जगदीस, जगत-गुरु निज-भक्तनि की सहत ढिठाई।[2]

तथा—

स्याम गरीबनि हूँ के गाहक
दीनानाथ हमारे ठाकुर, सांचे प्रीति-निबाहक।[3]

संत तुकाराम उन्हें माता कहकर पुकारते हैं।

तू कृपाळू माउली । आम्हां दीनांची साउली ।
न संवरी त आली । बाळवेषें धावली ॥
माझें केलें समाधान । रूप दाविलें सगुण ।
निवविलें मन । आलिंगन देउनी ॥[4]

(हम दीनों को छाया प्रदान करने वाली तुम कृपालु माँ हो। तुम मारे को बिना छिपाए बाल-वेष धारण करके हमारे समीप आ गई और अपना वात्सल्यपूर्ण सगुण रूप दिखाकर और मुझे आलिंगन में भरकर तुमने मेरा मन शान्त करके मुझे सन्तुष्ट कर दिया।)

भक्ति में व्यक्तिगत सम्बन्ध के लिए अनन्य भाव अनिवार्य है। गीता में इसी अनन्य-भाव का समर्थन हुआ है।[5] पुराणों में एक-एक देवता का चरित्र-चित्रण एवं उसकी महिमा का प्रतिपादन उन-उन देवताओं के प्रति अनन्य-भाव का ही पोषक है।[6] इस अनन्य-भाव के कारण ही कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने इष्टदेव को ही सर्वत्र देखा है। सूरदास विष्णु के

---

१ संत वाङ्मयाची सामाजिक फलश्रुति, ग. बा. सरदार, पृ० १४।
२ सूरसागर, ना. प्र. स., पद १।
३ वही, पद ११।
४ तुकाराम पदसंग्रह, प्रो० पा० द० पटवर्धन, पृ० ७।
५ गीता ९ : २२।
६, श्री ज्ञानेश्वर, वाङ्मय आणि कार्य, म० द० भावक, पृ० १०।

अतिरिक्त अन्य देवों का बहिष्कार करते हैं। इस बहिष्कार में अन्य देवों का अनादर निहित न होकर कवि के अनन्य-भाव की महत्ता और तीव्रता ही ध्वनित होती है। संत तुकाराम कहते हैं—

पंढरीची वारी आहे माझे घरीं। आणिक न करीं तीर्थव्रत।
व्रत एकादशी करीन उपवासी। गाइन अहर्निशीं मुखीं नाम॥
नाम विठोबाचें घेईन मी वाचे। बीज कल्पांतींचें तुका म्हणे।

(पंढरपुर की यात्रा मेरे घर ही में है। और कोई भी तीर्थाटन या व्रत मैं नहीं करता। मैं तो केवल एकादशी का व्रत करूँगा और दिन-रात एक विठोबा का ही नाम जपा करूँगा। तुकाराम कहते हैं कि एक विट्ठल का नाम ही कल्पान्तर का बीज है।)

यही अनन्य भाव मीरा के निम्नोक्त पद में भी व्यक्त हुआ है—

मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरा न कोई।

नामदेव कहते हैं—

तू चांद मी चांदणी। तू नाग मी पद्मिणी।
तू कृष्ण मी रुक्मिणी। स्वयें दोन्ही।
नामा म्हणे पुरुषोत्तमा, स्वयें जडलों तुझ्या प्रेमा।
मी कुडी तू आत्मा। स्वयें दोन्ही।[1]

(तुम चन्द्रमा हो और मैं चांदनी। तुम सूर्य हो और मैं पद्मिनी। तुम कृष्ण हो और मैं रुक्मिणी। नामदेव कहते हैं कि हे पुरुषोत्तम मैं तुम्हारे ही रंग में रंग गया हूँ। इस प्रकार जो कुछ हो तुम्हीं हो क्योंकि मैं शरीर हूँ और तुम आत्मा हो।)

यही दृष्टि संत ज्ञानेश्वर की भी रही है। वे कहते हैं—

पंढरपुरिचा निळा। लावण्य पुतळा। विठो देखियला डोळा।
बाइयेवो। वेधलें वो मन तयाचिये गुणीं।
क्षण न विसंबे विठ्ठल रुक्मिणी। पौर्णिमेचें चांदणें
क्षणक्षणा होय उणें। तैसें माझें जिणें विठ्ठलेवीण।

(पंढरपुर के श्याम विठ्ठल की मूर्ति देखकर उसीके गुण में मेरा मन तन्मय हो रहा है। एक क्षण भी विठ्ठल और रुक्मिणी को मैं दृष्टि से ओझल नहीं कर सकती। जिस प्रकार पूर्णिमा की चाँदनी क्षण-क्षण घटती जाती है उसी प्रकार विठ्ठल के बिना मेरा जीवन भी घटने लगता है।)

भगवान् के साथ भक्त का व्यक्तिगत सम्बन्ध तथा अनन्य भाव होने के कारण ही वह सर्वथा अपने इष्टदेव पर ही निर्भर रहता है। भगवान् की सहायता का उसे अटल विश्वास होता है और वह निरन्तर उसका गुणगान किया करता है। परन्तु जब-जब उसके विश्वास को ठेस पहुँचती है तब-तब वह अपने इष्टदेव को खरी-खोटी सुनाने से भी नहीं चूकता। भक्त की इस मनोदशा का चित्रण हिन्दी और मराठी के कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में अनेक स्थानों पर हुआ है।

पुष्टिमार्ग में भगवान् के अनुग्रह या कृपा को प्रमुख स्थान दिया गया है। भगवान्

---

१ नामदेवाची अभंगगाथा (आपटे), अभंग १८१।

की कृपा से ही भक्त पुष्ट होता है। अतः सूरदास की भक्ति-भावना का भगवद्कृपा एक अनिवार्य अंग बन गया है। भगवान् की कृपा की याचना तथा उसकी सोदाहरण प्रशंसा सूरदास के 'विनय' के पदों तथा कृष्ण के अतिरिक्त अन्य अवतारों की कथाओं में अत्यन्त दीन भाव से व्यक्त हुई है। ब्रह्म के इस विशिष्ट गुण के कारण ही उसे भक्ति का उपास्य भगवान् बनाया गया है।

अब हौं नाच्यौ बहुत गोपाल

में भगवान् की कृपा-शक्ति का ही आवाहन किया है। यही याचना मीरा के निम्नोक्त पद में भी प्रतिध्वनित हुई है—

थे बिण म्हारे कोण खबर ले गोबरधन गिरधारी।
मोर मुगट पीतांबर सोभां, कुंडल री छब न्यारी।
भरी सभा मा द्रुपद सुतां री राख्या लाज मुरारी।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, चरण कंवल बलहारी ॥[1]

भगवद्-कृपा प्राप्त करने के लिए सन्त तुकाराम केवल विठोबा से ही प्रार्थना नहीं करते अपितु अन्य सन्तों से भी याचना करते हैं कि वे उन्हें न भूलें।

कृपाळू सज्जन तुम्ही संतजन। हेंचि कृपादान तुमचें मज ॥
आठवण तुम्हीं द्यावी पांडुरंगा। कांहीं मज सांगा काकुलती ॥
अनाथ अपराधी पतित आगळा। परि पायांविगळा नका करूं ॥
तुका म्हणे तुम्ही निरविल्यावरी। मग मज हरी उपेक्षीना ॥[2]

(हे कृपालु संतो यदि तुम पांडुरंग को मेरी याद दिला दो तो मुझ पर तुम्हारी बड़ी ही कृपा होगी। आर्त होकर ही मेरी दयनीय दशा का आप वर्णन करें। मैं पतित हूँ, अनाथ हूँ अपराधी हूँ फिर भी आप मुझे अपने चरणों से दूर न करें। तुकाराम कहते हैं कि आपके कहने पर हरि मेरी उपेक्षा कदापि नहीं करेंगे।

परन्तु फिर भी जब तुकाराम पर भगवद्कृपा नहीं होती तो वे कड़े शब्दों में अपने इष्टदेव को ललकारने लगते हैं। वे कहते हैं—

तुझा संग पुरे संग पुरे। संगति पुरे विठोबा ॥
आपणासारिखें करिसी दासां। भिकारीसा जन आवे ॥
रूपा नाहीं ठाव नांवा। तैसें आम्हां करिसी देवा ॥
तुका म्हणे तीर्थें आपुलें जेंडोळें। करिसी बावोळें भासें तैसें ॥

(हे विट्ठल बहुत हो गया तुम्हारा साथ। अपने समान ही तुम अपने भक्तों को भी भिखारी बना देते हो। तुम्हारे न रूप है न नाम उसी प्रकार हमें भी बनाना चाहते हो। तुकाराम कहते हैं तुम्हारे पास तो माँगना कुछ है ही नहीं इसीलिए तुम हमारा भी सत्यानाश करना चाहते हो।)

सूरदास के एक ऐसे ही व्यंग का उदाहरण देखिए—

---

१ मीरांबाई की पदावली परशुराम चतुर्वेदी, पृ १४०।
२ तुकाराम वचनामृत म० दा० व पलांडे पृ ४०।